Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"पातञ्जल महाभाष्य के ज्ञापकों (परिभाषाओं) का समीक्षात्मक अध्ययन"

६

'परिभाषेन्दु-शेखर'

में व्याख्यात समस्त परिभाषाओं का

सरल हिन्दी व्याख्यान

स्व. डा. निगम शर्मा स्मृति संग्रह
पूर्व अध्यक्ष संस्कृत विभाग
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

410/6
150406

लेखक– डॉ० राम प्रकाश शर्मा
डी० लिट्, व्याकरणाचार्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"पातञ्जल महाभाष्य के ज्ञापकों का समीक्षात्मक अध्ययन"

अर्चनीय गुरुवर-डॉ० निगम शर्मा के चरणों में सादर समर्पित

"परिभाषेन्दुशेखर"

में व्याख्यात समस्त परिभाषाओं का सरल हिन्दी व्याख्यान

ले० डॉ० रामप्रकाश शर्मा

डी० लिट्०, व्याकरणाचार्य

प्राध्यापक— संस्कृत विभाग

गुरुकुल कांगडी, विश्वविद्यालय

हरिद्वार, जि० सहारनपुर

प्रकाशक— रतिराम शास्त्री

साहित्य भण्डार, सुभाष बाजार, मेरठ

प्रथम संस्करण १००० प्रतियां

मूल्य १०० रु० मात्र

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पूज्यपाद् आचार्य प्रवर का आशीर्वचन

भाष्ये पातञ्जलीये महति जलनिधौ
यत् सुधासारभूतम् ।
सम्यङ्निर्मथ्य लब्धं समधिकविधिना
शुद्धमाधारभाण्डे ॥
दत्वा विन्दज्जनेभ्यो जनयति यशसां
सिद्धिवृद्धिं तदेतत् ।
प्रज्ञानं ज्ञापकानां जगति विजयते
रञ्जानार्थं बुधानाम् ॥१॥

शर्मा रामप्रकाशप्रकटित महिमा
मण्डले पण्डितानां ।
सानिध्यं नो दधानः प्रभवतु भवने
सर्वशिष्यप्रधानः ॥
यज्ज्योतिः सर्वविज्ञैर्गुरुतर गगने
गौरवाणां निपीतम् ।
नेत्राभ्यां नैतृभिस्तत् सपदि समुदितं
जृम्भतां जृम्भताम् वा ॥२॥

—डॉ० नारायणमुनिश्चतुर्वेदः
आचार्य गुरुकुल महाविद्यालय, ज्वालापुर

R 410,SHA-P
150406

आगरा विश्वविद्यालय के कुलपति डॉ० अगम प्रसाद माथुर, स्वकीय करकमलों से ले०डॉ० रामप्रकाश शर्मा को डी०लिट्० की उपाधि प्रदान करते हुए। सहयोगी के रूप में डॉ० विद्या-निवास मिश्र, डीन--आर्ट्स फैकल्टीज (आगरा वि० वि०, आ०) विराजमान हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पूज्यपाद् गुरु वर्य का आशीर्वचन

अतीव हर्ष का विषय है कि, श्री राम प्रकाश शर्मा व्याकरणाचार्य महोदय का डी०-उपाधि हेतु—"पातञ्जल महाभाष्य के ज्ञापकों का समीक्षात्मक अध्ययन–अध्ययन का प्रयोजन" नामक शोध प्रवन्ध दृष्टिपथ में अवतरित हुआ। विविध ज्ञापकों से ज्ञाप्य परिभाषाओं का सम्यग् परिशीलन होने पर ही व्यक्ति प्रौढ़ वैयाकरण के रूप में ख्याति अर्जित कर सकता है। विध्युपकारकत्वेन एकस्वरूपता होने पर भी प्रकारान्तर से परिभाषाओं में विविधता भी हो सकती है। वस्तुतः विविधता या विचित्रता ही सृष्टि का निसर्ग सौन्दर्य है। अत एव महावैयाकरण श्री नागेश भट्ट ने भी अपने 'परिभाषेन्दु–शेखर' ग्रन्थ के आरम्भ में व्याख्येय परिभाषा स्वरूप का उल्लेख करते हुये लिखा है कि, "प्राचीन वैयाकरणतन्त्रे वाचनिकान्यत्र पाणिनीयतन्त्रे ज्ञापकन्यायसिद्धानि भाष्यवार्तिकयो रूपनिवद्धानि यानि परिभाषारूपाणि तानि व्याख्यायन्ते" इस प्रसंग पर भूतिविजया आदि आप्त टीकाओं में विचार किया गया है कि यद्यपि 'ज्ञापकन्यायसिद्धानि' इस द्वन्द्व समास में न्याय शब्द अल्पाच् होने पर पूर्व प्रयोगार्ह है तथापि न्याय लौकिक है और ज्ञापक एतच्छा स्त्रीय लिङ्ग है अतः अभ्यर्हित होने से ज्ञापक ही पूर्व प्रयोगार्ह सिद्ध हुआ। पद-२ पर विद्वान श्री राम प्रकाश जी ने अच्छी विवेचना प्रस्तुत कर इनके द्वारा अति गम्भीर भाष्याब्धि के मंथन का अपना प्रयास व्यक्त कर दिया गया है। निस्संदेह व्याकरण शास्त्र में इनका यह कार्य प्राथमिक है।

अन्त में मैं इतना ही कहना पर्याप्त समझता हूं कि, जैसा इन्होंने अपनी भूमिका में भी लिखा है कि, इससे व्याकरण के छात्रों तथा अध्यापकों का पूर्ण उपकार होगा यह पूर्ण रूप से सत्य है। शास्त्रिवर्य का उनके शोध कार्य का मैं हार्दिक अभिनन्दन करता हूं। मुझे विश्वास है कि, इससे इनके वैदुष्य की ख्याति होगी और ये निरन्तर उन्नति के मार्ग में अग्रसर होकर भगवती सरस्वती की सेवा का लाभ अर्जित करते रहेंगे।

विदुषां विधेयः —

मनसाराम शर्मा

भू०पू० प्राचार्य, केन्द्रीय संस्कृतमहाविद्यालय

अवधूत मण्डल, हरिद्वार

सम्मति

श्री डॉ० राम प्रकाश जी गुरुकुल कांगड़ी विश्व-विद्यालय में संस्कृत विभाग में प्राध्यापक पद पर कार्य कर रहे हैं। ये अपने विषय के अच्छे विद्वान हैं। इन्होंने महाभाष्यान्तर्गत "आचार्य प्रवृत्ति-ज्ञापयति" सम्वन्धी प्रकरणों को सूत्र रूप में संग्रह कर आगरा विश्व विद्यालय से डी०-लिट् की उपाधि प्राप्त की है। ज्ञापकों का संग्रह कर उनका स्पष्टीकरण एक अपूर्व सूझ है। डॉ० राम प्रकाश शर्मा ने "पातञ्जल महाभाष्य के ज्ञापकों (परिभाषाओं) का समीक्षात्मक अध्ययन" विषय पर अपने ढंग से इस क्षेत्र में जो कार्य किया है वह अत्यन्त सराहनीय है।

राम प्रसाद वेदालंकार

आचार्य एवं उप-कुलपति

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

The typed report should be sent (in the envelope sent herewith) to Asstt. Registtar (Confidential Unit of Research) Agra University, Agra by name.

FORM FOR WRITING REPORT

1. **Name of the candidate** ....Dr. Ram Prakash Sharme...........
2. **Subject** ....Sansrit..
3. **Name of the Doctorate Degree**...............D.L/II...............
4. **Title of thesis**......पातञ्जल महाभाष्य के ज्ञापकों का समीक्षात्मक...
   ....—अध्ययन..
   ....
5. **Name of the examiner with full postal address** ..Dr. P.G. LALYE...
   ...Rcader in Sanskrt, Osmania Univirsity, Hydere bod.........

Important

2. The examiner is requested to recommend definitely whether-
   (a) The candidate be admitted to the degree

संस्कृत के व्याकरण शास्त्र में ज्ञापकों का विपुल प्रयोग पातञ्जलमहाभाष्य में हुआ है। प्रस्तुत शोधग्रंथ के रचयिता ने महाभाष्यप्रयुक्त ज्ञापकों का२५/२५का गुट करके पांच अध्यायों में उन्हें चच कि लिए बाँटा है। डॉ०रामप्रकाश शर्मा का डी० लिट० के लिये प्रस्तुत यह शोधग्रन्थ पढ़कर इस बात का सहज प्रतीति होती है कि लेखक ने व्याकरण के सर्वज्ञात पर अल्पचर्चित विषय पर एक बहुमूल्य सामग्री प्रस्तुत की है। इस अध्ययन की परिधि में भाष्योक्त ज्ञापकों का उद्गमस्थल, मुख्य उदाहरण की प्रक्रिया, उदाहरणों की रूप सिद्धि में ज्ञापकों की भूमिका इन विषयों का अन्तर्भाव किया है। पांचवे से बारहवे अध्याय तक लगभग इन ज्ञापकों की चर्चा करके लेखक ने यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि किसी शब्द के समग्र व्युत्पादन के लिए ज्ञापकों की बहुत आवश्यकता है।

लेखक ने पहले ६२ पृष्ठों में व्याकरण के इतिहास की एक झलक दिखाई है। चतुर्थ अध्याय में यह बताया गया है कि विप्रतिषेध, पूर्वत्रासिद्ध इत्यादि व्यवस्था रहने पर भी ज्ञापकों की विशेष आवश्यकता है। लेखक ने हर एक ज्ञापक के विवेचन अलग-अलग परिच्छेदों में किया है। कई स्थलों पर सूत्रनिर्देशपूर्वक वार्तिककार का आक्षेप उद्धृत किया है और उसका निराकरण किसी ज्ञापक के द्वारा किया है। यह बात स्पष्ट है कि 'आचार्यप्रवृत्ति' ही ज्ञापकों के द्वारा किसी तथ्य को प्रकट करती है। यत्र यत्र परिभाषेन्दुशेखर या कैयटाभिप्राय को सप्रकरण बतलाकर तुलनात्मक अध्ययन के लिए सामग्री प्रस्तुत की है। ज्ञापकों का संकलन एवं विवेचन यह सिद्ध करता है कि लेखक का व्याकरण शास्त्र पर पर्याप्त अधिकार है। विवेचन की शैली विषय प्रधान तथा सरल है।

विवेचन में, सूत्रोद्धार, वार्तिक निर्देश, आक्षेप, समाधान, ज्ञापकोद्धार,—यही एक शैली सर्वत्र अपनायी है। पूरे विवेचन में शास्त्रीय युक्तियों और परिभाषाओं का प्रयोग हुआ है, जो लेखक के गंभीर अध्ययन का प्रत्यायक है। इस शोध ग्रंथ के द्वारा पाणिनीय प्रक्रिया को और अधिक स्पष्ट किया गया है।

लेखक ने एक महत्वपूर्ण शोधग्रंथ लिखा है। **मेरा यह स्पष्ट मत है कि इस ग्रंथ पर लेखक को डी० लिट्० उपाधि दी जाये।**

Dr. P.G. Lalye, Pr. in Sanskrt, Usmania Univirsity, Hydere bod

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

The typed peport should be sent (in the envelope sent herewith) to Asstt. Registrar (Confidential Unit of Research) Agra Universiry, Agra **by name.**

FORM FOR WRITING REPOR

1. **Name of the candidate............Dr. Ram Prakash Sharma..................................**
2. **Subject.........Sanskrti...**
3. **Name of the Doctorate Degree.. ..... D. Litt............................**
4. **Title of thesis......पातञ्जल महाभाष्य के ज्ञापकों का समीक्षात्मक अध्ययन......**

....

....

Name of the examiner with full postal address: Prof. Dr.S.G.Kantawala, Prof. & Head Deptt. of Sanskrit, Faculty of Arts, & I/c Director, Oriental Institute, M. S. University of Baroda, Baroda-390 002.

REPORT

Report on the D. Litt, thesis entitled : 'पातञ्जल महाभाष्य के ज्ञापकों का समीक्षात्मक अध्ययन' Submitted by Dr. Ram Prakash Sharma to the Agra University, Agra

I have critically gone through the thesis entitled :

"पातञ्जल महाभाष्य के ज्ञापकों का समीक्षामत्क अध्यमन

supplicating for the award of the D. Litt. degree and I recommend that it be accepted for the award of the D. Litt. degree of the Agra University, Agra

Panini, Katyayana and Patanjali are the towering and commanding authorities in the field of Sanskrit grammatical literature. Much has been written on the history, methodology and other problems of Indian grammatical thought (Vide. George Cardona, Panini : A Survey of Research). The apparent study of panini's Astadhyayi shows that it has in places unnecessary complexities nrdamomdles because the aphorisms are very laconic, 'It is believed that not a single word in the Sutras is devoid of purpose' and hence 'the commentators always try to assign some purpose or the other for the use of a word in the Sutra. Such a word or words or even the whole Sutra is called ज्ञापक or indicator of a particular thing'.

This brings out the importance of Jnapakas.

A critical study of the jnapakas in the Mahabhasya of Patanjali was a desideratum and Dr. Sharma has done well in selecting this theme for his D. Litt. thesis.

The study is presented in twelve chapters (pp 1-349) suffixed with a bibliography (pp.351-355) as follows :

Chapter I	:	Purpose of the study, sources of study, survey of earlier studies etc.
Chapter II	:	Predecessors and successors of panini Mahabhasya of Patanjali. purpose, scope. Jain grammarians etc.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Chapter III : Pre-Paninian tradition of jnapana. jnapaka indicates the excellence of panini's grammar and symbolises the scientific character of Panini's grammar.

Chapter IV : Importance of Jnapaka etc, from the point of view of ancient and neo-grammarians importance, etc. of jnapaka in comparison with vipratisedha, purvatrasiddha, antaranga, bahiranga etc. Distinction between jnapakas and the abihihita and vivaksita paribhasas etc. studies of jnapakas by Bhartrhari, Jinendra, Kaiyata, Haradatta Misra and Nagesa.

Chapters V-XII : present the study of the 199 jnapakas in the Mahabhasya and their sources.

The Chapter XII is rounded off by a very brief para entitled upasamhaa. It is felt that the candidate could have given here the conclusions arrived at in his thesis or a special chapter should have been devoted to present the main conclusions arrived at in the thesis.

From the perusal of the thesis one feels that the candidate has a good command over the traditional grammatical literature and is well trained in the traditional system of Sanskrit grammatical learning. He has analysed the data and has essayed to present the beauties of the intricacies of grammar in the problem under consideration. It is happy to note that he has given citations in extenso, wherever necessary.

The language of the thesis is readable and the presentation is lucid, However, it is to be noted that the typescript is not vigilantly corrected and sometimes references are incomplete.

The bibliography could have been divided into two parts :
(1) Original sources and (2) Secondary sources and the entries therein could have been given alphabetically.
One feels that the candidate has not consulted the works of scholars like George Cardona Paul Kiparsky; perhaps they were not within his range of approach.

The above going points, however, do not detract from the merits of the thesis.

In view of the merits of the thesis, especially, as it studies the jnapakas in detail, I have the pleasure to recommend that the thesis be accepted for the award of the D. Litt. degree of the Agra University, Agra.

Sd/—
(M. M. Dr. S. G, Kantawala)
Professor and Head,
Deptt. of Sanskrit.
Faculty of Arts &
I/c Director,
Oriental Institute.
M.S.University of Baroda, Baroda.

Baroda.

Dt: 26th Sept. 1983.

Profeeor and Head of the Deptt. of Sanskrit B.H.U., Varanasi

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

The typed report should be sent (in the envelope sent herewith) to Asstt. Registrar (Confidential Unit of Research) Agra University., Agra **by name**

FORM FOR WRITTING REPORT

1. Name of the candidate : Dr. Ram Prakash Sharma
2. Subject : Sanskrat
3. Name of the Doctorate Degree : D. Litt
4. Title of thesis : पातञ्जल महाभाष्य के ज्ञापकों का समीक्षात्मक अध्ययन
5. Name of the examiner with full postal address : Dr. V.K. Verma, Professor and Head of the Deptt of Sanskrit, B. H. U. Varanasi.

Note :—1. Under the Ordinances relating to Doctorate Degrees, a thesis shall comply with the following conditions and the examiners are requested that in case they approve of a thesis for the conferment of the degree. it should be definitely mentioned in the report that the thesis complies with these requirements :—

(a) It must be a piece of research work characterised either by the discovery of facts or by a fresh approach towards the interpretation of facts or theories. In either case it should evince the candidate's capacity for critical examination and sound judgement.

(b) It shall be satisfactory in point of language and presentation of subject matter· The Examiners will also indicate whether the thesis is suitable for publication in its present form with or without amendments.

Important

2. The examiner is requested to recommend definitely whether—

(a) The candidate be admitted to the degree if his viva-voce is satisfactory

R E P O R T

The present thesis consists of twelve chapters. In the first chapter the candidate deals with the purpose, scope and sources of his present study. Then he surveys the previous studies done allready in the field. In the second chapter the candidate gives a detailed accounts of Grammarians who flourished before Panini and after Panini. Here he discusses the purposes, scope and style of the Mahabhasya of Patanjali. He compares Mahabhasya and jain grammar. The third chapter is devoted to jnapana tradition before Panini. Here he establishes that the jnapana rules of Panini indicate the greatness and scientific nature of Panini's Grammar. In the fourth chapter the candidate discusses the importance of jnapakas according to the ancient and new grammarians. Here he discusses the difference between Paribhasas and Jnapakas. In eight chapters beginning with the fifth and ending with the twelfth the candidate explains the jnapakas mentioned in the Mahabhasya and and presents a study of their original sources. In the end of the thesis we find a detailed bibliography.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

The above survey of the contents of the thesis makes it quite clear that the candidate has spared no pains to make his thesis as exhaustive and as useful as possible. A study af the jnapakas of the Mahabhasya of Patanjali was a longfelt need. This need is fulfilled by the present thesis. The candidate is well-versed in Grammar and he is acquainted with the modern method of research. His thesis is a piece of research work characterized by the discovery of several facts regarding jnapakas and it evinces Candidate's capacity for critical examination and sound judgement. It is satisfactory in point of language and presentation of subject matter.

But the above does not mean that the work is entirely free from defects. The arrangement and designations of chapters are not quite satisfactory. The first four chapters are merely introductory. Eight chapters beginning with tne fifth and ending with the twelfth have the same designation without any distinction. But these are minor matters and do not mar the value of the thesis to a great extent. These things may be discussed in the viva-voce examination.

On the basis of the above I recommend that the D. Litt degree of Agra University be awarded to the candidate subject to his satisfactory performance in the Viva-voce examination.

Sd/—

Dated 7 / 9 / 1983

V. K. Verma

Professor and Head of the Deptt. of Sanskrit B.H.U., Varanasi

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पातञ्जल महाभाष्य के ज्ञापकों (परिभाषाओं) का समीक्षात्मक अध्ययन

अध्ययन का प्रयोजन

पातञ्जल महाभाष्य व्याकरणशास्त्र का सर्वोत्कृष्ट ग्रन्थ है। पाणिनि व्याकरणगत परिभाषाओं तथा इष्टियों आदि का मूल स्रोत महा-भाष्य ही है। महाभाष्यकार ने जहां "**तत्राशक्यम् वर्णेनाप्यनर्थकेन भवितुम् किम् पुनरियता सूत्रेण**" अर्थात् महर्षि पाणिनि के सूत्रों का एकवर्ण भी निरर्थक नहीं है, पूरा सूत्र फिर अनर्थक हो ही कैसे सकता है। यह लिखते हुए पाणिनि के प्रति अगाध श्रद्धा प्रकट की है, वहां उन्होंने "आचार्य प्रवृत्ति- ज्ञापयति" यह लिखते हुए उनकी प्रवृत्ति व व्यवहार को भी महत्त्व प्रदान किया और उससे भी ज्ञापकों का उद्‌भव माना है क्योंकि वैयाकरणों का सिद्धान्त है कि "अर्धमात्रालाघवेन पुत्रोत्सवम् मन्यन्ते वैयाकरणाः" अर्थात् एक मात्रा की तो बात ही क्या आधी मात्रा का भी यदि पाणिनि सूत्रों में लाघव हो जाता है तो व्याकरण शास्त्र के अध्येताओं व मर्मज्ञ दोनों ही पुत्रजन्म के समान खुशी मनाते हैं। इससे यह भी सिद्ध है कि "ब्रेविटी इज़ दी सोल ऑफ विट" अर्थात् सक्षेप प्रियता बुद्धिमानों का लक्षण है। सारभूत अल्प-शब्दों में अर्थातिशय का भरदेना विद्वत्ता की पहिचान है। पाणिनि के सूत्रों में यह तत्त्व अत्यधिक पदपद पर अनस्यूत या भरा पड़ा है। इसी तत्त्व के आधार पर भाष्यकार ने ज्ञापकों का उद्गम माना है। इन ज्ञापकों का महत्त्व, ज्ञापकों के विषय, मूल, और फल एवं उनकी विशिष्टता का आज तक संक्षिप्त सार गर्भित अध्ययन प्रस्तुत नहीं किया गया, न ज्ञापकों और परिभाषाओं के परस्पर भेद मूलक विवेचन को ही प्रस्तुत किया गया है। अतः मैंने इस विषय को अपनी डी० लिट० उपाधि के लिए अत्यन्त सक्षम व उपादेय समझा है। मुझे विश्वास है कि इस प्रकार के अध्ययन से एक नवीन दिशा व्याकरण के (वैयाकरण) अध्येता और अध्यापकों को मिलेगी जिसकी आधुनिक समय में बड़ी आवश्यकता है। और महाभाष्य की महत्ता पर भी पर्याप्त प्रकाश पड़ेगा। मैंने अपनी संक्षिप्तिका या रूप-रेखा में पच्चीस पच्चीस ज्ञापकों का अध्ययन आठ अध्यायों में विभक्त किया है। इस प्रकार ज्ञापकों द्वारा लगभग आठ अध्याय बनेंगे इस शोधप्रबन्ध के पञ्चम अध्याय से लेकर द्वादश अध्याय तक आठों अध्यायों में विस्तृत रूप से ज्ञापकों पर विचार किया जायगा। **शोधप्रबन्ध के प्रथम अध्याय में** पाणिनीय व्याकरण की वैज्ञानिकता एवं विशेषता, ज्ञापकों के आधार पर ही सिद्ध की जा सकती है 'अर्धमात्रालाघवेन वैयाकरणाः पुत्रोत्सवं मन्यन्ते" इस उक्ति के अनुसार जो व्याकरण शास्त्र में लाघव को महत्व दिया गया है इसका भी पोषण ज्ञापक के द्वारा ही किया जा सकता है। क्योंकि शब्द साधुत्व प्रक्रिया के नियमन के लिए जो सूत्र बनाए गए हैं वे केवल वाच्यार्थ मात्रा का ही बोध नहीं कराते हैं बल्कि यथावसर व्यङ्ग्यार्थ बोध द्वारा भी नियम को सूचित करते हैं। इस तरह सूत्र के अक्षरों में लाघव होने पर भी व्यङ्ग्यार्थ को लेकर पर्याप्त अर्थ उपलब्ध हो जाते हैं इसलिए ज्ञापक वचनों का लाभ हो जाता है। सूत्र के लाघव का सिद्धान्त स्थिर हो जाता है। यह व्यङ्ग्यार्थ ही जो सूत्राक्षर से लब्ध होते हैं वे ही ज्ञापक के रूप में इस व्याकरण शास्त्र में व्यवहृत होते हैं। इस तरह ज्ञापकों की विशेषता से शास्त्र की विशेषता बताना ही ज्ञापक के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अध्ययन का उद्देश्य बताया गया है। इन ज्ञापकों के विश्लेषण द्वारा पाणिनि सूत्रों की स्पष्ट व्याख्या हो जाती है। शब्दों की दुरूह प्रक्रिया भी स्पष्ट हो जाती है। अतः ज्ञापकों का विश्लेषण पाणिनि शास्त्र की विद्वत्ता की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। समस्त ज्ञापकों का संकलन एवं उनके उद्गम का प्रतिपादन अब तक कहीं एकत्र सुलभ न होने के कारण ज्ञापकों के स्वतन्त्र अध्ययन की सामग्री प्रस्तुत करना ज्ञापक के अध्ययन का प्रयोजन है। महाभाष्य में समस्त पाणिनीय ज्ञापकों के स्थल भेद निरूपण किए गए हैं। अतः महाभाष्य के अनुसार इन ज्ञापकों का उद्भव तथा प्रयोजन सो–दाहरण प्रस्तुत करना ही इस अध्ययन की परिधि है। इसलिए महाभाष्यानुसारीकैयट, नागेश, हरदत्त आदि अनेक विद्वानों की व्याख्याओं का अनुशीलन तथा समीक्षण इस अध्ययन का आधार बनाया गया है। इस तरह का ग्रन्थ अब तक पाणिनीय व्याकरण में सुलभ नहीं था। जिसके द्वारा ज्ञापकों का स्वतन्त्र विवेचन किया गया हो। इस प्रकार की त्रुटि का सर्वेक्षण करते हुए इसकी पूर्ति का प्रयास ही इस अध्ययन का वैशिष्ट्य है। **द्वितीय अध्याय में "प्राक्पाणिनि" की सामग्री** को प्रस्तुत किया गया है। पाणिनि सूत्रों की श्रेष्ठता प्रतिपादन तथा कात्यायनोक्त आक्षेपों के समाधान द्वारा पाणिनि की सर्वज्ञता का स्थापन ही महर्षि पतंजलि के महाभाष्य का उद्देश्य है। उनका कार्यक्षेत्र सूत्रों की व्याख्या द्वारा समस्त अपेक्षित अर्थों की सिद्धि ही है। सूत्रों की न्यूनता एवं अधिकता द्वारा कात्यायन द्वारा आक्षिप्त अर्थों की पूर्णतया व्याख्या करने के बाद **"तर्तहि वक्तव्यम्"** ऐसी जिज्ञासा के अनन्तर **"न वक्तव्यम्"** कह कर सूत्राक्षरों की व्याख्या से ही उस अर्थ का प्रदर्शन करना महाभाष्य की शैली हैं। इसी विषय को इस अध्याय में स्पष्ट किया गया है। **तृतीय अध्याय में** आचार्य पाणिनि से पूर्व ज्ञापकों की परम्परा नहीं थी। प्रत्येक नियम वचननिबद्ध ही होते थे। पाणिनि सूत्रों की यही बड़ी विशेषता है कि अभिधेयार्थ से पृथक् ध्वननात्मक व्यापार का आश्रयण कर के ज्ञापकों द्वारा भी बहुत से नियम बताए गए हैं। जिनका शब्द साधुत्व की प्रक्रिया में विशेष महत्व है। ज्ञापक ही इस व्याकरण का सर्वोत्कृष्टता एवं वैज्ञानिकता का प्रतीक है। ज्ञापकों को सिद्धि श्रुतार्थापत्ति द्वारा ही की गई है। अर्थापत्ति एक तर्कप्रधान प्रमाण है। इसका प्रामाण्य सभी दार्शनिकों ने स्वीकार किया है। अतः यह ज्ञापक आचार्य पाणिनि का वैशिष्ट्य स्थापित कर रहे हैं। भाष्यकार ने कात्यायनोक्त अर्थ को भी सिद्ध कर के दिखाया है। व्याकरणोपयोगी सभी नियम सूत्रसम्मत होने से "यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यम्" यह भी सूत्रसम्मत ही है। इसी अभिप्राय को लेकर महभाष्यकार ने स्पष्ट किया है कि— **"सूत्रं व्याकरणम्"** इति। यही विषय तृतीय अध्याय का संक्षिप्त है। वैदिक प्रक्रिया में भी ज्ञापकों का विशेष महत्व है। यह उदाहरण द्वारा इसी अध्याय में स्पष्ट किया गया है। उपसंख्यान एवं इष्टियाँ भी इस व्याकरण की विशेषता है। कहीं-कहीं उपसंख्यान एवं इष्टियों का भी अर्थ विशेष ज्ञापक द्वारा ही सिद्ध हो जाता है। यह सभी विषय इस अध्याय का विचारणीय विषय है। **चतुर्थ अध्याय में** सूत्रों में बलाबल पर विचार किया जाता है। इस बलाबल विवेचन के मूल,आधार, **"विप्रतिषेधे परं कार्यम्", "पूर्वत्रासिद्धम्" इत्यादि सूत्र तथा असिद्धं बहिरंङ्गमन्तङ्गे"** इत्यादि वचन माने जाते हैं। परन्तु इनकी अपेक्षा भी ज्ञापकों को बलवान् स्वीकार किया जाता है। इसलिए ज्ञापकों की व्यापकता बलाबल विचार में भी विशेष महत्व रखती है। पाणिनि व्याकरण में ज्ञापकों का विशेष महत्व होते हुए भी परिभाषा पद से व्यवहार्य भी कुछ ज्ञापक हैं। जिनका विस्तृत व्याख्यान नागेशभट्ट ने "परिभाषेन्दुशेखर" ग्रन्थ में किया है। इन परिभाषाओं का शेष ज्ञापकों के अन्तर का विवेचन चतुर्थ अध्याय में किया गया है। समस्त पाणिनि व्याकरणानुयायियों ने ज्ञापकों का महत्व विशेष रूप से स्वीकार किया है। भर्तृहरि, जिनेन्द्र, कैयट, हरदत्त मिश्र तथा नागेश की दृष्टि में ज्ञापकों का जो विशेष महत्व है उसका भी विवेचन इस अध्याय में किया गया है।

निवेदक— रामप्रकाशशर्मा व्याकरणाचार्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रथम अध्याय

विषय का उद्देश्य (ज्ञापक का अध्ययन)

१— अध्ययन का प्रयोजन

२— अध्ययन की परिधि

३— आधार सामग्री

४— पूर्व अध्ययन का सर्वेक्षण और प्रमुख अध्ययन का वैशिष्ट्य

द्वितीय अध्याय

१— पाणिनि पूर्व आचार्य

२— पतंजलि के महाभाष्य के उद्देश्य कार्यक्षेत्र एवं उसकी शैली

तृतीय अध्याय

पाणिनि से पूर्व ज्ञापन परम्परा, और उसकी वैज्ञानिकता

१— आचार्य पाणिनि से पूर्व ज्ञापकों की परम्परा।

२— ज्ञापक पाणिनि व्याकरण की सर्वोत्कृष्टता एवं वैज्ञानिकता के प्रतीक।

३— वैदिक स्तर विषयक ज्ञापकों की महत्ता।

४— इष्टियां परिसंख्यानों और ज्ञापकों के भेदाभेदपर विचार।

चतुर्थ अध्याय

प्राच्य तथा नव्य वैयाकरणों की दृष्टि में ज्ञापकादि की महत्ता

१ —विप्रतिषेध, पूर्वात्रासिद्ध, अन्तरङ्ग, बहिरङ्ग आदि की अपेक्षा ज्ञापकों की व्यापकता व प्रबलता।

२— पाणिनि व्याकरण में अभिहित तथा विवक्षित परिभाषाओं और ज्ञापकों में भेद।

३— भर्तृहरि, जिनेन्द्र, कैयट, हरदत्त मिश्र और नागेश की दृष्टि में ज्ञापकों का गम्भीर अनुशीलन।

पंचम अध्याय

महाभाष्योक्त ज्ञापक और उनके मूलभूत स्रोतों का अध्ययन

1- भवत्याक्षरसमाम्नायिकेन धात्वादिस्थस्यग्रहणम्।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

२- नानुबन्धसंकरोऽस्ति।

३- न दीर्घे ह्रस्वाश्रयो विधिर्भवति।

४- भवत्यृकारान्नो णत्वम्।

५- नात्र रपरत्वं भवति

६- अभेदकाः गुणाः।

७- नाकारस्य गुणो भवति।

८- न व्यञ्जनस्य गुणो भवति।

९- न सिच्यन्तरंगम् भवति।

१०- भवत्युपधालक्षणस्य गुणस्य प्रतिषेध !

११- न प्रगृह्यसंज्ञायाम् प्रत्ययलक्षणम् भवति।

१२- इयामिह परिभाषा भवति आद्यन्तवदेकस्मिन् इह न भवति येनाविधिस्त दन्तस्य।

१३- अन्यत्र वर्णग्रहणे जातिग्रहणम् भवति।

१४- नोकादेश उग्रहणेन गृह्यते।

१५- न प्रगृह्य प्रत्यय लक्षणं संज्ञायाम् भवति।

१६- नानुबन्धकृतमनेजन्तत्वम्।

१७- भवत्येकादिकाया संख्याः प्रदेशेषु संख्यासंप्रत्ययः।

१८- नैषा द्वयादिपर्युदासेन पर्युदासो भवति।

१९- न प्रत्ययलक्षणेना व्यय संज्ञा भवति।

२०- न तिसृचतसृभावे कृते ङीप् भवति।

२१- स्थानिवदा देशो भवति।

२२- अल्विधौ स्थानिवद्भावो न भवति।

२३- नापवादे उत्सर्गकृतम भवति।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

२४- नाहेरीड् भवति ।

२५- न संबुद्धिलोपे स्थानिवद्भावो भवति ।

षष्ठ अध्याय

महाभाष्योक्त ज्ञापक और उनके मूल स्रोतों का अध्ययन

१- भवतिणौ स्थानिवत्

२- रुपम्स्थानिवद् भवति ।

३- लुकश्लुलुपः सर्वादेशा भवन्ति ।

४- लुकि प्रत्ययलक्षणम् ।

५- नान्त्यत्य पररूपम् भवति ।

६- अस्त्यन्यद्रूपात्वं शब्दस्य ।

७- शब्दसंज्ञायाम् न स्वरुपविधिर्भवति ।

८- न टिता सवर्णानांग्रहणम् भवति ।

९- भाव्यमानेन सवर्णानां ग्रहणं न ।

१०- तदेकदेशभूतम् तद्ग्रहणेन गृह्यते।

११- सूत्रान्तादेवदशान्तादेवेति नात्र तदन्तादुत्पत्तिः प्राप्नोति उदानोम्भेवहयुक्तम। समास प्रत्ययविधौ प्रतिषेधः।

१२- व्यपदेशिवद्भावोऽप्रातिपदिकेन।

१३- नानेनार्थधातुकस्यापितो ङित्वम्

१४- औपदेशिकस्य कित्वस्य प्रतिषेधौ नातिदेशिकस्य।

१५- न मात्रिकोन्ते भवति।

१६- न मात्रिको मध्ये भवति।

१७- न द्विमात्रो ते भवति।

१८- देवब्रह्मणो रनुदातत्वचनमज्ञापकम स्वरितादिति सिद्धत्वस्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१९- नास्य लुग् भवति ।

२०- न धातोः प्रातिपदिकसंज्ञा भवति

२१- भवति प्रकृतिप्रत्यय समुदायस्य प्रातिपदिकसंज्ञा ।

२२- अनर्थकानामप्येतेषां भवत्यर्थवत्कृतम् ।

२३- उत्पद्यन्तेऊङन्तात् स्वादयः ।

२४- न प्रत्ययलक्षणेन प्रतिषेधो भवति ।

२५- सर्वोद्वन्द्वो विभाषयैकवद् भवति ।

सप्तम अध्याय

महाभाष्योक्त ज्ञापक और उनके मूल स्रोतों का अध्ययन

१- यत्रोर्ध्वम् प्रकृतेस्तल्लणक्ष एव विशेषस्तत्रैकशेषे भवति ।

२- अस्ति च पाठोबाह्यश्च पाठात् ।

३- भवति लकारस्येत्संज्ञा ।

४- न विभक्तौ तद्धिते प्रतिषेधो भवति ।

५- नानुबन्धकृतमसारूप्यम् भवति ।

६- नानुबन्धकृतमनेकाल्त्वम् ।

७- नानुबन्धकृतमनेजन्तत्वम् ।

८- विकरणेभ्यो नियमो बलीयान् ।

९- सन्नन्तादात्मनेपदम् भवति ।

१०- भवत्येवंजातीयकानामात्मनेपदम् ।

११- न परस्मैपदविषयेआत्मनेपदम् ।

१२- न कर्मसंज्ञायाम् कर्तृ संज्ञा भवति ।

१३- असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१४ नाजानन्तर्ये बहिष्ट्वप्रक्लृप्तिः ।

१५- पूर्वोत्तरपदयोस्तावत् कार्यम् भवति नैकादेशः ।

१६- तदेकदेशभूतम् तद्ग्रहणेन गृह्यते ।

१७- कृद्ग्रहणे गतिकारकपूर्वस्यापि ग्रहणम् ।

१८- अन्यत्र संज्ञाविधौ प्रत्ययग्रहणे तदन्तविधिर्न भवति ।

१९- नानाधिकरणवाचीयो बहुशब्दस्तस्येदम् न वैपुल्यवाचिनः ।

२०- उत्पद्यन्तेऽव्ययेभ्यः स्वादयः ।

२१- कारकसंज्ञायाम् तरतमयोगो न भवति ।

२२- अनन्तरीयो ईश्वरशब्दस्तस्य ग्रहणम् भवति ।

२३- नात्र गतेः प्राग् प्रयोगो भवति ।

२४- अनर्थकानामप्येषाम् भवत्यर्थवत्कृतम् ।

२५- न पुरुषसंज्ञा परस्मैपदसंज्ञाम् बाधते ।

अष्टम अध्याय

महाभाष्योक्त ज्ञापक और उनके मूलस्रोतों का अध्ययन

१- समानार्थे केवलम् विग्रहभेदाद्यत्र तत्पुरुषः प्राप्नोति बहुब्रीहिश्च तत्र तत्पुरूषो भवति ।

२- विकृतिश्चतुर्थ्यन्ता प्रकृत्या सह समस्यते ।

३- भवति वै प्रधानस्य सापेक्षस्यापि समासः ।

४- यथाजातीयकमुत्तरपदं तथाजातीयकेन पूर्वपदेन समासो भवति

५- अवयवविधौ सामान्यविधिर्न भवति ।

६- यत्रोत्सर्गापवादंविभाषातत्रापवादेन युक्ते उत्सर्गो न भवति

७- अनयोर्योगयोर्निवृत्तम सुपसुपेति ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

८- बाहूनमपि समासो भवति ।

९- भवत्यर्थं शब्देन योगे चतुर्थी ।

१०- न कर्मादि विशिष्टे प्रथमा भवति ।

११- सानुबन्धकस्यादेश इत् कार्यम् न भवति ।

१२- उत्पद्यन्ते ऽव्ययेभ्यः स्वादयः

१३- अत्यन्तापरदृष्टा परभूता लुप्यन्ते ।

१४- आगमा अनुदात्ता भवन्ति ।

१५- आगमा अविद्यमानवद् भवन्ति ।

१६- भवत्यद्यशब्दाच्छन्दसि परेच्छायायाम् क्यच् ।

१७- नापवादे उत्सर्गकृतम् भवति ।

१८- भवति कर्मकर्तरियक् ।

१९- न लादेशेषु वासरूपो भवति ।

२०- समाने अर्थे केवलम् विग्रहभेदाद्यत्र कर्मोपपदश्च प्राप्नोति बहुब्रीहिश्च कर्मोपपदश्च तत्र भवति ।

२१- यत्तदन्तः थाथघञक्ताजवित्रकाणामिति तन्निष्पूर्वाचिनोतेर्न भवति ।

२२- भवति क्रियासमभिहारे लोट् ।

२३- अस्त्यन्यः कर्तुस्तुमनो र्थः ।

२४- नानुबन्धकृतमनेजन्तत्वम् ।

२५- न भवति समावेशः ।

नवम अध्याय

महाभाष्योक्त ज्ञापक और उनके मूल स्रोतों का अध्ययन

१- प्रागमुतः समावेशो भवति ।

२- न तिङन्तादणादयो भवन्ति ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

३- भवतीह तदन्तविधिः।

४- भवतएते परिभाषे ।

५- लौकिकम् परम् गोत्रग्रहणम् ।

६- नाणिर्विषये घादयो भवन्ति ।

७- भवत्यत्र सप्तमी ।

८- नान्तेवास्यन्तेवासिभ्यो भवति।

९- नापवादविषये छो भवति।

१०- पूर्ववत्तदन्तविधेः प्रतिषेधो न भवति।

११- भवत्यत्रकन्।

१२- भवतीव शब्देन योगे सत्तमी।

१३- योगापेक्षम् ज्ञापकम्।

१४- न वत्यर्थे नञ्स्नञौ भवतः।

१५- उत्तरो भावप्रत्ययो नञ्पूवाद् बहुव्रीहेर्भवति।

१६- उत्तरो भावप्रत्ययोऽन्यपूर्वात् तत्पुरुषाद् भवति।

१७- उत्तरो भावप्रयय: सापेक्षात् भवति।

१८- सर्व एते तद्धिताः सापेक्षात् भवन्ति।

१९- अनुवर्तनते च नाम विधयो न चानुवर्तनादेव भवन्ति किंतर्हियत्नाद्भवन्ति।

२०- समुच्चयोऽर्थं न विभोषेति ।

२१- वार्णादांगम् वलोयो भवति।

२२- न सर्वस्य यणः संप्रारणम् भवति।

२३- परस्य भविष्यति न पूर्वस्य।

२४- नाभादयः आत्तम् बाधन्ते।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दशम अध्याय

महाभाष्योक्त ज्ञापक और उनके मूल स्रोतों का अध्ययन

१- न प्रातिपदिकानाम् आत्वम् भवति ।
२- सिद्धःप्लुतः स्वरसन्धिषु ।
३- पूर्वदोत्तरपदयोस्तावत् कार्यं भवति नैकादेशः ।
४- नैकादेशनिमित्तात् षत्वम् भवति ।
५- विभक्त्योर्ग्रहणम् ।
६- न जसशयोः पररूपम् भवति ।
७- अन्तरंगम् बलीयो भवति ।
८- सिद्धःप्लुतः स्वरसन्धिषु ।
९- एका देशात्प्लुतो भवति विप्रतिषेधेन ।
१०- न निपातस्वरो विभक्तिस्वरं बाधते ।
११- भवत्यात्वे कृते षट्संज्ञा ।
१२- भवत्युकारेण भाव्यमानेन सवर्णानाम् ग्रहणम् ।
१३- न लुप्त विकरणेभ्योऽनुदात्तत्वम भवति ।
१४- स्वरविधौ संघातः कार्यी भवति ।
१५- स्वरविधौ सप्तम्यस्तदन्तसप्तम्यो भवन्ति ।
१६- तत्र सिद्धम् तद्भवति व्यन्जनादेर्व्यन्जनान्ताच्च ।
१७- न पर्यायो भवति ।
१८- कृद् ग्रहणेंगतिकारक पूर्वपापि ग्रहणम् ।
१९- न कृत्स्वरौ हारिस्वरम् बाधते ।
२०- नोत्तरपदस्यान्त उदात्तो भवति ।
२१- विभाषा समासान्तो भवति ।
२२- न यदणन्ते भवति ।
२३- खित्यनन्तरस्य न भवति ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एकादश अध्याय

महाभाष्योक्त ज्ञापक और उनके मूल स्रोतों का अध्ययन

१- नोदात्त निवृत्तिस्वरः शुन्यवतरति।
२- भवतीह विप्रतिषेधः।
३- यङ्लुग् भाषायाम् भवति।
४- सिद्धोऽभ्वासादेश एत्वम्।
५- रूपाभेदेन य आदेशादयो न तेषाम् प्रतिषेधो भवति।
६- नैवम् जातीयकानामेत्वम् भवति।
७- असिद्धं वहिरंगलक्षण मन्तरंग लक्षणे।
८- संनियोगशिष्टानामन्यतराभावे उभयोरप्यभावः।
९- अंगवृत्ते पुनर्वृत्तावविधिः।
१०- भाव्यमानेन सवर्णानाम् ग्रहणं न।
११- ताच्छीलिके णेऽणकृतानि भवन्ति।
१२- न तद्धिते तत्वम् भवति।
१३- विभाषा आत्वम्।
१४- विभक्त्योर्ग्रहणम्।
१५- अन्तरंगानपि विधीन्बहिरंगोल्यब् वाधते।
१६- इयमिह परिभाषा भवति प्रत्ययग्रहणइतीयम् परिभाषा न मवति कृदग्रहणम्।
१७- नायमचोऽन्त्यात् परो भवति।
१८- भवत्यत्र ईकारः।
१९- न रादेशोनुटम् बाधते।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

२०- वृङ्वृञोर्ग्रहणम् ।
२१- यदुपाधेर्विभाषा तदुपाधेः प्रतिषेधः ।
२२- त्रिशब्दने घुषेर्विभाषा णिज्भवति ।
२३- कृते द्विर्वचने य एकाच् ।
२४- अन्तरंगानपिविधीन् बाधित्वा बहिरंगो लुग् भवति ।
२५- प्रान्ततोऽत्वम् भवति ।
२६- धातुग्रहणे तदादिर्विधिर्न भवति ।
२७- त चौ प्रत्यगंम् भवति ।

द्वादश अध्याय

महाभाष्योक्त ज्ञापक और उनके मूल स्रोतों का अध्ययन

१- न सर्वेषाम् त्यदादीनामत्वम् भवति ।
२- पूर्वपदोत्तरपदयोस्तावत् कार्यम् भवति नैकादेशः ।
३- धातोः कार्यमुच्यमानं तत्प्रत्यये भवति ।
४- आद्यज्विशेषणम् देविकावदयः ।
५- श्वादिग्रहणे तदादिविधि र्भवति ।
६- ग्रामग्रहणेनगर ग्रहणम् न भवति ।
७- भवत्येदम् जातीयकानामपीत्वम् ।
८- अन्यत्र ण्यधिकस्य कुत्वम् भवति ।
९- अंगवृत्तेपुनर्वृत्तावविधिः ।
१०- भवत्येवजातीयकानाम्वृद्धिः ।
११- भवत्येवंजातीयकानाम् गुणः ।
१२- नणावेव ह्रस्वत्वम् भवति ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१३- द्विर्वचनाद्ध्रस्वत्वम् बलीयः ।
१४- पुद्धेर्लोपोबलीयान् ।
१५- इत उत्तरम् स्थानिवद्भावो न भवति ।
१६- अगंवृत्ते पुनर्वृत्तावविधिः ।
१७- भाषायामर्तेः श्लुर्भवति ।
१८- किदन्तस्याभ्यासस्यालोन्त्यविधिर्न भवति ।
१९- अभ्यासविकारेणु बाधकाल बाधन्ते ।
२०- भवत्येवम् जातीयकानामित्वम् ।
२१- न द्विशब्दादेशो भवति ।
२२- भवत्येवम् जातीयकेभ्यस्तद्धितोत्पत्तिः ।
२३- अनन्तस्याप्यनुदात्तत्वम् न भवति ।
२४- भवत्यत्ननाभावः ।
२५- सिद्धः एकादेशस्वरः शतृस्वरे ।

—०—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रथम अध्याय

विषय का उद्देश्य (ज्ञापकाद्यध्ययन)

ज्ञापक के अध्ययन का उद्देश्य

व्याकरण शास्त्र वेदों का मुख माना गया है— मुख व्याकरणं स्मृतम्, ऐसा शिक्षाकार ने कहा है। संसार के लौकिक एवं वैदिक समस्त व्यहार शब्दाधीन हो होते है। शब्द की व्युत्पत्ति के लिए व्याकरण शास्त्र की प्रवृत्ति हुई है। अतएव महाभाष्यकार ने कहा है—अथ शब्दानुशासनम्, केषां शब्दानां ? लौकिकानां वैदिकानां च। व्याकरण शास्त्र के प्रणेता अनेक आचार्य सुने गए हैं तथापि पाणिनि के व्याकरण के अनन्तर समस्त पूर्ववर्ती व्याकरण महत्वहीन समझे जाने लगे हैं। पाणिनि व्याकरण की रचना अत्यन्त वैज्ञानिक विधि से हुई है। भगवान् शंकर की कृपा से अक्षर समाम्नाय को पाणिनि ने व्याप्त कर प्रत्याहार निरूपण द्वारा अत्यन्त लाघव पूर्वक व्याकरण शास्त्र की रचना की है। लाघवेन शास्त्रप्रवृत्ति ही पाणिनि की सर्वोत्कृष्ट विशेषता समझी जाती है। पद वाक्य के ही लाघव का महत्व नहीं है बल्कि मात्रा, अर्धमात्रा के लाघव का भी महत्व शास्त्र रचना में स्वीकार किया गया है। पाणिनीय व्याकरण में **'अर्धमात्रालाघवेन पुत्रोत्सवं'** मन्यन्ते वैयाकरणाः यह परिभाषा अत्यन्त प्रसिद्ध है। इस तरह यह स्पष्ट है कि पाणिनि व्याकरण में लाघवेन शब्द व्युत्पादन की प्रक्रिया को विशेष महत्व दिया गया है। यही प्रक्रिया इस शास्त्र को महत्व प्रदान करती है। इस महत्व का निर्वाह तभी हो सकता हे जब पाणिनि सूत्र अभिधेयार्थ के साथ व्यङ्ग्यार्थ को भी सूचित करें। शब्द के व्युत्पादन के लिए समस्त नियमों का निर्देश करना परमावश्यक है। समस्त नियमों के निर्देश के विना शब्दों का व्युत्पादन पूर्ण नहीं हो सकता हैं यदि सूत्र केवल अभिधा शक्ति मात्र से केवल अभिधेयार्थ मात्र का बोध न करें तो शब्द व्युत्पत्ति अधूरी रह जायेगी। इसलिए पाणिनि ने अपने संक्षिप्त सूत्रों द्वारा अभिधेयार्थ के बोधन के साथ ध्वननात्मक शक्ति द्वारा अर्थान्तर को ध्वनित भी किया है। इसी ध्वनित अर्थ प्रतिपादक वचनों को इस शास्त्र में ज्ञापक संज्ञा दी गई है। यदि ध्वनन शक्ति का आश्रय पाणिनि ने नहीं किया होता तो इनके शास्त्र में जो लाघव की विशेषता थी वह नहीं हो पाती, जो इस शास्त्र के उत्कर्ष कीमूल कारण है। अतः पाणिनीय व्याकरण के गम्भीर अध्ययन के लिए ज्ञापकों का अध्ययन आवश्यक है। ज्ञापकों के विशेष अध्ययन से इस शास्त्र का मार्मिक अर्थ स्पष्ट हो जाता है, शब्द व्युत्पत्ति के लिए प्रक्रियाओं का समुचित विश्लेषण भी हो सकता है। उदाहरण के लिए जैसे एक ज्ञापक वचन है, **"नानुबन्धकृत मनेजन्तत्वम्'** इस ज्ञापक के विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि उदीचां माङो व्यतीहारे" सूत्र में माङ् धातु का ग्रहण है 'माङ् माने शब्दे च' इस जुहोत्यादिगण के धातु का ग्रहण नहीं है, इसका विश्लेषण, उक्त ज्ञापक वचन की व्याख्या में स्पष्ट दिखाया गया है। इस तरह पाणिनि व्याकरण के गम्भीर एवं विशुद्ध व्याख्यान के लिए आवश्यक है कि ज्ञापकों का समुचित एवं गम्भीर अध्ययन किया जाय। ❀

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१. अध्ययन का प्रयोजन

ज्ञापक के अध्ययन का प्रयोजन

ज्ञापकों के गम्भीर अध्ययन से पाणिनि सूत्रों की स्पष्ट व्याख्या एवं शब्द व्युत्पत्ति की प्रक्रिया के मार्ग स्पष्ट होते हैं। यद्यपि व्याकरण के सभी प्रक्रिया प्रधान ग्रन्थों में ज्ञापकों की विशेषता तथा आवश्यकता यत्र तत्र वर्णित है, तथापि समस्त ज्ञापकों की एक स्थान में व्याख्याएं नहीं की गई हैं। कभी-कभी ज्ञापक विशेष की प्रयोग विशेषों में प्रवृत्ति देख कर इस ज्ञापक का उद्गम स्थल एवं मुख्य लक्ष्य क्या है, इस जिज्ञासा की शान्ति के लिए बहुत भटकना पड़ता है। व्याकरण के बड़े-बड़े दुरूह ग्रन्थों का अन्वेषण करने में बड़ी कठिनाई होती है। इसलिए लेखक के हृदय में यह अनुभव हुआ कि समस्त ज्ञापकों का संकलन एक ग्रन्थ में किया जाय ताकि जिज्ञासु छात्रों एवं अध्ययनार्थियों को ज्ञापक-विषयक जिज्ञासा की शान्ति के लिए इधर उधर भटकना न पड़े। यद्यपि श्री नागेश भट्ट ने अपने परिभाषेन्दुशेखर ग्रन्थ में समस्त परिभाषाओं का संकलन कर उनकी संक्षिप्त व्याख्या भी की है तथापि परिभाषेतर ज्ञापकों के संकलन का कोई ग्रन्थ-विशेष अब तक व्याकरण शास्त्र में उपलब्ध नहीं है। इसी आवश्यकता की पूर्ति के लिए लेखक का यह प्रयास है। इस प्रस्तुत ग्रन्थ में व्याकरण शास्त्र में जो परिभाषा रूप में प्रसिद्ध वाक्य हैं, तथा परिभाषेतर जो जो ज्ञापक इस शास्त्र में उपयुक्त हुए हैं उन सब का एक स्थान में सर्वाङ्गीण विश्लेषण प्रस्तुत करना ही इस अध्ययन का मुख्य प्रयोजन है।

२. अध्ययन की परिधि

इस अध्ययन की परिधि में ज्ञापकों का उद्गम स्थल, मुख्य उदाहरण की प्रक्रिया, तथा उस उदाहरण की सिद्धि में ज्ञापकों की मुख्य भूमिका आदि विषय आते हैं। ज्ञापकों के उद्गम सूत्रों की विशेष व्याख्या कर ज्ञापकों के उद्गम की प्रक्रिया स्पष्ट की जाती है। तथा उदाहरण में ज्ञापक का पूर्ण समन्वय बताकर उसकी अन्यथा सिद्धि आदि की शंकाओं का शास्त्रीय प्रमाणों से समाधान किया जाता है। उस ज्ञापक के आधार पर शास्त्रों में यदि पूर्वापर का विरोध प्रतीत होता है तो उसका समुचित परिहार किया गया है वह ज्ञापक शास्त्र में किस तरह उपयुक्त हो सकता है, इसका भी विश्लेषण किया गया है। वह ज्ञापक केवल एकदेशीय है या शास्त्र व्यापक है, ये सब विचार इस अध्ययन की परिधि में आते हैं।

३. आधार सामग्री

अध्ययन का आधार

ज्ञापकों के अध्ययन का मुख्य आधार पाणिनि सूत्र, तथा महाभाष्य को निश्चित किया जाना है। सूत्रों एवं महाभाष्य के वाक्यों के मार्मिक अभिप्राय के समझने के लिए कैयट, नागेश भट्ट, भट्टोजिदीक्षित, जिनेन्द्र तथा हरदत्त आदि के ग्रन्थों का भी आश्रय लिया गया है। जिसका उल्लेख ज्ञापकों की व्याख्या में स्पष्ट रूप से किया गया है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

४. पूर्व अध्ययन का सर्वेक्षण और मुख अध्ययन का वैशिष्ट्य

पूर्व सर्वेक्षण तथा अध्ययन वैशिष्ट्य

इस अध्ययन के द्वारा पाणिनि–व्याकरण का गम्भीर अध्ययन तथा पाणिनिशास्त्र की मुख्य विशेषता के रूप में स्वीकृत ज्ञापक वचनों का एक स्थल में सर्वाङ्गीण एवं सूक्ष्म विवेचन के साथ मर्यादबोध ही इस अध्ययन का वैशिष्ट्य होगा, जो आज तक इस शास्त्र के किसी अन्य ग्रन्थ में नहीं हुआ है।

द्वितीय अध्याय

१. पाणिनि पूर्व आचार्य

पाणिनि शब्दशास्त्र के स्मर्ता थे कर्ता नहीं, इस सिद्धान्त के निर्धारण से पाणिनि पूर्व अनेक शाब्दिकों व शब्दविदों की सत्ता का औचित्य स्वतः सिद्ध होता है। यह परम सत्य है, आचार्य पाणिनि के समय में शिष्ट शब्द व अपशब्द दोनों ही प्रचलित थे। उन्होंने सामान्यजनों में व्यवहृत या लोक विख्यात साधु शब्दों को मानकर उनका अन्वाख्यान किया। व्याकरण साधु शब्दों का अन्वाख्यान करता है। आचार्य पाणिनि ने लोक प्रसिद्ध विद्यमान शिष्टशब्दों का अन्वाख्यान किया, जैसा कि भाष्यकार ने पाणिनीय अष्टाध्यायी के सम्बन्ध में "पृषोदरादीनियथोपदिष्टम्" १-३-१०९ सूत्र के भाष्य में बताया **"एवमैषाशिष्टज्ञानार्थाष्टाध्यायी"** अष्टाध्यायी शिष्ट शब्दों के परिज्ञान के लिए है। यहां स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि आचार्य पाणिनि ने किसी शब्दशास्त्र की रचना नहीं की थी, अपितु विद्यमानलोक प्रसिद्ध सिद्ध शब्दों का ही अन्वाख्यान किया था। इस सम्बन्ध में कैयट की पंक्ति प्रमाणार्थ प्रस्तुत है— **"लोकेतु स्वार्थे प्रयुज्यमानानां शब्दानां' साधुत्वमात्रमनेन प्रतिपाद्यते, न त्वर्थे नियोगः क्रियते**— नागेशः— **"लोक इति शिष्ट लोक व्यवहारे" "नियोगो पूर्व विधानम्"**। निःसन्देह पाणिनि का शब्दानुशासन अप्रयुक्त अपूर्व शब्दों का अन्वाख्यान नहीं करता इस विषय में प्रदीप द्रष्टव्य है— **"सिद्धानां च शब्दानांसंकरनिराशायान्वाख्यानं क्रियते, न त्वप्रयुक्त्वा अपूर्वशब्दव्युत्पादनाय"** इसी के आगे कैयट का अभिप्राय है— पाणिनि व्याकरण अपशब्दों की जहाँ सत्ता मानता है वहाँ अपशब्दों को लोक-निष्पन्न व अर्थवान भी मानता है। "अपशब्दो हि लोके प्रयुज्यते साधुशब्द समानार्थश्च अयं त्वप्रयुक्तात्वादपशब्द व्यपदेश॰ स्यापि न" नागेश का मत निम्न प्रकार से है— "आपना साधुस्मरणासंग्रहः वस्तुतोऽपभ्रंशानामपि वाचकत्वमपिनाग्राह्यम्" कैयट व नागेश की पंक्तियों से प्रतीत होता है कि पाणिनि के समय में शब्द व अपशब्द दोनों ही थे। जैसा कि "तेन रक्तं रागात्" ४/२/१ सूत्र पर कैयट ने लिखा है— **"रक्तादीनां शब्दानां योऽर्थः स एव यदि लौकिके प्रयोगे प्रत्ययेनाभिधीयते तदा प्रत्ययो भवति नान्यथा, प्रयुक्तानां शब्दानां साध्वसाधु विवेकाय शास्त्ररम्भात् देवदत्तेनरक्तं वस्त्रमिति वाक्याद्योऽर्थोऽवगम्यते नासौ" देवदत्त वस्त्रमित्यतोऽवगम्यते।"**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भाष्यकार ने पस्पशाह्निक में प्रश्न उठाया है आचार्य पाणिनि व्याकरण के कर्ता हैं या स्मर्ता? "कथं पुनरिदं भगवतः पाणिनेराचार्यस्य लक्षणं प्रवृत्तं" उत्तर में वार्तिक पठित है— "सिद्धे शब्दार्थ संबन्धे चेति" सिद्ध शब्दार्थ सम्बन्ध की नित्यता को मानकर स्वकीय शब्दानुशासन प्रारम्भ किया। कैयट की इस पंक्ति से यह आशय स्पष्ट हो रहा है। "किमाचार्य एव स्रष्टा शब्दार्थ संबन्धानां, अथ स्मर्तेति प्रश्नः। तत्र नित्यशब्दो जाति स्फोट लक्षणो व्यक्तिस्फोट लक्षणो वा। कार्यशाब्दिकानामपि मते प्रवाहनित्यतया। अर्थस्यापि जातिलक्षणस्य नित्यत्वम्। द्रव्यपक्षेपि सर्व शब्दानामसत्योपाध्यवच्छिन्नं ब्रह्मतत्वं वाच्यमिति नित्यता, प्रवाह नित्यतया वा। सम्बन्धस्यापि व्यवहारपरम्परया अनादित्वात् नित्यता। नागेश : प्रवाह नित्यतया तयोरिव तस्यापि नित्यत्व-मिति भावः।"

पाणिनिपरम्परा के अनुयायियों का एक सिद्धान्त है व्याकरण के आचार्य, शब्द नियामक नहीं होते वे शब्द स्मर्ता होते हैं। इस सिद्धान्त की पुष्टि पाणिनि के सूत्रों में स्मृत आचार्यों के नाम से होती है।— "ऋतोभारद्वाजस्य" सूत्र पर भाष्यकार की पंक्ति स्पष्ट है। "सिद्धत्येवमयं तु भारद्वाज स्वस्मान्मतात्प्रच्यावितो भवति" इस पर कैयट का मत— "तत्र कस्य किं मतं यत्प्रच्यावितं स्यात् उच्यते विकल्पप्रतिपादनाय वा ग्रहणं एव पूजा भवति — यदि येनाचार्येण यः शब्द स्मृतः स तेनैव स्मृतत्वेनोपदिश्यते। एवं हि स्मृतत्वेन प्रमाणत्वेन स्तुतिः कृता भवत्येवं वा गार्ग्यगालवयोरित्यादावने-काचार्योपादनेनापि सिद्धत्वात्" कैयट का तात्पर्य है जिस आचार्य का स्मरण जिस सूत्र पर किया है— इससे मुतरां सिद्ध है आचार्य पाणिनि ने सिद्ध निष्पन्न शब्दों को स्मरण कर स्मृताचार्या न्वित अपने शब्द शास्त्र का परिभाषण किया। मेरा स्पष्ट मत है आचार्य पाणिनि से पूर्व अनेक प्रामाणिक शाब्दिक व शब्द प्रवक्ता थे, जिन्होंने लोक प्रयुक्त पारम्पर्येण नित्य विद्यमान शब्दार्थ को स्मरण कर अपने शब्दशास्त्रों का अन्वाख्यान किया था। जिनका स्मरण पाणिनि ने स्थान स्थान पर अपने सूत्रों में पूजाबुद्धि से किया है, मेरे इस मत का औचित्य "न वेति विभाषा" इस सूत्र पर कैयट की निम्न पंक्ति से सिद्ध हो रहा है— अनादित्वाच्छब्दस्य।

१. अनादित्वात् शब्द व्यवहारस्य नित्यत्व पक्षे नास्ति प्रयोक्तृत्वनियमः। केवलं गालवः स्मृतत्वेन स्मृतोस्य शास्त्रस्य प्रामाण्यं प्रतिपादयितुमिति पूजार्थमाचार्यग्रहणम्। शास्त्रस्य ह्यनाद्यर्थप्रतिपादक-त्वात् पूजा भवति। नागेश—पूजार्थमित्यस्य स्वशास्त्रपूजार्थम् गालवः स्मर्त्तानान्यः।"

२. "तृषिमृषि०" सूत्र पर पूजार्थ शब्द की व्याख्या प्रदीप टीका के अनुसार निम्न है— "शास्त्रस्य पूजा पारम्पर्यप्रतिपादनेऽनादित्वात् प्रामाण्यम् प्रतिपादनात्।"

३. सिद्धे शब्दार्थ नागेश "शब्दादीनां नित्यत्वं, व्याकरणनिष्पाद्यत्वमित्यर्थः" "प्रवा हनित्यता चाने-नोक्ता। तन्नाशेपि तद्धर्मो न नश्यति आश्रयप्रवाहाविच्छेदादिति भावः।"

४. "वृद्ध व्यवहारादेव पदार्थ सम्बन्धना नित्यत्वं संग्रहादौ स्थितमिति व्याख्यानतः सिद्ध शब्देन तदेवोपात्तमित्यर्थ।"

उपर्युक्त वक्तव्य से यह भी सिद्ध हो गया कि शब्द साधुत्व आचार्यकृत नहीं है। व्याकरण तो लोकप्रयुक्त शब्दों की काल्पनिक प्रकृति-प्रत्यय आदि विशेष प्रक्रिया का ज्ञान कराता है। इस सम्बन्ध में "सिद्धे शब्दार्थ सम्बन्धे चेति" पर नागेश का मत है। "शब्दादीनां नित्यत्वमिति"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्याकरण शब्दों का निष्पादन नहीं करता क्योंकि शब्द नित्य है। "कर्तुरीप्सिततमं कर्म" सूत्र पर कैयट का मत—**लोकः शास्त्रं सामान्येन निर्दिश्यते, लोके प्रयुज्यमानत्वात् शास्त्रे चोदा ह्रियमाणत्वात्।** लोक में जो अर्थ प्रयुक्त है व्याकरण शास्त्र उसका अन्वाख्यान करता है— "**प्रत्ययः**" सूत्र पर नागेश की अन्वाख्यान के सम्बन्ध में निम्न धारणा है— **प्रतिपादकानामिति अर्थ प्रतिपादकत्वेन लोके सिद्धाना मित्यर्थं। उपाय भावेनेति** काल्पनिक प्रकृति प्रत्यय विभागमुपायत्वेनाश्रित्यान्वाख्यानात् इत्यर्थः।

अन्वाख्यान का तात्पर्य साधु शब्दों का नियमन नहीं अपितु निष्पन्न शब्दों के साधुत्व का ज्ञापन जैसा कि कैयट ने "**षष्ठिकः षष्टिरात्र्येण पच्यन्ते**" सूत्र पर लिखा है **प्रतिपाद्यते न त्वर्थे नियोगः क्रियते।**

उपयुक्त संपुष्ट व परिपुष्ट प्रमाणों से सिद्ध होता है कि आचार्य पाणिनि व्याकरण के स्मर्ता है कर्त्ता नहीं और इस पक्ष को सिद्धान्ततः स्वीकार कर लेने के बाद स्वतः सिद्ध हो जाता है प्राग्पाणिनि शब्दकारों के शब्द प्रवक्तृत्व विषयक अन्वाख्यान परक अनेक शब्दानुशासन थे जिनसे पाणिनि ने अपने शब्दानुशासन में सहायता ली।

पाणिनि पूर्व आचार्यों के सम्बन्ध में विविध व्याकरणपरक ग्रन्थों में हमें संकेत मिलते है— इनकी साक्षियों के आधार पर पाणिनि पूर्व आचार्य सिद्धान्त की संपुष्टि होती है। पदमंजरीकार, न्यासकार, कैयट, नागेश, महा भाष्यकार आदि अष्टाध्यायों के सूत्र विषयक विवरण, प्रस्तुतीकरण में यह संकेत देते हैं— आचार्य पाणिनि ने प्राग्पाणिनि आचार्यों से स्वकीय शब्दानुशासन में पूर्ण सहायता ली। मैं क्रमशः उपर्युक्त भाष्यकार और टीकाकारों के मतों को यहाँ प्रस्तुत करूंगा।

पदमंजरीकार— काशिका के दार्शनिक पक्ष को रखते हुए हरदत्त ने पदमंजरी नामक टीका लिखी है। कहीं-कही काशिका का खण्डन करते हुए भाष्यकार के पक्ष को प्रमुखता दी है। नागेश ने **बृहच्छब्देन्दुशेखर** आदि अपने ग्रन्थों में आपके मतों को प्रस्तुत किया है। जिसके नागेश जैसे अनुगामी हों उनकी व्याकरण विषयक प्रखरता को कौन स्वीकार नहीं करेगा, पदमंजरीकार ने "**उपज्ञाते**" सूत्र पर काशिका में उदाहरण स्वरूप "पाणिनीयमकालकं **व्याकरणम्, काशकृत्स्न-गुरुलाघवं, दुष्करणम्**" दिये वाक्यों को अपने शब्दों में इस प्रकार व्युत्पत्ति करके बताया "**गुरुलाघवं नामार्थंशास्त्रम् यत्रोपायानां गौरवं लाधवं चिन्त्यते। "दुषू" इत्ययं संकेतशब्दो यत्र क्रियते यथा पाणिनीये "वृत" इति तद् दुष्करणं व्याकरणम्**"—पदमंजरी।

२. **कृते ग्रन्थे** सूत्र पर "**तित्तिरिवर्तन्तु इत्यादीनि सूत्राण्यत्र प्रकरणे न पठितानि, तित्तियदियो हि छन्दसां प्रवक्तारो न कर्त्तारः, नित्यानि छदांसि न केनचित् क्रियन्ते**—पदमंजरी

३. **ऋदुशनस्पुरु०** सूत्र पर **वैयाघ्रपद्य आचार्य** को माना है— "**तथा व्याघ्रपदां व्याघ्रपादपत्यानां वरिष्ठो वैयाघ्रपद्य आचार्यः नपुंसके नपुंसक सम्बन्धीनि**—पदमञ्जरी।

४. पदमंजरीकार ने "**मात्रोपज्ञोपक्रमच्छाये० सूत्र पर** निम्न पंक्ति में एक आचार्य का संकेत किया है "**फिषति आदिमेन योगेन शान्तनवीयं चतुष्कं सूत्रमुपलक्षयति तत्र समुद्रशब्दः सागरार्थत्वादन्तोदात्तः।**"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

५. "संख्या वंश्येन" सूत्र पर पदमंजरीकार ने काशिका के "द्वौ मुनी" उदाहरण की व्याख्या इस प्रकार की है—"**पाणिनिकात्यायनौ" त्रिमुनि तौ च भाष्यकारश्च । जन्मनात्वैक लक्षणस्योदाहरणम् — एकविंशति भारद्वाजम्**" । न्यासकार इस सम्बन्ध में मौन हैं किन्तु पदमंजरीकार ने **एकविंशति** भारद्वाजा: **के सम्बन्ध में "तृतीया सप्तम्यो:**" सूत्र पर लिखा है—"**तत्रवर्तीपदार्थानां स्वार्थोपसर्जनार्थान्तराभिधायित्वाद् भारद्वाजशब्द: ।**"

६. "**हनोवध लिङि**" सूत्र पर आचार्य पाणिनि की शैली के विषय में बताते हुए—"**कुत एतत्**" से संकेत किया कि यह शैली प्राक्पाणिनीय है । "**कुत एतत् शैलीयमाचार्यस्य यत्र व्यंजनान्त आदेशस्तत्रैकारमुच्चारयति**" इस शैली का अनुकरण निःसन्देह आचार्य पाणिनि ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों की शैली से प्रभावित होकर किया है । ७. "**आचार्योपमर्जन**" सूत्र पर पदमंजरीकार ने **पूर्वपाणिनीयं की** व्याख्या निम्न प्रकार से की— "**पाणिनीयं शास्त्रं पूर्वं चिरन्तनमित्यर्थ:**" । ८. '**तेन प्रोक्तम्**" सूत्र पर प्राक्पाणिनि प्रमाणित करने के लिए यह पंक्ति महत्वपूर्ण है—**स्वय-मन्येन वाकृतं यत् पाणिनिना प्रोक्तम्, अध्यापनेनार्थ:—व्याख्यानेन वा प्रकर्षेणाप्रकाशितमित्यर्थ: । न तु कृतं, पाणिनिना प्रोक्तम्**" इससे स्पष्ट होता है कि पाणिनि का शब्दानुशासन प्रोक्त है कोई नवीन व्याकरण रचना नहीं । पदमंजरीकार की निम्न व्याख्या से स्पष्ट हो जायगा कि पाणिनि पूर्व आचार्य के होने का क्या रहस्य है :— "तत्र ये साधवस्ते शास्त्रणानुशिष्यन्ते साधुभ्यो विविक्ता: प्रकृतिप्रत्ययविभागेन ज्ञाप्यन्ते— इमे साधव इति । कथं पुमरिदमाचार्येण पाणिनिना वगतमेते साधव इति ? आपिशलेन पूर्वव्याकरणेन । आपिशालिना तर्हि केनावगतम् ? ततः पूर्वेण व्याकरणेन । यथेवम् अन्धपरम्परा प्रसङ्ग:, तद्यथाशुक्लं क्षीरमित्यन्धेनोक्ते, केनेदमवगतमिति पृष्टो यदान्धन्तरं मूलं निर्दिशति, सोप्यन्धान्तरम्, तदा नतद्वच: शौक्तये प्रमाणं भवति, तद्वेतत् ? नैष: दोष: सर्व एव हि ते स्वे स्वे काले गाव्यादिभ्यो विविक्तान् गवादिशब्दान् प्रत्यक्षत एवोपलभन्ते । चत्वारो वेदा ऋग्यजु: सामथर्वणलक्षणा: । तत्र ऋग्वेद एकविंशतिधा भिन्न:, एकशतं यजु: शाखा:, सहस्रवर्त्मा सामवेद:, नवधाथर्वणो वेद:, षडङ्गानि, मीमांसान्यायविस्तर:, अष्टादश पुराणानि, अनन्तान्युपपुराणानि, अष्टादश स्मृतय:, अनन्ता उपस्मृतय: भारतरामायणादिरितिहास:, आयुर्वेद:, धनुर्वेद:, गान्धर्वोऽर्थशास्त्र काव्यानि नाटकानि — एतावान् प्रयोगस्य विषय: । तद्यस्यात्र सर्वत्र निष्ठा, स तावत्सर्वानेव व्याकरणानुगतान् शब्दान् प्रत्यक्षयति । व्याकरणेन च पूर्वस्मिन्नपि काले तेषां सत्तामनुसन्धत्ते, एषा अस्मदादीनां गति: । पाणिनिरपि स्वकाले शब्दान् प्रत्यक्षयन्नापिशलादिना, पूर्वस्मिन्नपि काले सत्तामनुसन्धत्ते । एवमापिशालि: अनादिरयं समार: ।" पाणिनिपूर्व आचार्य इस विषय में पदमंजरीकार हरदत्त के परिपुष्ट प्रमाण प्रस्तुत करने के अनन्तर बोधिसत्वदेशीय आचार्य जिनेन्द्रबुद्धि कृत काशिका पर टीका "न्यास अपर नाम "काशिका विवरण पंजिका" की साक्षिणं नितान्त अपेक्षित है । आचार्य जिनेन्द्र ने काशिकावृत्ति के एक–एक पद को खोलने के लिए न्यास नामक टीका लिखी, इस टीका के सहारे अल्पायु के व्याकरण पिपिठिषु भाष्य के गम्भीर स्थलों की सामान्य परिश्रम से लगा लेते हैं । सूत्र के पदकृतों पर ऊहापोह से आद्योपान्त विचार किया गया है, इसकी अपनी एक मौलिकता है, इस स्थल पर उसका उद्घाटन करना आचार्य जिनेन्द्र के साथ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पूर्ण न्याय होगा ऐसी मेरी संमति है । आचार्य जिनेन्द्र वैदिक मतानुयायी न होते हुए भी जिस प्रकार स्वर विषय के सूत्रों की व्याख्या करते हैं उससे प्रतीत होता है पाणिनि व्याकरण ने उन्हें आस्तिक बना दिया। १. "**आचार्योपसर्जनश्चान्तेवासी**" सूत्र पर न्यासकार ने **आपिशल एवं काशकृत्स्न** उभयाचार्यों की ओर उनके द्वारा प्रोक्त शास्त्रों की प्रामाणिकता को स्वीकार किया है— "**आपिशलिराचार्य इति**" काशकृत्स्नेन प्रोक्तमित्यण्, तदधीयते काशकृत्स्नाः । **तत्र ते चे यत आचार्यादधीयते । तस्यान्तेवासिनः । आपिशल पाणिनिये शास्त्र इति । आपिशलिना प्रोक्तमापिशलम् । पाणिनिना प्रोक्तं पाणिनीयम् । यत्र शास्त्रं प्राधान्येनोच्यते तत्र प्रत्ययस्य विधानाचार्यः प्रधानऽभूतः, तद्विशेषणत्वात् आचार्यत्वं तस्येह शास्त्रापेक्षम् । न ह्याचार्यतान्तेवास्यपेक्षैव भवति अपितु शास्त्रापेक्षापि**" । २. "**संख्यावंश्येन**" सूत्र पर न्यासकार द्वारा— तद्वतां से अन्य आचार्यों की ओर संकेत किया गया है "**विद्ययेति व्याकरणाख्यया । तद्वतामिति पाणिनिप्रभृतीनाम्**" इस सम्बन्ध में शब्द—**कौस्तुभ दीक्षितकृत** में निम्नरूप से व्याख्यान है— **विद्यया सह तद्वतां भेदोपचारादिति वृत्तिकाराः दृष्टव्याः** । ३. न्यासकार ने एक अन्य स्थान पर **आपिशल एवं काशकृत्स्न** के अक्षरशः नामों का उद्धरण देते हुए प्रोक्त की व्याख्या की है— प्रकर्षेणोक्तम् इति प्रकर्षः अतिशयः व्याख्यातं तदध्यापितं वा प्रोक्तं न तु कृतम् । माथुर शब्दादण् । पाणिन शब्दात् छः । आपिशलं, काशकृत्स्नम् । आपिशलि काशकृत्स्नशब्दाभ्यां इञश्च इति अण् । ४. आचार्योपसर्जन सूत्र पर भी काशकृत्स्न नाम का प्रयोग किया है— "**पाणिनीयं शास्त्रं— पाणिनिना प्रोक्तं पाणिनीयं, पूर्वकाशकृत्स्न—काशकृत्स्नस्येमेकाशकृत्स्नाः** ।

कैयट

भाष्य के गम्भीर आशय को समझने के लिए, महाभाष्य पर कैयट कृत "प्रदीप" टीका परम आवश्यक है। यदि कैयट विरचित "प्रदीप" टीका न होती तो भाष्य की कतिपय पंक्तियां अन्धकार में रहती। इसका अनुभव भाष्य को आद्योपान्त लगाने वाले अध्ययनार्थियों को है । आजीवन, कृतसंकल्प भाष्य पठनार्थियों का उद्घोष है कि "प्रदीप" के बिना भाष्य लग ही नहीं सकता । नागेश ने प्रदीप टीका को कितना **स्थान दिया है** यह नागेश कृत "उद्द्योत टीका के प्रारम्भिक श्लोकों के चतुर्थ श्लोक से **प्रतीत** होता है —"भाष्य प्रदीप व्याख्यानं कुर्वेहं तु यथामति ।" आचार्य कैयट ने "**पूर्वसूत्रनिर्देशः**" वार्तिक प्राक्पाणिनीय सामग्री का संकेत किया है ।"**अनुपसर्जनात्**" ४/१/१४ सूत्र पर तृतीय वार्तिक की इस प्रकार से पठित है "पूर्वसूत्र निर्देशोवापिशलमधीत इति । कैयट कृत प्रदीप **में "पूर्वसूत्र निर्देशः**" की व्याख्या "**पूर्वसूत्र" शब्देन पूर्वाचार्यकृतं व्याकरणमुच्यते**" । **आपिशलिना प्रोक्तमिति 'इञश्च' इत्यण** । की गई है । यत्तदेतेभ्य० "भावः सिद्धश्चडावतोः" वार्तिक पर 'पूर्वाचार्य' का संकेत दिया है "पूर्वाचार्यप्रक्रियापेक्षो निर्देशः । इह तु वसुप् विधायासर्वनाम्न" इत्यान्वं विहितं । पूर्वाचार्यस्तु डावतुं विदधिरे । चितः ६/१।१६३ 'चितः' सप्रकृतेर्बह्वकजर्थम्' वार्तिक पर 'पूर्वसूत्र निर्देशश्च की व्याख्या 'पूर्वव्याकरणे **प्रथमया कार्यी** निर्दिश्यते । तेन चित्त्वान् समुदायोन्तोदात्तवम् प्रतिपद्यत इत्यर्थं । "**भूवादयोधातवः**" सूत्र पर कैयट ने अथवा से पूर्वा-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चार्य का संकेत दिया है 'अथवापूर्वाचार्यैः कैश्चिददतिः प्रत्ययत्वेन कल्पित इति तदपेक्षयैतदुक्तम् । **औङ आपः** ७/१/१८ सूत्र पर भाष्यकार ने प्रश्न किया '**किमर्थोङकारः**' ? उत्तर में यह है प्रथमा के द्विवचन द्वितीया के द्विवचन का ग्रहण हो '**सामान्य ग्रहणार्थं**' यदि नहीं करते तो 'औ इत्युच्माने प्रथमा द्विवचनस्यैवस्यात् । औरङकार ग्रहण करने से "अथाप्यौङित्युच्यत एवमपि द्वितीयाद्विवचनस्यैवस्यात्" । औङ के सम्बन्ध में कैयट का विचार है—'**औङ इति भूतानुवादः** । भाष्यकार ने इस सूत्र पर दो कारिकाएं दी हैं । द्वितीय कारिका की अंतिम पंक्ति में पूर्वसूत्रेण का प्रयोग किया है । यह अथवा में दिया है 'वर्णश्चायं तेन ङित्वे-प्यदोषोनिर्देशोयं पूर्वसूत्रेण वा स्यात् । अथवेति के आगे कैयट 'पूर्वाचार्यैर्ह्ं अपि द्विवचने-ङितौ पठिते । न चेह क्वचिदप्यौङ.प्रत्ययोस्तिसामान्यग्रहणार्थंचपूर्वसूत्र **निर्देशस्तेन यः** पूर्वसूत्र औङ् तस्य ग्रहण भवतीति प्रथमा द्वितीयाद्विवचनयोर्ग्रहणसिद्धिः । उपर्युक्त **कैयट के** वक्तव्य से स्पष्ट है **प्राक्पाणिनीय** कोई ऐसा शब्दानुशासन था जिसमें **औङ से प्रथमा व द्वितीया विभक्ति** के द्विवचन का ही ग्रहण होता होगा । आचार्य पाणिनि **ने** निस्सन्देह उसी **औङ्** का ग्रहण अपने **शब्दानुशासन** में किया है । **अह्नोदन्तात्** ८/४/७ सूत्र पर भाष्यकार ने **पूर्वसूत्र निर्देशश्च** का किया है जिसकी कैयट ने व्याख्या की है **'पूर्वसूत्रनिर्देश-श्चेति । पूर्वाचार्यैः कार्यभाजः षष्ठ्या न निरदिक्षन्नित्यर्थः** । प्रत्याहाराह्निक में भाष्यकार ने स्वयं लिखा है—'वर्णवाहु' पूर्व सूत्रे--

अथवा पूर्वसूत्रे वर्णस्याक्षरमिति संज्ञा क्रियते । इस सम्बन्ध में भर्तृहरि कृत महाभाष्य दीपिका की निम्न पंक्ति द्रष्टव्य है । "**एवं ह्यन्ते पठन्ति वर्ण अक्षराणि**" ति । **वर्णवाहु** :- पर कैयट का मत भी निर्णायक है— **रूढिरियं वर्णस्येत्यर्थ । पूर्वसूत्र इति । व्याकरणान्तरे वर्णा अक्षराणि इति वचनात्** । कैयट ने **तिङस्त्रीणि०** १/४/१०१ सूत्र पर संकेत किया "**प्रथममध्यमोत्तमाः**" संज्ञाएं आचार्य पाणिनि ने प्राक् शब्दानुशासन से गृहीत की हैं । प्रदीप— "**प्रथममध्यमयोरिति । प्रसिद्धत्वाश्रित्येतदभिधीयते**" । "**विरामोऽवसानम्** १/४/११० यहाँ कैयट ने **केचित्** पद से प्राक्पाणिनीय की ओर संकेत किया है "**अभावो वेति । केचिदभावो वसानमिति पठन्ति, अन्ये तु विरामो वसानमिति, तत्र युक्ता युक्त विचारः क्रियते ।**" व्याकरण का एक सिद्धान्त है— व्याकरण शब्दों का परिपूर्ण से अन्वाख्यान नहीं करता जैसा कि **कैयट** ५/१/५९ सूत्र पर लिखा है— "**अशक्यो वा आनन्त्यात् सर्वशब्दानुगमः ।**" "**कैयट के** इस सिद्धान्त का अनुमोदन पाणिनि के सूत्रों से हो रहा है । पाणिनीय अष्टक मे **बहुलं** का प्रयोग एकादश सूत्रों में हुआ है । भाष्यकार **ने** स्वयं लिखा है "**आचार्य खल्वपि संज्ञामारभमाणो भूयिष्ठान्येरपि शब्दैरेतमर्थं सम्प्रत्याययति — बहुलं, अन्यतरस्यां, उभयथा, वा, एकेषामितिः**" **उणादयो०** ३।३।१ सूत्र पर बहुलंकीव्याख्या कैयट ने इस प्रकार से की है—'**अपरिपूर्णता हि पूर्णत्वं बहुग्रहणेन क्रियते** । निस्सन्देह सूत्रों का **प्रयोग अतिदिष्टि रूप** से होना चाहिए । इसी सूत्र में कैयट की इस आख्या से प्रतीत होता है पाणिनि से पूर्व भी बहुलं शब्द का प्रयोग होता था । '**अन्यैरप्याचार्यैः शब्दानां प्रकृत्यादिविभागेन व्युत्पादनमभ्युपगतमित्याह ।**" उपर्युक्त प्रमाणों से सिद्ध होता है कि प्राक् पाणिनीय अनेक शब्दानुशासन **थे जो** पूर्ण रूप से ही शब्दों के अन्वाख्यान में परिपूर्ण नहीं थे उसी के आगे पाणिनीय शब्दानुशासन एक सफल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रयास है । नागेश के शब्दों में "**पाणिनिना बोधत साधुत्वमेन सुसाधुत्वम् सम्प्रति प्रयोगार्हत्वात् । शताच्च० ५/१/२६** सूत्र पर कैयट ने आपिशल **काशकृत्स्न** को स्मरण किया है । "आपिशलकाशकृत्स्नयोस्त्वग्रन्थे" इति वचनादन्यत्र प्रतिषेधा भावाः । नियतकालाश्चस्मृतयो व्यवस्था हेतव इति मुनित्रयमतेनाद्यत्वे साध्वसाधु प्रविभागः । **ऋतो० ७/२/६३** सूत्र पर कैयट ने भारद्वाज का वैकल्पिक करके मत दिया है '**तत्र भारद्वाजस्येति वचनात्स्मृत्यन्तरानुसंधानाद्विकल्पः प्राप्नोति**" । कैयट ने यह भी संकेत दिया है प्राक्पाणिनीय शब्दानुशासनों में जिन-जिन आचार्यों से जिन शब्दों का अन्वाख्यान किया है, पाणिनीय शब्दानुशासन में जहां जहां वा का ग्रहण सूत्रों में किया गया है वह सब सामग्री पूर्ववर्ती आचार्यों से ली गई है या उनके मतों को प्रकाश में लाना अभीप्सित है जैसा कि "उच्यते-विकल्प प्रतिपादनाय वा ग्रहण एव कर्तव्ये पूजनार्थमाचार्या उपादीयन्ते साचैवं पूजा भवति यदि तेनाचार्येण यः स्मृतः स तेनैव स्मृतत्वेनोपदिश्यते । एवं हि तस्य स्मृतृत्वेन प्रमाणत्वेन कृता भवत्येवं चाङ्गार्ग्यगालवयोरित्यादा वनेकाचार्योपादानमर्थवद् भवति । विकल्पस्यैकाचार्योपादानेनापि सिद्धत्वात् । कैयट की प्रामाणिक '**तर्कान्वित**' साक्षियों से सुतरां सिद्ध है । प्राक्पाणिनीय अनेक शब्दानुशासन थे ।

नागेश

भाष्य पर कृत भूरिपरिश्रम नागेश ने भाष्य को ही आधार मानकर कई स्थलों पर कैयट को "**चिन्त्यं**" पद से उद्बोधित किया है । कई स्थानों पर 'चिन्त्यं' ही नहीं 'असङ्गतं' का भी प्रयोग किया है । प्राक्क० सूत्र पर नागेश की पंक्ति प्रस्तुत है "एवं च किमित्यवकाशनिराक्रियेति शंका, तत् समाधानञ्चकैयटोक्तमसंगतमेव पूर्वपक्षिणो ज्ञानस्यावश्यकत्वात्' चिन्त्यं–'तत्रगति संज्ञाभावेन गतिसमासाप्राप्तेरत्राह-भाषायांत्विति । चिन्त्यमेतत्" वैयाकरण निकाय में यह सर्वमान्य उक्ति है, भाष्य के गूढाशय को उद्घाटित करने में नागेश कृत 'उद्योत' सबल टीका है । नागेश ने 'उद्योत' टीका में प्राक्पाणिनीय सामग्री का संकेत किया है उसको संक्षिप्त में रखा जा रहा है । इस सम्बन्ध में नागेश की संस्तुतियां पूर्ण रूप से प्रामाणिक मानी जानी चाहिए । नागेश ने नीरक्षीरविवेक से सत्य को संस्थापित किया है । पस्पशाह्निक में नागेश ने 'केषां शब्दानां' पर अपनी व्याख्या इस प्रकार दी है- 'केषांमिति प्रश्नस्तु' लौकिकमात्रविषयशाकटायनादिशास्त्रमधिकृतम्, उत वैदिकमात्र विषयं प्रातिशाख्यं इतीतिपरे ।" नागेश के वक्तव्य से स्पष्ट हो गया कि पाणिनि से पूर्व दो प्रकार के शब्दानुशासन थे । लौकिक विषय को अधिकृत कर शाकटायन आदि शब्दानुशासन और वैदिक व्याकरण प्रातिशाख्य के रूप में निबद्ध थे । "शाकटायनादि" यहाँ 'आदि' शब्द से अनेक आचार्यों के शब्दानुशासनों का संकेत कर दिया है । निस्सदेह आचार्य पाणिनि ने अपने वैदिक व्याकरण सूत्रों में अपने से पौर्वकालिक वैदिक व्याकरण परक प्रातिशाख्यों से पूर्ण सहायता ली है । और लौकिक शब्दों के अन्वाख्यान में अपने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से पूर्ववर्ती लौकिकव्याकरण परक शाकटायन आदि के शब्दानुशासन से सहायता ली है। नागेश का मत है — पाणिनि व्याकरण लौकिक और वैदिक दोनों प्रकार के शब्दों का अन्वाख्यान करता है। शाकटायन के समान एक विषय का ही नहीं "**लोकवेदसाधारणतया पाणिनीयशब्दानुशासनस्यैवात्राधिकृत्वम् न तु शाकटायनादिव्याकरणस्य**"। नागेश ने यह भी यहां स्पष्ट किया है कि भाष्यकार ने "**केषां शब्दानां**"। **लौकिकनां वैदिकानां**। 'लौकिक का प्रयोग पूर्व में क्यों किया है ? इसके उत्तर में कहा—"**वैदिकानां प्रधानत्वेपि लौकिकानाम् पूर्वनिर्देशस्तद्ववदार-सूचनार्थः**।" लौकिक शब्द का प्रयोग पूर्व में भाष्यकार ने इसलिए किया है कि पाणिनीय व्याकरण "**स्मृतिग्रहणं पूजनार्थ**" के सिद्धान्त में पूर्ण विश्वास रखता है। शाकटायन आदि द्वारा प्रोक्त शब्दानुशासनों के प्रति पूजामात्र के लिए '**स्मरणार्थ**' 'लौकिक' को पूर्व में रखा है। न वेति विभा० १/१/४४ सूत्र पर नागेश ने भाष्यकार "**प्राक्षुचैव हि फिन् स्यात्**" पंक्ति को निम्न रूप में खोला है—"**प्राक्षुचैवेति। प्राग् देश एव फिन् प्रयोगः स्यात्**" इसी के आगे **गालव आचार्य** को स्मरण करते हुए अन्य आचार्यों के मतों को संकेत रूप में बताया है "**एवं च गालवातिरिक्त शिष्टैरपि प्रयुज्यमानत्वान्नियमासंभवः**।" इसी सूत्र में प्रकारान्तर से गालवाचार्य का नाम दिया '**गालवः स्मर्ता नान्यः**' इति। नागेश ने 'तत्कीर्त० वार्तिक को खोला **आचार्य देशकीर्तने चेत्यर्थं। यस्य कार्याः शब्दस्तस्येति**।" **तिङस्त्रीणि०** १/४/१०१ सूत्र पर नागेश ने **प्रथम मध्यमादि** संज्ञाओं के सम्बन्ध में बताया 'प्रथमध्यमेत्यादि महासंज्ञाकरणं तु प्राचामनुरोधेनैवेति' यहाँ नागेश ने 'प्राचां' बहुवचन का प्रयोग किया है। नागेश के इस वचन से अनुमान लगाया जा सकता है पाणिनि शब्दानुशासन से प्राच्य (प्राचीन) काल में अनेक प्राचीन आचार्यों द्वारा प्रोक्त विविध शब्दानुशासन थे जिनमें '**प्रथम, मध्यम, उत्तम**' संज्ञाओं का प्रयोग होता था।

विभक्तिश्च १/४/१०४ सूत्र पर भी नागेश ने प्राचीन वैयाकरणों के सम्बन्ध में संकेत किया। "**तौ च समुदायौ प्राचां वैयाकरणानां प्रथमाद्वितीयादिसंज्ञत्वेन प्रसिद्धावेव गृह्येते**।" "**विरामो-वसानं**" सूत्र पर नागेश ने '**अन्ये**' से पाणिनि पूर्व आचार्यों की ओर संकेत दिया है '**इदानीं अपर आहेति व्याख्यानकाले। अन्ये तु वर्णानामभाव**" इत्युक्ते। **अव्ययविभक्ति०** २/१/६ सूत्र पर नागेश ने महासंज्ञाकरण के सम्बन्ध में प्राचीन आचार्य की ओर संकेत किया "**अन्वर्थसंज्ञाविज्ञानादिति। प्राचीनोक्त महासंज्ञाकरणेन तत्संमतोऽर्थोऽप्यस्य संमत इति भावः**।" पाणिनीय व्याकरण परिपूर्ण रूप से समस्त शब्दों का अन्वाख्यान नहीं करता इस सम्बन्ध में नागेश का मत दिखाना अत्यन्त आवश्यक है। 'उणादयो० ३/३/१ पर 'सर्वाभ्यः प्रकृतिभ्यः सर्वप्रत्ययानां तत्तद्रूपेण विधानन्तु ब्राह्मणापि दुरूपपा दमिति।" नागेश ने धातु की महत्ता को आकारित कर निरुक्तकार के निरुक्त व शाकटायन के स्वकृत व्याकरण के सम्बन्ध में बताया "**धातुजं नामेत। निरुक्ते आह निरुक्तकारः, शाकटायनश्च स्वकृते व्याकरणे आह "धातुजं नामेति" भाष्यैन्वयः**।" निस्सन्देह दोनों आचार्यों का व्याकरण परक शब्दानुशासन होगा। दोनों के शब्दानुशासन में निर्दिष्ट धातुज सिद्धान्त पाणिनि ने अपने शब्दानुशासन में अपेक्षित रूप से लिया होगा। **अनुपसर्जनात्** ४/१/१४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सूत्र पर नागेश ने आपिशल आचार्य का निर्देश दिया है । "ननु 'आपिशल' शब्दात् प्रोक्तार्थे छेन भाष्यमत आह" । ऋतो० ७/२/६३ सूत्र पर भारद्वाज आचार्य का नाम दिया है — **पूर्वयोगेभारद्वाजग्रहणं कृत्वातदेव द्वितीये योगेऽनुवर्त्यते ।" प्रदीप** । प्राक्पाणिनीय आचार्यों के सम्बन्ध में 'नागेश द्वारा प्रदत्त निर्देशपूर्ण प्रामाणिक हैं ।

काशिका

'काशिका' अष्टाध्यायी पर एक स्वतन्त्र वृत्ति लिखी गई है । वृत्ति के लक्षण के अनुसार स्वयं में पूर्ण है ; हरदत्त ने पदमंजरी में 'वृत्ति' की निम्न व्याख्या की है **"तत्र सूत्रार्थ प्रधानो ग्रन्थोवृत्तिः"** । पाणिनि सूत्रों पर अनेक वृत्तियाँ लिखीं गईं थीं जैसा कि काशिका के व्याख्याकार (टीकाकार) आचार्य जिनेन्द्रबुद्धि, हरदत्त ने स्वयं संकेत दिया **न्यास—'तत्र च वृत्तिः – पाणिनिप्रणीतसूत्राणाम् विवरणम् – चूलिभट्टनल्लूरा-दिविरचितम्"** यहाँ आदि शब्द से अनेक वृत्तिकारों का निर्देश है। पदमंजरी—**'तत्र सूत्रार्थप्रधानोवृत्तिः सा चेह पाणिनिप्रणीतसूत्राणां कुणिप्रभृतिभिराचार्यैविरचितंविवरणं । इदानीन्तनः** पाणिनीय सूत्रों पर भाष्य को सर्वथा प्रामाणिक माना जाता है । काशिकाकार स्वयं लिखता है 'वृत्तौ भाष्ये तथा धातुनांपारायणादिषु। विप्रकीर्णस्य तन्त्रस्यक्रियते सारसंग्रहः। निस्सन्देह काशिका में भाष्य के सिद्धान्ता आधारभूत हैं किन्तु काशिकाकार की मौलिक विशेषता यह है कि इसने अष्टाध्यायी पर लिखी विविध वृत्तियों को ध्यांन में रखते हुए गणपाठ आदि को सुरक्षित रखा है । और पाणिनि से पूर्ववर्ती – प्राक् पाणिनीय सामग्री आचार्यों का संकेत दिया है । यह वृत्ति पूर्ण रूप से आजकल समुपलब्ध है । अतः प्राक्पाणिनीय आचार्यों की प्रामाणिकता के विषय में पूर्ण रूपेण भूमिका पाथेय का कार्य करती है । कहीं दुरुहता होने पर उसकी टीकायें 'न्यास' पदमंजरी' सरलता की दिशा में पूर्ण उपयोगी हैं। काशिकाकार के प्राक् पाणिनीय आचार्य या आचार्यों द्वारा शब्दानुशासनों के सम्बन्ध में मन्तव्यों को आगे दिया जा रहा है जो 'पाणिनि पूर्व आचार्य' विषय में अत्यन्त सहायक होंगे । काशिकाकार ने **भूवादयो०** १/३/१ सूत्र पर धातु संज्ञा के विषय में बतलाते हुए प्राक्पाणिनि शब्दानुशासन की ओर संकेत किया है 'धातु शब्दः' पूर्वाचार्यसंज्ञा । ते च क्रिया-वचनानां संज्ञा कृतवन्तः । तदिहापिपूर्वाचार्यसंज्ञाश्रयणात् क्रियावाचिनामेव भूवादीनां संज्ञा विधीयते" आचार्य पाणिनि ने अपने से पूर्ववर्ती किसी शब्दानुशासन से धातु संज्ञा को अपने सूत्र में प्रयोग किया है । काशिकाकार ने **संख्याया संज्ञा०** ५/१/५८ सूत्र पर पाणिनि शब्दानुशासन के अतिरिक्त अन्य दो आचार्यों द्वारा कृत शब्दानुशासनों के अध्यायों के परिमाण को बताया है 'अष्टावध्यायाः परिमाणमस्य सूत्रस्य अष्टकम् पाणिनीयम् ।

१. दशकं वैयाघ्रपदीयम् । **२. त्रिकं काशकृत्स्नम्** । जिस प्रकार से पाणिनीय शब्दानुशासन आठ अध्याय वाला है उसी प्रकार से वैयाघ्रपदीय का दस अध्याय वाला शब्दानुशासन था । काशकृत्स्न को व्याकरण की **'त्रिक'** से सम्बोधित किया है । **तेन प्रोक्तम्** ४/३/१०१ सूत्र पर पाणिनीय, आपिशल, काशकृत्स्न,, आचार्यों ने किसी व्याकरण की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रचना नहीं की अपितु उनके शब्दानुशासन ग्रन्थ आचार्यों द्वारा प्रोक्त हैं । प्रकर्षेणोक्त प्रोक्तमित्युच्यते, न तुकृतम् । कृते ग्रन्थ इत्येन गतत्वात् । अत्येन कृता माथुरेण प्रोक्ता माथुरीवृत्तिः । पाणिनीयं, आपिशलं, काशकृत्स्नं । **तृतीया० सप्तम्यो०** २/४/८४ पर **"एकविंशतिभारद्वाजम्"** का संकेत दिया है । आगे 'बहुल का महत्व बताया **"बहुलवचनात् सिद्धम्"** । काशिकाकार ने **"लुपियुक्ति०"** १/२/५१ सूत्र पर **'व्यक्ति वचने'** को पूर्वाचार्यों के द्वारा परिभाषित शब्दानुशासनों की संज्ञा मानी है 'व्यक्ति वचने इति च लिंगसंख्ययोः पूर्वाचार्यनिर्देशस्तदीयमेवेदं सूत्रम् । **प्रधानप्रत्ययार्थ०** १/२/५६ सूत्र पर काशिकार ने **'पूर्वाचार्य'** शब्द का प्रयोग किया है 'ताभ्यामर्थवचनमनेनप्रकारेणभवतिपूर्वाचार्यैः परिभाषितम् ।'

पाणिनि से पूर्व अनेकानेन आचार्यो ने अपने शब्दानुशासनों में काल से सम्बन्धित विविध व्याख्याएं की थीं । आचार्य पाणिनि ने इस विषय को लोक के ही ऊपर छोड़ा । काशिकाकार ने **कालोपसर्ज०** १/२/५७ सूत्र पर लिखा 'इन्हान्यैर्वैयाकरणाः कालोपसर्जयोः परिभाषां कुर्वन्ति । आन्याय्यादुत्थानादान्याय्याच्चसंवेशनात् । एषोद्यतनः कालः । अपरे पुनराहुः । अहरुभयतोमर्द्ध रात्रं एषोद्यतनः काल इति । तथोपसर्जन परिभाषां कुर्वन्ति, अप्रधानमुपसर्जनमिति । तत्पाणिनिराचार्यः प्रत्याचष्टे लोकतोर्थावगतेः । इसी के आगे 'तथा च पूर्वाचार्याः परिभाष्यन्ते मत्वर्थे बहुव्रीहिः" । काशिकाकार ने निम्न स्थानों पर भी प्राक्पाणिनीय आचार्यों का संकेत किया है । १. आचार्यो प० ६।२।३६ : आपिशलपाणिनीयाः । रौढ़ीयकाशकृत्स्नाः । अन्तेवासिति किम् - आपिशलपाणिनीयेशास्त्रे । २. आचार्यो पसर्ज० ६/२१/० पूर्वकाशकृत्स्नाः । अपरकाशकृत्स्नाः । ३. ऋदुशः ७/१/६४ : माध्यंदिनिवष्टि गुणं त्विगन्ते नपुंसक व्याघ्रपदां वरिष्ठः । ४. अनुशति० ७।३।२० : अस्यहत्यइतिकेचित् पठन्ति ततोपि विमुक्तादित्वादण् । ५. कृते ग्रन्थे ४।३।११६ यत्तत्कृतं ग्रन्थश्चेत्स भवति । वररूचिनाकृतावाररुचाः श्लोकाः । हैकुपादोग्रन्थः । भैकुराटोग्रन्थः । जालूकः । ६. सूत्राच्च० ४।२।६५ : दशका वैयाघ्रपदीयाः । त्रिकाः काशकृत्स्नाः । इहं मा भूत्—'महावार्तिकं सूत्रधीते माहावार्तिकः । काशिकार की प्रामाणिक साक्षियों से सुस्पष्ट है कि पाणिनीय शब्दानुशासन में प्राक्पाणिनीय शब्दानुशासनों से पर्याप्त सहायता ली है ।

आचार्य पाणिनि कृत अष्टध्यायी के सूक्ष्म अध्ययन के अनन्तर हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि आचार्य की सूत्ररचना अत्यन्त विचित्र है जैसा कि काशिकाकार ने कहा है । **'कर्मणि च'** २।२।१४ सूत्र पर कहा है—**'विचित्रा सूत्रस्य कृतिः पाणिनिना'** सूत्रों में लाघव-दृष्टि से विविध शैलियों को अपनाया है । इन शैलियों का अनुकरण अपने से पूर्ववर्ती शाब्दिकों से किया है । यह परम सत्य है । **पाणिनीय अष्टकम्** में शब्द लाघव चरमोत्कर्ष पर है । इसी न्यून से न्यून शब्दों के प्रयोग में आचार्य को अनेक विचित्र शैलियों को अपनाना पड़ा । इन शैलियों में कहीं कहीं ऐसा मालूम होता है यह लाघव शैली अस्पष्ट व असमंजस आदि से ग्रसित तो नहीं किन्तु पूर्वापर प्रसंगों से जो समाधान निकलता है उसी में इन शैलियों का द्योतन होता है । इस सन्दर्भ में नागेश द्वारा कथित निम्न पंक्ति से हमको यह उद्बोधन होता है—**"व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्नहि**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सन्देहाद्लक्षणम्," । भाष्य परिभाषा। यदि कहीं सन्देह उद्भूत है तो व्याख्यान से निराकरण करना चाहिए चाहिए और व्याख्यान का अर्थ वृद्ध व्यवहारादेव पदार्थ संबन्धानां नित्यत्वं संग्रहादौ स्थितमिति व्याख्यानतः सिद्धशब्देन तेदेवोपात्तमित्यर्थः—वृद्ध व्यवहार किया है । अर्थात् प्राक्पाणिनीय प्रोक्त शब्दानुशासन को साक्षियों के आधार पर पूर्वापर प्रसंगों से लगाना चाहिए । यह मेरी कल्पना प्रसूत बात नहीं है इस परिभाषा का उद्धरण भाष्यकार ने किस रूप में दिया है पंक्ति प्रस्तुत है—**"संग्रह एतत् प्राधान्येन परीक्षितं नित्यो वास्यात् कार्यो वेति"** । शब्द नित्य है या अनित्य है इसके विशेष ज्ञान के लिये एक लक्षश्लोकान्वित संग्रह ग्रन्थ को देखना चाहिए जैसा कि नागेश ने लिखा है— **"संग्रहोव्याडिकृतोलक्षश्लोक संख्ययोः ग्रन्थ इति प्रसिद्धः"** इन अनेक विचित्र शैलियों का विस्तृत ज्ञान-महाभाष्य से ही पूर्ण अपेक्षित है । पाणिनि का शब्द लाघव जो अधिक से अधिक शब्दों का ज्ञान कराता है वह अत्यन्त विचित्र है इसकी संपुष्टि भाष्यकार ने इन शब्दों में की है— **"एवमर्थं खल्वपि आचार्यश्चित्रयति क्वचित् अर्थात् आदिशति क्वचिन्नेति** । भाष्य ३।१।११६ इस सम्बन्ध में कैयट कहता है कि विचित्र शैली का तात्पर्य क्या है उत्तर में—"अनेकमार्गमाश्रयत्यर्थः" **अनेक मार्गों** का आश्रयण ही विचित्र शैली का द्योतन है । अष्टाध्यायी में शब्दलाघव से विचित्र अधिक से अधिक **शब्दों में जान व्यङ्यात्मक शैलियों का प्रयोग** हुआ है । निःसन्देह आचार्य पाणिनि ने इन शैलियों का अनुकरण किया । पाणिनि के शब्दानुशासन में पर्याप्त रूप से इन पूर्वाचार्यों की गूढ़ शैलियों का सन्निवेश है — **तिप्, शप्, तिङ्, श्लु, श्तिप्,** गति, **कारक** आदि अनेक परिभाषाओं का प्रयोग असंदिग्ध रूप से प्राक्पाणिनीय है । आचार्य पाणिनि के ग्रन्थों में प्राक्कालीन आचार्यों द्वारा प्रोक्त शब्दानुशासनों के अंश अविकल रूप से दृष्टिगोचर होते हैं । इस विषय में विस्तृत रूप से नहीं लिख सकता चाहे विस्तृत भयाद् अथवा समयाभावात् । इस सम्बन्ध में व्हिटनी ने कहा है—

It will be long before we understand if indeed we ever come to do so what and how much of it is Panini's own in addition to the work of his grammatical predecessors.

आचार्य पाणिनि ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों को इंगित कर अष्टाध्यायी में **"उभयेषाम्, सर्वेषाम्, प्राचाम्, उदीचाम्, विभाषा, अन्यतरस्याम्"** आदि का प्रयोग किया है बहुवचनान्त पदों से यह तथ्य उभर कर आता है । आचार्य पाणिनि से पूर्व विविध दशाओं में व्याकरण विशिष्ट आचार्यों की एक दीर्घ श्रृंखला थी, इसमें किसी को विप्रतिपत्ति नहीं होनी चाहिए । इन सबके अतिरिक्त स्वयं आचार्यपाणिनि ने अपनी अष्टाध्यायी में दस आचार्यों के नामों को अक्षरशः दिया है । प्राक्पाणिनीय आचार्यों की सत्ता मानते हुए पाणिनि ने उनके मतों को नतमस्तक होकर स्वीकार किया है । पाणिनीय अष्टाध्यायी में जिन आचार्यों को श्रद्धा सहित स्मरण किया है उनकी क्रमशः सूची निम्न है :—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१. **शाकटायन**—व्योर्लघुप्रयत्नतरः शाकटायनस्य—८।३।१८। त्रिप्रभृतिषु शाकटायनस्य—८।४।५०। २. **शाकल्य**—सम्बुद्धौ शाकल्यस्येतावनार्षे —१।१।१६। इकोऽसवर्णे शाकल्यस्य ह्रस्वश्च—६।१।१२७। लोपः शाकल्यस्य—८।३।१९। सर्वत्र शाकल्यस्य—८।४।५१। ३. **आपिशल**— अड्गार्ग्यगालवयोः — ७।३।९९। ओतो गार्ग्यस्य — ८।३।२०। नोदात्तस्वरितोदयम गार्ग्यकाश्यपगालवानाम् ८।४।६७। ५. **गालव**—इकोह्रस्वोऽङ्योगालवस्य—६।३।६१। तृतीयादिषु भाषित पुंस्कं पुंवद्गालवस्य—७/१/७४। ६. **भारद्वाज**—ऋतोभारद्वाजस्य—७/२/६३। ७. **काश्यप**—तृषिमृषिकृषेः काश्यपस्य — १/२/२५। नोदात्तस्वरितोदयमगार्ग्यकाश्यप-गालवानाम् — ८/४/६७ ८. **सेनक**—गिरेश्च सेनकस्य— ५/४/११२। ९. **स्फोटायन**—अवङ् स्फोटायनस्य— ६/१/१२३। १०. **चाक्रवर्मण**— ई उ चाक्रवर्मणस्य — ६/१/१३०।

पं० युधिष्ठिर मीमांसक ने अपने "संस्कृत व्याकरण इतिहास" में पाणिनीय पूर्व ८५ व्याकरण प्रवक्ता हुये थे, इसकी सूची दी हुई है। प्राक्पाणिनीय क्रमशः पन्द्रह (१५) आचार्यों का उल्लेख प्राचीन ग्रन्थों में इस प्रकार से मिलता है, १- शिव, २- बृहस्पति, ३-इन्द्र, ४-वायु, ५-भरद्वाज, ६-भागुरि, ७-पौढकर, ८-कास्कृत्स्न, ९-रौढ़ी, १०-चारायण, ११-माध्यन्दिनि, १२-वैयाघ्रपद्य, १३-शौनकि, १४-गौतम और १५-व्याडि। इसके अतिरिक्त हैमवृहद्चूर्णि के पृष्ठ तीन पर आठ व्याकरण आचार्यों का संकेत मिलता है—

"ब्राह्ममेशानमेन्द्र च प्राजापत्यं बृहस्पतिम्।
त्वाष्टुमापिशलं चेति पाणिनीयमथाष्टमम्॥

ऋग्वेद कल्पद्रुम में वोपदेव ने ग्रन्थारम्भ में आठ व्याकरणों का संकेत किया है—

"इन्द्रश्चन्द्रः काशकृत्स्नापिशलो शाकटायनः।
पाणिन्यमरजैनेन्द्रा जयन्त्याष्टादिशाब्दिकाः॥"

निरुक्त वृत्तिकार दुर्गाचार्य ने भी आठ व्याकरणों का संकेत किया है—"**व्याकरण-मष्टप्रभेदम्**" बाल्मीकि रामायण में व्याकरण के सम्बन्ध में निम्न पंक्ति प्रस्तुत है—"**सोयं नव व्याकरणार्थवेत्ता**। प्रातिशाख्यादि ग्रन्थों में (५९) आचार्यों का उल्लेख मिलता है। किन्तु इन आचार्यों द्वारा प्रोक्त शब्दानुशासनों में प्रकृति-प्रत्यय-विभाग द्वारा पदों के शिष्टान्वाख्यान का अनुशासन नहीं है। इसलिए इनको वैदिक व्याकरण परक ही मानना चाहिये। "पाणिनीय पूर्व आचार्य" विषय पर न्यास, पदमंजरी, काशिका, प्रदीप, उद्योत, भाष्य...आदि की साक्षियों से प्राक्पाणिनीय आचार्यों की सत्ता को प्रामाणिक रूप से प्रस्तुत किया है। मेरा दृढ़ विश्वास है, पाणिनीय शब्दानुशासन की तरह प्राक्पाणिनीय अनेक शब्दानुशासन थे।

पतंजलि के महाभाष्य के उद्देश्य, कार्यक्षेत्र एवं उसकी शैली

पतंजलि के महाभाष्य का मुख्य उद्देश्य पाणिनि सूत्रों के महत्त्व का स्थापन करना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। सुना जाता है कि पाणिनि द्वारा सूत्रों की रचना के अनन्तर वे सूत्र कात्यायन द्वारा अनेकों तरह से आक्षिप्त कर दिए गए थे। कहीं सूत्रों के पदों में आनर्थक्य का प्रतिपादन किया गया तो कहीं सूत्रों में अनेक अतिरिक्त पदों के योग के लिए सूत्रों में न्यूनता का प्रदर्शन किया गया। इन आक्षेपों के समाधान के लिए ही शेषावतार भगवान् पतंजलि ने महाभाष्य का प्रतिपादन किया है। पाणिनि सूत्रों की सर्वश्रेष्ठता निर्धारित करना महाभाष्य का तात्पर्य है। "इको यणऽचि" सूत्र के भाष्य में महाभाष्यकार स्वयं कहते हैं **"सामर्थ्ययोगान्नहि किंचिदत्र पश्यामि शास्त्रे यदनर्थकं स्यात्"** पाणिनि सूत्रों की सर्वोत्कृष्टता बताने में अपनी योगदृष्टि का भी उपयोग भाष्यकार ने किया है। महाभाष्य की दृष्टि में पाणिनि सूत्रों में वर्ण भी अनर्थक नहीं है। पदों वाक्यों की अनर्थकता तो बहुत दूर की बात है। पाणिनि सूत्रों के पद लक्ष्यसाधुत्वोपयोगी होकर जिस तरह इष्ट प्रयोजन से युक्त हैं उसी तरह पारायण द्वारा अदृष्ट के भी जनक हैं। इस तरह सूत्र घटक पद प्रायः दृष्टादृष्टार्थ से युक्त हैं। जहाँ किसी तरह दृष्टार्थत्व का अभाव हो रहा है वहाँ अदृष्टार्थयया उस पद की सार्थकता को महाभाष्य में बताया गया है। अतएव तत्तत्स्थलों पर भाष्य में कहा गया है...

"अपाणिनीयं तु भवति" -- अर्थात् पाणिनीयोच्चरित पदों के गौरव की स्थापना ही महाभाष्य का मुख्य उद्देश्य था। पाणिनीय के न्यास का जिस किसी भी न्याय से समर्थन हो उस न्याय का समाश्रयण भाष्य में किया गया है। **"न मुने"** सूत्र के भाष्य में "न मुने" सूत्र के स्थान में "न मुटादेशे" इस तरह के न्यास की आवश्यकता वार्तिक द्वारा बताए जाने पर भाष्यकार ने कहा है -- **सिद्धयति। सूत्रं तर्हि भिद्यते।** अर्थात् "नमुटा देशे" न्यास स्वीकार करने पर लक्ष्य की सिद्धि अवश्य होती है परन्तु सूत्र के न्यास में भेद हो जा रहा है। इस भाष्य का तात्पर्य यह है-- वार्तिककार का यह अभिप्राय था कि "न मुने" सूत्र के कहने पर ना देश परे रहते कार्य करने में मुभाव की असिद्धि का निषेध हो सकता है किन्तु 'ना' आदेश ही इस तरह नहीं हो सकेगा इसलिए 'न मुने' के स्थान मे 'न मुटादेशे' ऐसा न्यास उचित होगा। यदि कहीं टा के स्थान में आ देश कर्तव्य में मुभाव को असिद्धि का प्रतिषेध होने पर भी टादेश परे रहते कार्य करने में तो मुभाव असिद्ध होगा ही, इस तरह 'अमुना' इस प्रयोग में 'सुपि च' सूत्र से दीर्घ की प्राप्ति होने लगेगी तो ऐसा संभव नहीं होग। क्योंकि :न मुटादेशे' न्यास में 'टादेशे' का अर्थ टाया×आदेशे विग्रह द्वारा टा के स्थान में आदेश कर्तव्य में मुभात्र की असिद्धि का प्रतिषेध करेंगे। तथा टायाम् आदेशे इस तरह का भी समास मान कर आदेशात्मक टा अर्थात् ना परे रहते कार्य में भी असिद्धत्व का निषेध करेंगे। कोई दोष नहीं होगा। इस तरह "न मुटादेशे" इस न्यास का समर्थन वार्तिक द्वारा किया जाने पर भाष्यकार ने कहा कि इस प्रकार सिद्धि होने पर भी सूत्रभेद हो जायगा। यह महान् दोष होगा। यदि कि न "न मुने" न्यास करने पर तो नादेश हो संभव नहीं होगा तो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह कहना ठीक नहीं है 'न मुने' न्यास से ही सर्वार्थ सिद्धि हो सकती है— **"नैष दोषः इहेङिगतेन चेष्टितेन निमिषितेन महता वा सूत्रनिबन्धनेनाचार्याणामभिप्रायो लक्ष्यते एतदेव ज्ञापयत्याचार्यो भवत्यत्र ना भाव इति यदयं ने परतो सिद्धित्व प्रतिषेधं शास्ति"** इसका अर्थ यह है कि आचार्य का अभिप्राय केवल उनके वचन मात्र से ही निश्चित नहीं किया जा सकता है बल्कि उनकी विभिन्न प्रवृत्तियों से भी उनके अभिप्राय का निश्चय करना चाहिए। यहाँ "नमुने" सूत्र द्वारा नादेश परे रहते जो मुभाव के असिद्धत्व का प्रतिषेध विधान किया गया है यही प्रवृत्ति ज्ञापित कर रही है कि ना भाव कर्तव्य में भी मुत्व असिद्ध नहीं होगा अन्यथा नादेश परे रहते मुभाव ही दुर्लभ हो जाता। इस तरह "न मुने" इस न्यास में भी कोई दोष संभव नहीं है। इसी न्यास के समर्थन में लौकिक न्यायों का भी प्रदर्शन भाष्य में किया गया है। लोक में द्वयर्थक क्रिया भी देखी जाती है जैसे कोई आचार्य आम के वृक्ष के थाले में कुश बिछाकर तर्पण किया करते थे। उस तर्पण क्रिया से आम का वृक्ष भी सिक्त हो जाता था। पितृगण भी तृप्त हो जाते थे। उसी तरह आचार्य ने एक ही 'न मुने' सूत्र द्वारा तन्त्रेण दोनों प्रकार के अर्थ का लाभ करा दिया है। क्योंकि लोक में द्वयर्थक वाक्यों का प्रयोग भी देखा जाता है—**"श्वेतो धावति"**, इस वाक्य से श्वा इतो धावति (यहाँ से कुत्ता भगा है) स च श्वा श्वेतः। इस प्रकार **'किं जातीयो धावति, किं वर्णो धावति"** दोनों तरह के प्रश्नों का उत्तर शब्द कौशल से दे दिया गया है। अशब्द अर्थ भी वाक्य द्वारा प्रतीत होते हुए देखे गए हैं। इन्द्र ने किसी वृद्ध कुमारी से वर मांगने के लिए कहा था। उस वृद्धा कुमारी ने वर माँगा कि मेरे पुत्र घी तथा क्षीर युक्त ओदन स्वर्णपात्रों में खावें। इस वृद्धा ने इस वाक्य से पति, पुत्र, गौ, धन सब कुच मांग लिए। इसी तरह यहां भी "न मुने" इस वाक्य से नादेश में मुत्व के असिद्धत्व का प्रतिषेध विधान करते हुए आचार्य ने नाभाव को भी संगृहीत कर लिया है। इस तरह महाभाष्य का मुख्य उद्देश्य येनकेनापि प्रकारेण सूत्र के न्यास की स्थापना ही है। कात्यायनोक्त समस्त आक्षेपों का समाधान सूत्र से ही करना है। ज्ञापक शैली का आश्रयण इसीलिए किया गया है कि सूत्र के अक्षरों से जो अर्थ अभिधा शक्ति से प्राप्त नहीं हो रहा है वह भी अर्थ सूत्रों द्वारा ज्ञापन शक्ति से सिद्ध होते हैं। इसलिए पाणिन्युक्त न्यास सर्वथा अभेद्य, अच्छेद्य तथा अपरिवर्तनीय हैं। अभिधा शक्ति की अपेक्षा ज्ञापनशक्ति (व्यंजना शक्ति) का विशेष महत्व होता है। भगवान् पाणिनि न केवल अभिधा शक्ति मात्र से अर्थ का बोधन करते हैं, किन्तु ज्ञापन शक्ति से भी विभिन्न अर्थों का बोधन करते हैं। इससे पाणिनि सूत्रों की वैज्ञानिकता स्पष्ट हो जाती है। अभिधा शक्ति केवल स्थूलदर्शी पुरुषों के लिए ही उपयुक्त है। जबकि ज्ञापन शक्ति सूक्ष्मदर्शी तत्वज्ञों के लिए विशेष महत्व रखती है। इस तरह महाभाष्य का उद्देश्य पाणिनि सूत्रों की महत्ता तथा वैज्ञानिकता का साधन है।

महाभाष्यकार की शैली वार्तिककार के वचनों का स्पष्ट तथा सोदाहरण व्याख्या करने के बाद उस वचन की कर्तव्यता तथा अकर्तव्यता को लेकर "तर्त्तहि **वक्तव्यम्? न**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वक्तव्यम्" इस तरह के वाक्य का उपन्यास करते हुए वार्तिक वचन को सूत्राक्षरों से ही अन्यथा सिद्ध कर देना है । भाष्यकार वार्तिक की व्याख्या करते हुए वार्तिक का पूर्ण समर्थन देते हैं । उदाहरण में प्रयोगों की प्रक्रिया भी पूर्णतः स्पष्ट करते हैं । वार्तिक की व्याख्या देख कर उस वार्तिक की अत्यन्त गम्भीरता तथा अपरिहार्यता प्रतीत होती है । परन्तु जब **"न वक्तव्यम्"** कह कर सूत्राक्षरों से उस अर्थ को सिद्धि बताते हुए वार्तिकोक्त भित्ति को ध्वस्त करने लगते हैं । उस समय सूत्र का ही महत्व अध्येता के हृदय में स्थिर हो जाता है ।

महाभाष्यकार का कार्यक्षेत्र कात्यायन के वार्तिक ही हैं । उनके वार्तिकों की व्याख्या में लौकिक, दार्शनिक तथा भौतिक सूक्तियाँ भी उद्धृत की जाती हैं । इस तरह वार्तिक वचनों को कार्यक्षेत्र बनाते हुए भी महाभाष्य में लिङ्गान्ततः सूत्रों का समर्थन किया गया है । महाभाष्य के अनुशीलन से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि कात्यायन की विद्वत्ता का पूर्ण समादर महाभाष्य में किया गया है । किन्तु स्थापना-पक्ष सूत्र की ही ओर भाष्यकार को आकर्षित किया है । यहाँ तक कि **"यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यम्"** इस परिभाषा को भी सूत्राक्षर से ही ज्ञापित होने पर प्रामाणिक माना गया है । भाष्यकार की दृष्टि में सूत्र के अक्षरों में सभी व्याकरणोपयोगी अर्थ निहित हैं । सूत्र से पृथक् कोई अर्थ नहीं है । अतएव पस्पशाह्निक में स्पष्ट कहा गया है—**"सूत्रं व्याकरणम्"** इति ।

तृतीय अध्याय

पाणिनि से पूर्व ज्ञापन परम्परा और उसकी वैज्ञानिकता

१. आचार्य पाणिनि से पूर्व ज्ञापकों की परम्परा

सूत्र साहित्य की यह विशेषता है कि वह स्वपदाभिधेय अर्थ के बोध के साथ-साथ अनेक अर्थों को भी सूचित करता है । इसलिए अनेक अर्थों के संग्राहक वाक्य को सूत्र कहा गया है । **"सूत्रयति-बहूनर्थान् वेष्टयति इति सूत्रम्"** इस व्युत्पत्ति के अनुसार सभी शास्त्रों के सूत्रों द्वारा अनेक अर्थों की उपलब्धि आचार्यों द्वारा प्रतिपादित की गई है । परन्तु पाणिनीय सूत्रों में यह विशेषता अत्यन्त महत्व पूर्ण स्थान रखती है । पाणिनि सूत्र शब्दों के साधुत्व निरूपण के लिए प्रवृत्त है । संज्ञा, परिभाषा, विधि, नियम, अतिदेश, अधिकार भेद से पाणिनि सूत्र छै भेदों में विभक्त हैं । ये सभी प्रकार के सूत्र साक्षात् अथवा परम्परया शब्दों के साधुत्व का निरूपण करते हैं । उनमें विधि सूत्र अर्थ विशेष में शब्द विशेष के साधुत्व के निरूपण के लिए नियमों के आधार पर आगम, आदेश, प्रत्यय आदि का विधान करता है । शेष पाँच भेद विधिशास्त्र की प्रवृत्ति के लिए विशेष नियमों की व्यवस्था करते हैं । इस तरह पाणिनि के सभी सूत्र अर्थविशेष को लेकर शब्द

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विशेष के साधुत्व के निरुपण में नियमों का निर्धारण करते हैं । यद्यपि वैयाकरणों के मतों में शब्द शास्वत एवं नित्य है तथापि शास्त्र द्वारा अर्थविशेष में शब्दविशेष के साधुत्व को नियमित किया जाता है । जैसे गौ के अर्थ में **"गौः"** शब्द साधु है । गाय, गावी, गोपी गोपोतलिका आदि शब्द असाधु हैं । इस तरह शब्द के साधुत्व के निर्धारण के लिए नियम का निर्धारण ही व्याकरण शास्त्र का मुख्य प्रयोजन माना जाता है । 'लोकतो र्थ प्रयुक्ते शब्दप्रयोगे शास्त्रेण धर्मनियमः' इस वार्तिक द्वारा यही बात स्पष्ट की गई है । इस तरह समस्त व्याकरण शास्त्र शब्द साधुत्व के निरुपण में एक नियम-विशेष के रूप में स्वीकार किया जाता है । यदि कोई व्यक्ति व्याकरण विरुद्ध शब्द का प्रयोग करता है तो उसे नियमविरुद्ध अशुद्ध या असाधु शब्द कह कर उपेक्षित कर दिया जाता है । इस तरह साधु शब्दों के निर्धारणार्थ प्रवृत्त पाणिनि-सूत्र जैसे अभिधा द्वारा नियम-विशेष का प्रतिपादन करते हैं । उसी तरह सूत्र होने के कारण अपनी विशेष प्रवृत्ति द्वारा भी साधु-शब्द सम्बन्धी नियम-विशेष को सूचित करते हैं ।

इस तरह के नियम-विशेष के प्रतिपादक वाक्य पाणिनि के सूत्रों से श्रुतार्थापत्ति द्वारा ज्ञापित होने के कारण ज्ञापक-सिद्ध कहे जाते हैं । इस प्रस्तुत निवन्ध में इस तरह के ज्ञापक-सिद्ध वाक्यों **"नामग्रहणे नामैकदेश ग्रहणम्"** इस न्याय के अनुसार सत्या, भामा, की तरह **'ज्ञापक'** शब्द से ही व्यवहार किया गया है । **'ज्ञापमत्यर्थविशेषमिति ज्ञापकम्'** इस तरह की व्युत्पत्ति द्वारा भी इन वाक्यों को 'ज्ञापक' शब्द से व्यवहार किया जा सकता है । स्वरूपतः ज्ञापक-सिद्ध ही वचन यहां विचारार्थ प्रस्तुत हैं । जैसे **'पीनोयं देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते'** यह मोटाताजा देवदत्त दिन में भोजन नहीं करता है) भोजन के बिना ही मोटापन बताने वाला यह सुना गया वाक्य अनुपपन्न होकर रात्रिभोजन को सूचित करता है, क्योंकि रात्रि भोजन ही इस वाक्य का उपपादक हो सकता है, अन्यथा यह वाक्य अनुपपन्न हो जाता है, उसी तरह पाणिनि-वाक्यों से अनुपपत्ति (श्रुता र्थापत्ति) द्वारा उपपादकतया सूचित अर्थ के प्रतिपादक वाक्यों का भी इस शास्त्र में विशेष महत्व दिया जाता है । क्योंकि अनुपपद्यमान होकर पाणिनि के वाक्यों ने ही इन वाक्यों का साधन किया है । पाणिनि पूर्व आचार्यों में ज्ञापन की परम्परा नहीं थी । सभी नियम वचन द्वारा ही बताए जाते थे । इस तरह के कुछ वाक्यों को पाणिनि-पूर्व वैयाकरणों ने सूत्र रूप में निबद्ध किया । पाणिनि सूत्रों में उपन्यस्त वही शब्द अर्थविशेष का ज्ञापक हो सकता है जो अर्थविशेष का ज्ञापन कर स्वयं चरितार्थ या उपपन्न हो सके । यदि ज्ञाप्य अर्थ से स्वयं ज्ञापक चरितार्थ नहीं होता है, तो वह ज्ञापक नहीं कहा जा सकता है तथा उस शब्द से ज्ञापित नियम विशेष मान्य नहीं हो सकता है । साथ ही उप ज्ञाप्य अर्थात् ज्ञापक सिद्ध वचन को सप्रयोजन भी होना चाहिए । उसके निष्प्रयोजन होने पर भी ज्ञापक महत्वहीन हो जायेगा । जैसा कि वैयाकरणों की यह उक्ति प्रसिद्ध है । **'ज्ञापकं च तदेव वरं स्वांशे चरितार्थं फलमन्यत्र'** इति । इस तरह प्रस्तुत निवन्ध में विचारणीय ज्ञापक (ज्ञापकसिद्ध) वाक्यों के सम्बन्ध में संक्षिप्त परिचय देते हुए अष्टा-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ध्यायी के सूत्रों के क्रम से महाभाष्य में निर्दिष्ट इस तरह के वचनों में सर्वप्रथम वर्ण-समाम्नाय (चतुर्दशसूत्री) में 'अइउण्' सूत्र पर महाभाष्य में एकवचन ज्ञापक रूप से उपन्यस्त है उसका निरुपण भी किया गया है ।

२. ज्ञापक-पाणिनि व्याकरण की सर्वोत्कृष्टता एवं वैज्ञानिकता के प्रतीक

ज्ञापकों की परम्परा पाणिनि के ही सूत्रों से प्रवृत्त हुई है । इससे पूर्व वैयाकरणों ने सभी शास्त्रीय नियम वचनरूप से पढ़े थे । ज्ञापन द्वारा भी अर्थों का सूचन पाणिनि व्याकरण की बहुत बड़ी विशेषता है । यह कहना अनुचित नहीं होगा कि वस्तुतः पाणिनि सूत्र ही इस ज्ञापन पद्धति द्वारा सूत्र शब्दार्थ की यथार्थता सिद्ध कर रहे हैं । **'सूत्रयति बहूनर्थान् वेष्टयति इति सूत्रम्'** इस व्युत्पत्ति से सूत्र द्वारा अनेक अर्थों की उपलब्धि ही सूत्रों का वास्तविक सूत्रत्व है । इस यथार्थ्य का पालन पाणिनि सूत्रों में बहुत हुआ है । अभिधा मात्र से सिद्ध अर्थ को ही लेकर सूत्र का सूत्रत्व सम्पन्न नहीं हो सकता है । किसी भी वाक्य में यदि ध्वन्यमान अर्थ प्रतीत होता हो तो उस वाक्य को विशेष महत्व दिया जाता है काव्यशास्त्र में प्राधान्येन व्यङ्ग्यार्थ के प्रतिपादक काव्य को ही उत्तम काव्य माना गया है । इस प्रकार पाणिनि व्याकरण में जहां भी सूत्रों द्वारा अभिधावृत्ति से भी साधुत्व प्रक्रिया के नियम बताए गए हैं वहां ज्ञापनवृत्ति से भी अनेक नियमों को सूचित किया गया है जैसा कि 'नमुने' सूत्र के साथ में कहा गया है—**'इहेङ्गितेन चेष्टितेन निमिषितेन महता वा सूत्र निबन्धेनाचार्यणामभिप्रायो लक्ष्यते'**। अर्थात् जैसे लोक में इंगित चेष्टित, निमिषित क्रियाओं द्वारा अभिप्राय लक्षित होता है उसी तरह विशिष्ट सूत्र निर्देश द्वारा भी आचार्य का अभिप्राय लक्षित होता है । इस पंक्ति की व्याख्या करते हुए कैयट ने स्पष्ट कहा है, **"न निर्देशादेवार्थ प्रतिपत्तिः किं तर्हि आचार्य एवं स्मरतोत्येतावत् सूत्र निर्देशादवसीयते"** अर्थात् उच्चार्यमाण शब्द मात्र से अर्थ प्रतिपत्ति नहीं होती है । बल्कि सूत्र के निर्देश से यह भी निश्चय होता है कि आचार्य का हार्दिक अभिप्राय यह है । इस तरह पाणिनि सूत्रों में ज्ञापनशैली का आश्रयण पाणिनिसूत्रों की सबसे बड़ी उत्कृष्टता है । एक ही उच्चारण से बहुत से अर्थों को घेर लेना **वृद्धकुमारीवरन्यायेन** इस सूत्र की पूर्ण वैज्ञानिकता भी सिद्ध करता है । इस ज्ञापनवृत्ति से शब्द-प्रयोग को न लेकर श्रीमम्मटाचार्य ने ध्वनिवाद के समर्थन में वैयाकरणों का अत्यन्त महत्व प्रदर्शित किया है । **"प्रथमे विद्वांसो हि वैयाकरणाः"** ने ऐसा कहा है । इस तरह ज्ञापक पाणिनि व्याकरण की सर्वोत्कृष्टता तथा वैज्ञानिकता का सबसे बड़ा प्रतीक है । यही पाणिनिव्याकरण की सर्वोच्च विशेषता है ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

३. वैदिकस्तर विषयक ज्ञापकों की महत्ता

पाणिनिशास्त्र में सभी ज्ञापकों की महत्ता होने पर भी वैदिकस्तर विषयक ज्ञापकों की महत्ता विशेष कही जा सकती है। वैदिकसम्बन्धी ज्ञापकों से लौकिक प्रयोगों का भी निर्णय होता है। इसलिए वैदिकस्तर के ज्ञापक विशेष महत्व रखते हैं। **'बभूथातत-न्थजगृम्भववर्थेति निगमे"** सूत्र के भाव में **'ववर्थ'** ग्रहण को लेकर विचार किया गया है **'व ग्रहणं किमर्थं न कृसृ भृ वृ स्तु द्रु स्रु श्रुवो लिटोत्येव सिद्धम्"**। इसका भाव यह है कि यद्यपि वृञ् धातु उदात्त है, उससे थल् में इट् की व्यावृत्ति के लिए ववर्थ निपातन हो सकता है तथापि—**'कृ सृ भृ वृ स्तु द्रु स्रु श्रुवो लिटि'**—सूत्र में ग्रहण होने से इसी के द्वारा थल् में इट् का निषेध सिद्ध है। यहां ववर्थ निपातन अनावश्यक ही है? इस आक्षेप के समाधान में इस ववर्थ ग्रहण को नियम ज्ञापकतया स्वीकार किया गया है— **'निगम एव यथा स्यात्? मा भूत्? ववरिथ'** भाव यह है कि ववर्थ इस छान्दस निपातन से ही लोक में वृञ् धातु से थल् में ववरिथ प्रयोग निश्चित हुआ है। इसी तरह **'दाधर्ति दर्धर्ति दर्धर्षि बोभूतु तेतिक्ते......'** **इत्यादि सूत्र में** बोभूतु प्रयोग में यङ्लुगन्तभू-धातु से लोट् में गुणाभाव का निपातन किया गया है। यहां भी **'भू सुवोस्तिङि'** सूत्र से ही गुणाभाव सिद्ध था। यह निपातन व्यर्थ होकर नियम द्वारा भाषा में यङ् लुगन्त बोयवीति प्रयोग में गुण का ज्ञापन करता है। भाषा में भी यङ् लुगन्त का प्रयोग होता है। यह अर्थ भी इससे ज्ञापित हो जाता है। **'अर्तिपियर्त्योश्च'** सूत्र के भाव में भी अर्तिग्रहण के प्रयोजन को लेकर कहा गया है कि **'बहुलं छन्दसि'** से धातु में इत्वविधान ऋ हो जाता क्योंकि छान्दस ऋ धातु से छन्द में ही श्लु प्रत्यय संभव है। इस सूत्र में अर्तिग्रहण क्यों किया गया है? इसके समाधान में भाष्य में कहा गया है—**एवं तर्हि सिद्धे सति यदर्तिग्रहणं करोति तज्ज्ञापयत्याचार्यो भाषायामर्तेः श्लुर्भवति'**। अर्थात् यही अर्तिग्रहण ज्ञापित कहता है कि भाषा में भी ऋ धातु का प्रयोग होता है। वहां इयर्ति प्रयोग के सिद्ध्यर्थ **'अर्तिपिपर्त्योश्च'** सूत्र में अर्तिग्रहण आवश्यक है। इस तरह वैदिक स्तर के ज्ञापकों की विशेष महत्ता है क्योंकि उनके द्वारा लौकिक प्रयोगों का भी यथार्थ निर्णय होता है। वैदिक प्रयोग तो सिद्ध है ही। परन्तु उनके साथ लौकिक प्रयोग भी होते हैं। यही वैदिक स्तर विषयक ज्ञापकों की महत्ता है। प्रक्रियाओं में भी ज्ञापक का आश्रयण स्थल विशेषों में किया गया है। यद्यपि छन्दसि इष्टानुविधिः इस उक्ति के अनुसार वैदिक शब्दों में शास्त्रीय नियम अत्यन्त उपयुक्त नहीं होते हैं। तथापि उन शब्दों में उसी स्वरूप के निर्धारण के लिए प्रक्रिया आवश्यक होती है। उस प्रक्रिया में लौकिक शब्दों की भाँति वैदिक शब्दों में भी ज्ञापकोक्त नियम निर्बाध रूप से चलते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

४. इष्टियों में परिसंख्यानों और ज्ञापकों के भेदाभेद पर विचार

ज्ञापक की तरह पाणिनि शास्त्र में इष्टियों का भी महत्व है। इष्टि के लिए केवल महाभाष्यकार का ही महत्व स्वीकृत किया गया है। 'यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यम्' इस परिभाषा के अनुसार पाणिनि, कात्यायन तथा पतंजलि इन तीनों व्याकरण के प्रवर्तक ऋषियों में पतंजलि का ही, 'जो महाभाष्यकार हैं,' प्रामाण्य स्वीकार किया गया है। यही पतंजलि के भाष्य की महत्ता है कि स्वतन्त्र इष्टि का अधिकार इन्हें ही है। "न बहुव्रीहौ" सूत्र द्वारा पाणिनि ने '**त्वत्कपितृकः**' रूप बनाने का प्रयत्न किया था। परन्तु महाभाष्यकार ने '**त्वकत्पितृकः**' रूप की ही इष्टि स्वीकार कर "**न बहुव्रीहौ**" सूत्र का प्रत्याख्यान कर दिया है। इसी तरह उपसंख्यान भी पाणिनि व्याकरण में दृष्टिगोचर होते हैं। वे उपसंख्यान कात्यायन (वार्तिककार) द्वारा पाणिनि सूत्र की कमी की पूर्ति के लिए किए गए हैं। जैसे "**न पदान्ताहोरनाम्**" सूत्र में '**अनाम्**' इस वचन द्वारा 'नाम्' में ष्टुत्वनिषेध की व्यावृत्ति की गई है परन्तु वार्तिककार ने '**अनाम्नवतिनगरीयामितिवाच्यम्**' इस वार्तिक द्वारा 'नवति' तथा 'नगरी' शब्द का उपसंख्यान (परिगणन) कर '**नवति**' तथा '**नगरी**' शब्द में भी ष्टुत्व निषेध की व्यावृत्ति का उपसंख्यान कर दिया है। इस तरह अनेक विशेषताएं पाणिनि व्याकरण में हैं, जो ज्ञापक, इष्टि तथा उपसंख्यानों द्वारा ही सिद्ध होती हैं। इन सब विषयों पर स्थान भेद से पूर्ण विचार इस ग्रन्थ में किया गया है।

"**त्यदादीनामः**" सूत्र के भाष्य में वार्तिक द्वारा '**त्यदादीनां द्विपर्यन्तान्तमित्वं वक्तव्यम्**' सूत्र पर आक्षेप किया गया है। इसकी आवश्यकता स्वीकार करते हुए भी भाष्यकार ने '**तर्त्तर्हिवक्तव्यम् ? न वक्तव्यम्**।' कहकर इस वार्तिक को ज्ञापक द्वारा अन्यथासिद्ध कर दिया है। इस सूत्र के भाष्य के अन्त में ज्ञापकों का समर्थम करते हुए यह सिद्ध कर दिया है कि समस्त 'त्यदादि' को 'अत्व' विधान नहीं होता है। इस तरह '**द्विपर्यन्तानामत्वं वक्तव्यम्**' इस वार्तिक को अन्यथासिद्ध कर उसकी अनावश्यकता भाष्य में सिद्ध कर दी गई इसके अनन्तर स्वयं भाष्यकार ने सन्देह उठाते हुए इस वार्तिकार्थ को इष्टबुद्ध्या स्वीकार भी लिया है। भाष्य में कहा गया है कि '**तत्र उत एतम्—द्विपर्यन्तानां भविष्यति न पुनर्युष्मदन्तानां वा स्वाद्भवदन्तानां वा**' इस संदेह की निवृत्ति में '**तस्माद् द्विपर्यन्तानामत्वं वक्तव्यम्**'। यह स्वीकार किया है। इस तरह इष्टियां बहुत ही महत्वपूर्ण प्रक्रिया की अंग हैं। जो अर्थ सूत्र द्वारा संगृहीत नहीं हैं वहां भाष्यकार को इष्टि का आश्रयण करना ही पड़ता है। उपसंख्यान तत्तत्स्थलों में आक्षेप के रूप में वार्तिक द्वारा उपन्यस्त हुए हैं। उनको महाभाष्यकार ने सूत्राक्षरों से ही अन्यथासिद्ध करने का पूर्ण प्रयास किया

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है । जहां वार्तिकोक्त उपसंख्यान अन्यथासिद्ध नहीं किए जा सके हैं वहां उनको भाष्यकार के ही अनुमोदन पर स्वीकार किया गया है । इस तरह जहां सूत्रों में अधिक अर्थों की इष्टि है वहां उसे उपसंख्यान शब्द से स्वीकार किया गया है । जैसे **'अनाम्नवतिनगरीयामितिवाच्यम्'** जहां सूत्रोक्त अर्थ में न्यूनता इष्ट होती है वहां उसे इष्टि शब्द से व्यहृत करते हैं । इस प्रकार उपसंख्यान तथा इष्टि दोनों में महाभाष्यकार को ही महत्व दिया गया है । इस तरह देखा जाए तो पाणिनिशास्त्र में ज्ञापक भी महाभाष्यकार महर्षि पतंजलि के ही प्रसाद हैं । उन्हीं की कृपा एवं अनुसंधान से ज्ञापकों का उद्गम हुआ है । इष्टि तथा उपसंख्यान पर भी उनका ही प्रभुत्व स्वीकार किया गया है । यद्यपि इस व्याकरण शास्त्र के तीनों आचार्य सर्वत्र हैं तथापि पाणिनि, कात्यायन के तात्पर्यों का विश्लेषक होने के नाते महर्षि पतंजलि का विशेष स्थान है ।

चतुर्थ अध्याय

प्राच्य तथा नव्य वैयाकरणों की दृष्टि में ज्ञापकादि की महत्ता

१. विप्रतिषेध, पूर्वत्रासिद्ध, अन्तरंग, बहिरंग आदि की अपेक्षा ज्ञापकों की व्यापकता व प्रबलता

"विप्रतिषेधे" सूत्र शास्त्र के बलवत्व का बोधन करता है । किन्तु **"परनित्यान्तरङ्गापवादानामुत्तरोत्तरं बलीयः"** इस न्याय से परशास्त्रापेक्षया नित्य की बलवत्ता बताई गई है । अतएव 'तुदति' आदिप्रयोगों में तुद् धातु से लट्+तिप् करने पर तुद्+ति इस अवस्था में परत्वेन प्राप्त **'पुगन्तलघूपधस्य च'** सूत्र से गुण को बांधकर **'कृताकृतपङ्गत्वेन'** 'तुदादिभ्यः 'शः' सूत्र से श प्रत्यय ही हुआ है । नित्य से भी बलवान् अन्तरङ्ग शास्त्र को स्वीकार किया गया है । यह अन्तरङ्ग शास्त्र की बलवत्ता 'वा ह उठ्' सूत्र से ज्ञापित ही है । अतएव 'प्रष्ठौहः' प्रयोग में 'ण्वि' प्रत्ययान्त प्रष्ठवाह् शब्द से द्वितीया बहुवचन शस् विभक्ति में 'वा ह ऊठ्' सूत्र द्वारा ऊठ् विधान किया गया । अन्यथा संप्रसारण का विधान करके पूर्वरूपानन्तर एकादेश गुणापेक्षया परत्वात् ण्वि प्रत्यय लक्षण लघूपधगुण हो जाने पर 'वृद्धिरेचि' सूत्र से वृद्धि होकर प्रयोग 'प्रष्ठोहः' सिद्ध हो जाता वृद्ध्यर्थ ऊठ् विधान व्यर्थ हो जाता । वही व्यर्थ होकर ज्ञापन करता है कि अन्तरङ्ग शास्त्र बहिरङ्ग परापेक्षया भी प्रबल होता है । अतएव **'अवेहि'** प्रयोग में **अव+आ+इहि** इस अवस्था में पर भी सवर्णदीर्घ को बाधकर अन्तरङ्गत्वेन आ+इहि में 'आद्गुण' से गुण ही होता है । इस तरह विप्रतिषेध शास्त्रापेक्षया ज्ञापन लब्ध अर्थ ही बलवान् होता है । अन्तरङ्गापेक्षया भी 'प्रत्ययोत्तरपदयोश्च' सूत्र से ज्ञापित 'अन्तरङ्गानपिविधीन् बहिरङ्गोलुग्बाधते'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस परिभाषा के अनुसार लुक् तथा लुक् प्रयोजकीभूत समासादि की बलवत्ता सिद्ध होती है । 'पूर्वत्रासिद्धम्' सूत्र के विषय में भी ज्ञापक की बलवत्ता स्पष्ट है । 'प्लुत प्रगृह्या अचिनित्यम्' सूत्र में प्लुत के प्रकृतिभाव विधान सामर्थ्य से ज्ञापित किया गया है कि 'सिद्धः प्लुतः स्वरसन्धिषु' **सपादसप्ताध्यायीस्थ** स्वरसन्धि की दृष्टि में भी प्लुत के असिद्धत्वाभाव ज्ञापक द्वारा ही सिद्ध हुआ है । इस तरह ज्ञापकों की व्यापकता सर्वत्र देखी गई है । ज्ञापक की बलवत्ता सर्वत्र स्वीकार की गई है । क्योंकि ज्ञापक का आश्रयण ही किसी विशेष परिस्थिति में किया जाता है । किसी तरह की अतिप्रसक्ति या न्यूनता की पूर्ति के लिए ज्ञापकों का उपन्यास किया गया है । ज्ञापक विचार में यह स्पष्ट किया जा चुका है । यदि ज्ञापक इन सामान्य बाधकों से बाधित होते तो ज्ञापक का उपन्यास ही अनावश्यक हो जाते । इस तरह **'सर्वतोबलवत्तरं ज्ञापकम्'** यह सिद्धान्त है । ज्ञापक स्वयं एक सर्वतोप्रतिशापी शास्त्र के रूप में आचार्य द्वारा व्यक्त किए गये हैं । उनका बाध नहीं किया जा सकता है । यह बात दूसरी है कि ज्ञापक शास्त्र का भी वही देश होता है जो ज्ञापित करने वाले शास्त्र का है । अतएव 'असिद्धं बहिरंगमन्तङ्गे' परिभाषा षाष्ठी परिभाषा कही गई है । अतएव इस परिभाषा की दृष्टि में भी त्रिपादी शास्त्र असिद्ध होते हैं । किन्तु इससे ज्ञापकों की महत्ता कम नहीं होती है । केवल देशविशेष का ही निश्चय होता है । इस तरह पाणिनि शास्त्र में ज्ञापकों की व्यापकता एवं महत्ता अप्रतिहत है ।

२. पाणिनि व्याकरण में अभिहित तथा त्रिक्षित परिभाषाओं और ज्ञापकों में भेद

जो वचन पाणिनि पूर्व वैयाकरणों द्वारा सूत्र रूप में निबद्ध हुए थे, वे वचन परिभाषा के रूप में व्याकरणशास्त्र में प्रसिद्ध हैं । इन परिभाषावाक्यों की व्याख्या नागेश भट्ट ने स्पष्ट की है कि—**प्राचीनवैयाकरणतन्त्रे वाचनिकान्यत्र पाणिनीयतन्त्रे ज्ञापकन्यायसिद्धानि भाष्यतिकयोरूपनिबद्धानि यानि परिभाषारूपाणि तानि व्याख्यायन्ते ।**

परिभाषेन्दुशेखर में इस तरह के विशेष वचनों की ही व्याख्या की गई है । परन्तु इस प्रस्तुत विषय में जितने ज्ञापक महाभाष्य में उपन्यस्त हैं, उन सब पर विचार किया जाएगा । **१–पहला शास्त्रत्वसंपादक प्रकरण** है, इसमें जिन परिभाषाओं के सहयोग विधिशास्त्र का कार्यविशेष-विधानोपयोगी व्याख्यान संपन्न होता है वे परिभाषाएं शास्त्रत्वसंपादक परिभाषा कही जाती हैं । इस तरह की परिभाषाएं पहले प्रकरण में व्याख्यात हुई हैं । **२–दूसरा प्रकरण बाधबीज प्रकरण** है, इसमें सूत्रों के परस्पर बाध्य-बाधकभाव का विचार किया गया है । बाध्य-बाधकभाव के निर्धारण के लिए जो परिभाषाएं हैं, उनका ही विचार इस प्रकरण में किया गया है, **३–तीसरा शास्त्रशेष प्रकरण** है, इस प्रकरण में शास्त्र में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रवृत्त होने वाले साधारण नियमों का निरुपण करने वाली परिभाषाएं व्याख्यात हैं । जिस तरह परिभाषाओं में तीन विभाग किये गये हैं उसी तरह सभी (ज्ञापक वाक्यों को तीन भागों में विभक्त किया गया है, **१–शास्त्रत्वसंपादक, २–बाधबीज** तथा **३–शास्त्रशेष**) ज्ञापकों की व्याख्या करते समय इन भेदों का निर्देश भी किया जाएगा ।

३. भर्तृहरि, जिनेन्द्र, कैयट, हरदत्त मिश्र और नागेश की दृष्टि में ज्ञापकों का गम्भीर अनुशीलन

महाभाष्य के उत्तर, सभी आचार्यों ने ज्ञापक के महत्व को स्वीकार किया है। पाणिनि सूत्रों में ज्ञापनशक्ति का आविष्करण कात्यायनोक्त आक्षेपों के निराकरण के लिए महाभाष्यकार ने ही किया है। महाभाष्य ने ही यह स्पष्ट किया कि **"इहेङ्गितेन चेष्टितेन निमिषितेन महता वा सूत्रनिर्देशेनाचार्याणामभिप्रायोलक्ष्यते"** आचार्य का अभिप्राय उनके विशिष्ट निर्देश से भी समझना चाहिए । इस तरह महाभाष्य की दृष्टि में ज्ञापक भी सूत्रों की ही तरह समझना चाहिए। इस तरह महाभाष्य की दृष्टि में ज्ञापक भी सूत्रों की ही तरह व्याकरण शास्त्र की प्रक्रिया में उपयोगी हैं। सूत्रों की प्रवृत्ति निवृत्ति भी इन व्यंज्यमान ज्ञापकों द्वारा नियन्त्रित होती है । जब महाभाष्य ने ही ज्ञापकों के महत्व को स्वीकार किया है तो तदनुयायी भर्तृहरि, जिनेन्द्र, कैयट, हरदत्त, नागेश आदि की दृष्टि में ज्ञापक का महत्त्व न्यून कैसे हो सकता है। ज्ञापक को सभी ने स्वीकार किया है । उनके ध्वनन की प्रक्रियाएँ सबकी समान ही हैं। ज्ञापक के संबन्ध में दी गई पंक्तियों की व्याख्या में कहीं-कहीं मतभेद व्याख्याताओं में है । उनका उल्लेख भी लगभग ज्ञापकों के विश्लेषण में किया गया है । इस प्रस्तुत निबन्ध में ज्ञापकों के विन्यास की प्रक्रिया सामान्यरूप से कैयट तथा नागेश के 'प्रदीप' एवं 'उद्योत' व्याख्यान अनुसार ही दिखाई गई है । तथापि कहीं-कहीं जिनेन्द्र तथा हरदत्त के 'न्यास' एवं 'पदमंजरी' का भी अवलोकन करना पड़ा है । मैं अनुभव करता हूं कि प्रक्रिया के स्पष्टीकरण की शैली में भले ही कुछ अन्तर है किन्तु ज्ञापक के महत्व में किसी को संदेह नहीं है। यह बात दूसरी है कि कुछ ज्ञापक एकदेशीय हैं । केवल प्रासंगिक विषय के समर्थन मात्र के लिए उद्धृत किए गए हैं। अन्यत्र शास्त्रीय प्रक्रियाओं में उन ज्ञापकों का उपयोग नहीं है। तथापि ज्ञापक की धारा सबको मान्य है । जो ज्ञापक केवल एकदेशीय हैं, उन्हें भाष्य में भी विशेष स्थान नहीं दिए गए हैं । जो ज्ञापक शास्त्र में सार्वत्रिक नहीं हैं केवल एकदेशीय हैं, विवरण में उनका स्पष्ट उल्लेख युक्तिपूर्वक किया गया है । इस तरह महाभाष्योत्तर, सभी आचार्यों की दृष्टि में यह ज्ञापक परम्परा अत्यन्त महत्वपूर्ण है । सभी ने प्रक्रिया निरूपण में ज्ञापन का आश्रयण बड़ी गम्भीरता से स्वीकार किया है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पञ्चम अध्याय

महाभाष्योक्त ज्ञापक और उनके मूलभूत स्रोतों का अध्ययन

१- भवत्याक्षर समाम्नयिकेन धात्वादिस्थस्य ग्रहणम्

'अइउण्' सूत्र में उपदिश्यमान् अकार विवृत प्रयत्नक है। अतः अच् प्रत्याहार में आने वाला **अकार पर भी विवृतप्रयत्नक ही है।** यदि अच् प्रत्याहार में आने वाला अकार विवृत प्रयत्नक नहीं माना जायगा, तो **दीर्घाकार आदि** के साथ **ह्स्व अकार की सवर्ण संज्ञा न होने के** कारण अच् प्रत्याहार में दीर्घाकारादि का ग्रहण नहीं हो सकेगा। ह्स्व अकार का प्रयत्न संवृत माना गया है। दीर्घाकारादि का प्रयत्न विवृत माना गया है। दोनों में प्रयत्न-भेद हो जाने के कारण 'तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम्' सूत्र द्वारा सवर्ण संज्ञा नहीं होगी। इस सूत्र के अनुसार जिन वर्णों के स्थान तथा आभ्यान्तर प्रयत्न तुल्य होते हैं उन्हीं वर्णों की परस्पर सवर्ण संज्ञा हो सकती है। परस्पर सवर्णसंज्ञा न होने के कारण ह्स्व अकार से दीर्घादि का ग्रहण नहीं हो सकेगा। 'अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः' सूत्र द्वारा अविधीयमान अण् अ इ उ ऋ ऌ ए ओ ऐ औ य व ल्— अपने सवर्णी का ही बोधन करते हैं। यदि अकार की सवर्ण संज्ञा दीर्घाकारादि के साथ नहीं होगी तो अकार के ग्रहण से दीर्घाकारादि का ग्रहण नहीं हो सकेगा। इस **तरह खट्वा+ आढ़कम्= खट्वाढ़कम् यहां** 'अकः सवर्णे दीर्घः' सूत्र से दीर्घ **नहीं सिद्ध हो सकेगा। अतः अइउण् सूत्र-घटक अकार को विवृत प्रयत्नक स्वीकार किया जाना चाहिए।** जिससे प्रत्याहारों में आने वाले अकार से दीर्घाकारादि का ग्रहण हो सके।

जिस तरह अइउण् सूत्र में **विद्यमान अकार का विवृत प्रयत्न** होना आवश्यक है, उसी तरह सर्वत्र धातु प्रातिपदिक, प्रत्यय, निपात में विद्यमान अकार को विवृत प्रयत्नक ही होना चाहिए, अन्यथा प्रत्याहारस्थ अकार के साथ धात्वादिस्थ संज्ञा अकार की सवर्ण संज्ञा न होने के कारण अच्-प्रत्याहार-संबन्धी कार्य संभव नहीं होगा। धात्वादिस्थ अकार का प्रयत्न विवृत स्वीकार कर लेने पर ही **"शाम्यति,"** इत्यादि प्रयोगों में दीर्घादि कार्यों की सिद्धि हो सकती है। इसी अभिप्राय को लेकर वार्तिक द्वारा शंका की गई है। **"तस्य विवृतोपदेशादन्यत्रापि विवृतोपदेशः सवर्णग्रहणार्थः इति।"** इस वार्तिक को अस्वीकृत करते हुए महाभाष्यकार ने प्रत्याहारस्थ विवृत अकार से धात्वादिस्थ संवृत अकार के ग्रहण के लिए ज्ञापक का उपन्यास किया है। **"आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति—भवत्याक्षर समाम्नायिकेन धात्वादिस्थग्रहणमिति, यदयमकः सवर्णे दीर्घ इति प्रत्याहारे को ग्रहणं करोति"** यदि प्रत्याहारस्थ विवृत अकार से अन्य संवृत अकार का ग्रहण नहीं होगा तो **"अकः सवर्णे दीर्घः** सूत्र में **'अकः'** का प्रयोग व्यर्थ हो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जायगा । **"अकः"** के स्थान में इकः कहना चाहिए था । क्योंकि धात्वादिस्थ अकार विवृत न होने के कारण **'अकः'** नहीं माना जा सकता है । इस तरह अकार के स्थान में दीर्घ प्राप्त ही नहीं हो सकता है। दीर्घ विधायक सूत्र में 'अकः' का प्रयोग व्यर्थ हो जाएगा । इस तरह पाणिनि द्वारा किया गया यही 'अकः' प्रयोग अनुपपन्न होकर ज्ञापन कर रहा है कि "प्रत्याहारस्थ अकार से धात्वादिस्थ अकार का ग्रहण होता है" अर्थात् प्रयत्नभेद होने से असवर्ण भी धात्वादिस्थ अकार अत्व जाति से आक्रान्त होने के कारण विवृत अकार से गृहीत हो हो जाता है, प्रत्याहार में जातिपक्ष ही स्वीकार करना उचित है। यह सिद्धान्त ज्ञापित कर **'अकः'** ग्रहण सार्थक हुआ है।

कैयट ने प्रदीप में भी यही अभिप्राय स्पष्ट किया है **"तेन च संवृतस्याग्रहणे 'इकः सवर्ण' इति वक्तव्यम्"** इस कैयट के ग्रन्थ की व्याख्या करते हुए नागेश भट्ट ने उद्योत में और भी स्पष्ट कर दिया है, **'एवं च प्रयत्नभेदेनासवर्णस्यापि अत्वजात्याक्रान्तस्य विवृतेनाकारेण ग्रहणं ज्ञाप्यत इत्यर्थः"** इस तरह यह वचन 'अकः' ग्रहण से ज्ञापित होकर 'शास्त्रशेष' वचन के रूप में स्थित हो सकता है। क्योंकि शास्त्र का अंगभूत एक सिद्धान्त बना है ।

पहले भी यह स्पष्ट किया गया है कि ज्ञापक तभी समीचीन कहा जा सकता है जबकि वह ज्ञाप्यार्थ के विना सर्वथा अनुपपन्न हो । किन्तु यहां अकः ग्रहण ज्ञाप्यार्थ न होने पर भी जिसका ग्रहण प्रत्याहारस्थ अकार से हो सकता है, उसके लिए सार्थक ही जैसे **खट्वा+आढकम् = खट्वाढकम्, माला+आढकम् = मालाढकम्** इत्यादि । कैयट ने स्पष्ट किया हैं 'अक इत्यकारेण विवृतेन दीर्घस्य विवृतस्य ग्रहणा दज्ञापकमेतदित्यर्थः' अर्थात् विवृत अकार से विवृत दीर्घाकार का ग्रहण होने के कारण अक ग्रहण सार्थक है । अतः यह ज्ञापक नहीं हो सकता है । अतः धात्वादिस्थ अकार का भी विवृत्वोपदेश ही उचित है । यह ज्ञापक संद्धान्तिक नहीं है । केवल प्रासंगिक विचार का विषय है ।

२. नानुबन्धसंस्करोऽस्ति

'अइउण्' सूत्र के भाष्य में यह वचन ज्ञापक के रूप में उपन्यस्त है । यह वचन भी शास्त्रशेष वचन ही कहा जायेगा क्योंकि शास्त्र के एक सिद्धान्त के रूप में उपन्यस्त हुआ है । 'अइउण्' सूत्र में भाष्यकार ने व्यक्ति पक्ष को लेकर यह विचार आरम्भ किया है कि 'अक्' आदि प्रत्याहारों में इत्संज्ञक ककारादि वर्णों को चिह्नविशेष के रूप में देखकर यह निश्चय किया जा सकता है कि यह अकार 'अइउण्' सूत्र का ही अकार है । अतः अक् आदि प्रत्याहारों में आने वाले अकार को अण्-प्रत्याहारस्थ समझा जा सकता है । इस अकार से 'अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः' सूत्र की सहायता से सवर्णों का बोध तो संभव होगा किन्तु 'अस्य च्वौ' सूत्र में आए हुए अकार के अण् प्रत्याहारस्थ होने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में कोई प्रमाण न होने के कारण उससे सवर्णो का बोध संभव नहीं हो सकता है इसलिए 'गङ्गी - भवति' इत्यादि प्रयोगों में आकार के स्थान में 'अस्य च्वौ' सूत्र से ईकार आदेश नहीं हो सकेगा। इस आक्षेप के समाधान में वर्णों में एकत्व-पक्ष का उपन्यास किया गया है। 'एकोऽयमकारो, यश्चाक्षरसमाम्नाये, यश्चानुवृत्तौ, यश्चधात्वादिस्थः' इति। अर्थात् एक ही वर्ण व्यक्ति है, उसमें उदात्तादिभेद की प्रतीति व्यजंकध्वनि मूलक है। यहां अकार को उदाहरण के रूप में रखा गया है। इकारादि वर्णों में भी अकता ही जानना चाहिए। इस तरह वर्णैकत्व पक्ष द्वारा समाधान कर इसी पक्ष में पुनः आक्षेप किया गया कि यदि वर्णों में एकता स्वीकार की जाए तो अनुबन्धों में सांकर्य की प्राप्ति होगी। 'कर्मण्यण्' 'आतो नुपसर्गे कः' 'गापोष्टक्' आदि सूत्रों के विषय में अण्, क, टक्, आदि प्रत्ययों में सर्वत्र अकार को णित्व, कित्व, व्यवहार की प्राप्ति होने लगेगी, इस तरह गोदा, कम्बबदा, इन प्रयोगों में 'टिड्ढाणञ्' इत्यादि सूत्र द्वारा ङीप की आपत्ति प्राप्त होगी। इस आक्षेप के समाधान में यह ज्ञापक वचन प्रस्तुत किया गया है। 'नानुबन्धसंकरोस्ति' इति। लक्ष्य भेद की दृष्टि से प्रत्येक लक्ष्य के लिए 'कर्मण्यण' 'आतो नुपसर्गे कः,' इस तरह एक ही अकार को भिन्न-भिन्न चिह्नों से चिह्नित किया गया है, इससे ज्ञात होता है कि 'अनुबन्धों' में सांकर्य नहीं होता है। यदि अनुबन्धों में सांकर्य विवक्षित होता तो एक ही स्थान में सभी अनुबन्धों द्वारा एक वर्ण का चिह्नित करना चाहिए था। जैसा कि कैयट ने स्पष्ट किया है—'एकत्वे काण्टगादीनां भेदाभावाद् गोदादौ ङीबादिः प्राप्नोति' इति। किन्तु ऐसा नहीं किया गया है। अतः यह स्पष्ट ज्ञात हो रहा है कि—'नानुबन्ध संकरोऽस्ति' इति। इस तरह ज्ञापन द्वारा अनुबन्धसांकर्य का परिहार कर लोकव्यवहार द्वारा इस वचन की आवश्यकता निरस्त भी कर दी गई है। भाष्यकार ने कहा है—'लोकत एतत्सिद्धम्' इति, जैसे लोक में—कोई राजा अपने गुप्तचर को निर्देश देता है कि उस स्थान, उस काल में जटा धारण करना, उस स्थान, उस काल में मुण्डित होकर रहना, वही गुप्तचर जिस स्थान, जिस काल में जिस गुण से युक्त बताया गया है उस स्थान, उस में उसी गुण से युक्त होता है, उसी तरह शास्त्र में भी एक ही अकार जिस प्रकृति से यदनुबन्धयुक्त बताया गया है वैसी प्रवृत्ति से तदनुबन्धनिमित्तक ही कार्य का संपादन करेगा। इस तरह यह वचन शास्त्रशेषीय वचन के रूप में ज्ञापित होने पर भी लोकन्याय से अन्यथासिद्ध कर दिया गया है। अतः शास्त्र में इस वचन का उपयोग नहीं किया जाता है। लोकसिद्ध अर्थ में वचन कल्पना उचित नहीं है।

३. न दीर्घे ह्रस्वा श्रयो विधिर्भवति

इस सूत्र के भाष्य में यह विचार किया गया है कि वर्णों में प्रतीयमान जो वर्णसदृश वर्णैकदेश, उसका वर्णग्रहण से ग्रहण होता है या नहीं। इस तरह का विकल्प प्रस्तुत कर वर्णैकदेश का वर्णग्रहण से ग्रहण होने में कुछ आपत्तियां दी गई हैं। उनमें एक आपत्ति यह है कि—दीर्घ में 'ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्' का आगम होना चाहिए। इसी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आपत्ति को दूर करने के लिए इस ज्ञापक वचन को उपन्यस्त किया गया है । 'न दीर्घ ह्स्वाश्रयो विधिर्भवति' इति । इस वचन का ज्ञापन 'दीर्घात्' सूत्र द्वारा दीर्घ से परे छकार को तुगागम का विधान करने से हो रहा है अन्यथा दीर्घैकदेश को ह्रस्व मानकर ह्रस्व-संवन्धी विधि 'छे च' सूत्र से ही तुक् का आगम हो जाता । 'दीर्घात्' सूत्र व्यर्थ हो जाएगा । इस तरह दीर्घात् सूत्र द्वारा तुगागम के विधान से यह स्पष्ट ज्ञात हो रहा है कि 'न दीर्घे ह्रस्वाश्रयो विधिर्भवति इति' । इस तरह यह वचन वर्णैकदेश का वर्णग्रहण से ग्रहण होने के पक्ष में शास्त्रशेष रूप से उपयोग संभव है । किन्तु यह ज्ञापक-वचन एक पक्षीय होने से इसका शास्त्र में विशेष महत्व नहीं दिया गया है । कैयट ने तो इस ज्ञापक के ऊपर दृष्टिपात भी नहीं किया हैं । इसी तरह पक्ष को लेकर एक वचन को और उपन्यास किया गया है—नाकारस्थस्याकारस्य लोपो भवति' इति । वर्णैकदेश का वर्ण-ग्रहण से ग्रहण होने के पक्ष में एक आपत्ति यह भी उठाई गई है कि 'या' धातु, 'वा' धातु से तृच् प्रत्यय द्वारा सिद्ध होने वाले 'याता', 'वाता' प्रयोग में 'अतो लोपः' सूत्र से दीर्घैक-देश एक मात्रिक अंश (अकार) का लोप होना चाहिए । यदि 'अतो लोपः' सूत्र में तपर करने के कारण अकारस्थ अकार का लोप नहीं होने की कल्पना कोई करना चाहे तो यह संभव नहीं होगा क्योंकि तपर-करण का प्रयोजन यह होगा कि समस्त आकार का लोप न किया जाए । परन्तु एकदेश अकार के लोप में तपरकरण बाधक नही हो सकता है । इस आपत्ति के समाधान में यह वचन उपन्यस्त है 'नाकारस्थस्याकारस्य लोपो भवति' इति । इसका ज्ञापन मुख्यरूप से 'गापोष्टक' सूत्र में टक् प्रत्यय को कित् किए जाने से हुआ है । सामगः, छन्दोगः, आदि प्रयोगों में सामादि शब्द के उपपद होने पर गै धातु से विहित 'टक्' प्रत्यय के कित् होने की आवश्यकता 'आतो लोप इटि च' सूत्र से आकार का लोप ही है, यदि आकारस्थ अकार का भी लोप होता तो टक् प्रत्यय को कित् करने की कोई आवश्यकता नहीं होती । अतो लोपः से एकदेश अकार का लोप हो जाने मात्र से 'सामगः' आदि प्रयोगों की सिद्धि हो जाती । परन्तु 'टक्' को कित् का सम्पूर्ण अकार के लोप का प्रयत्न आचार्य ने किया है इससे स्पष्ट हो जाता है कि 'नाकारस्थस्याकारस्य लोपो भवति इति । यह ज्ञापक भी शास्त्रशेष के रूप में एकपक्षीय होकर उपन्यस्त हुआ अतः इसका भी महत्व शास्त्र में नहीं के बराबर ही है । कैयट ने एक वचन पर भी दृष्टिपात नहीं किया है ।

४. भवति ऋकारान्नोणत्वमिति

यह वचन वर्णैकदेश को वर्णग्रहण से ग्रहण न करने के पक्ष में उपन्यस्त हुआ है। यदि वर्णैकदेश वर्णग्रहण से गृहीत नहीं होता तो मातृ॒णाम, पितृ॒णाम् प्रयोगों में वर्ण से परे नकार को णत्व करने के लिए स्वतन्त्र वचन करना पड़ेगा। वर्णैकदेश को वर्ण ग्रहण से गृहीत करने पर 'रषाभ्यां नोणः समानपदे' 'अट्कुप्वाङ्नुमव्यवाये पि' से ही सिद्ध हो जाएगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वतन्त्र वचन मानने की आवश्यकता नहीं होगी । इस आक्षेप पर वर्णैकदेश को वर्णग्रहण से ग्रहण न करने वाले पक्ष में भी स्वतन्त्र वचन की आवश्यकता नहीं होगी किन्तु 'क्षुम्नादिषु च' सूत्र द्वारा 'नृनमन्' शब्द का क्षुम्नादिगण में पाठ कर णत्व का निषेध करने से ज्ञापित होता है कि 'ऋ' वर्ण से परे भी नकार को णत्व होता है । अन्यथा नृनमन् शब्द में णत्व की प्राप्ति के बिना निषेध करना व्यर्थ हो जाएगा । अतः नृनमन् शब्द में णत्व निषेध से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि **'भवति ऋकारान्नोणत्वम्'** इति । नृनमन् शब्द अखण्ड संज्ञा भूत शब्द है । यदि समस्त खण्ड पद माना जाए तो समान पद में ही णत्व होने के कारण यहां णत्व की प्राप्ति ही संभव नहीं होगी । भाष्योक्त ज्ञापक असंगत हो जाएगा । 'नागेश भट्ट' ने नृनमन् भाष्य के प्रतीक को लेकर स्पष्ट लिखा है 'संज्ञा भूत-मित्यभिप्रायः' । यह वचन शास्त्रशेष होकर संपूर्ण शास्त्र में उपयुक्त होता है ।

५. नात्र रपरत्वं भवति इति

लण् सूत्र के भाष्य में 'अण्' प्रत्याहार को लेकर विचार प्रवृत्त हुआ है कि लण् सूत्र में भी इत्संज्ञक णकार के होने से अण् तथा इण् प्रत्याहारों में संशय होगा कि ये प्रत्याहार पूर्वणकार (अइउण् के णकार) से निष्पन्न हैं । इसी प्रसंग में 'उरण रपरः' सूत्र को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत कर संदेह किया गया कि इस सूत्र में अण् पूर्व णकार तक गृहीत है या पर णकार तक ? इस संदेह के समाधान में भाष्यकार ने कहा है कि इस 'उरण रपरः' सूत्र में कोई संदेह नहीं संभव है । यहां 'अण्' प्रत्याहार पूर्व णकार तक ही होगा यह सर्वथा असंदिग्ध है क्योंकि ऋकार के स्थान में पर अण् अर्थात् 'अ, इ, उ' से अतिरिक्त की संभावना ही नहीं है। इसी प्रसंग के सातत्य में 'मातॄणाम', 'पितॄणाम् प्रयोगों में आपत्ति उठाई गई है कि यहां अकार के स्थान में दीर्घ ऋकारूप पर अण् संभव है। उसे भी 'उरण् रपरः' से परत्व की प्रसक्ति होने लगेगी। अतः 'उरण रपरः' सूत्र के अण् प्रत्याहार में संदेह बना ही है । इस आपत्ति के समाधान में भाष्यकार ने कहा है कि— **'आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयतिनात्र रपरत्वं भवति'** इति । **यदयं ऋत इद्धातोरिति धातुग्रहणं करोति ।** 'ऋत इद्धातोः' सूत्र में धातुहग्रण की आवश्यकता यही है कि 'मातॄणाम', 'पितॄणाम' प्रयोगों में ऋकार के स्थान में इकार नहीं । यदि 'मातॄणाम' आदि प्रयोगों में भी रपरत्व होगा तो धातुग्रहण सर्वथा अनर्थक हो जाएगा । क्योंकि रपर होने पर अनन्त्य होने के कारण ऋकार के स्थान में इत्व प्राप्त नहीं होगा, यहां **इत्व** वारण करने के लिए धातुग्रहण से ज्ञापित **'नात्र रपरत्वं भवति'** इस वचन से 'मातृणाम्' आदि में कोई दोष नहीं होगा । अतः 'उरण रपरः' सूत्र में अण् प्रत्याहार के पर णकार तक होने का संदेह निष्प्रयोजन हीं है । इस धातुग्रहण से यह वचन प्रासंगिक रूप से ज्ञापित कर 'उरण रपरः' में अण् प्रत्याहार के सन्देह को निष्प्रयोजन वता दिया गया है । वस्तुतः 'ऋत इद्धातोः' सूत्र में धातुग्रहण आवश्यक ही है, वह ज्ञापक नहीं हो सकता है । क्योंकि यदि अनन्त्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होने के कारण ऋकार के स्थान में इत्व न किया जाय तो, 'चिकीर्षति' 'जिहीर्षति' 'जिहीर्षति' में 'कृ' 'हृ' धातु को "अज्झनगमां सनि" सूत्र से दीर्घ होने पर रपर हो जाने के बाद भी 'उपधायाश्च' सूत्र द्वारा इत्व हो जायगा, इन प्रयोगों में दोष की संभावना नहीं होगी। ऐसा स्वीकार किया जाय तो 'मातृ्णाम्' आदि प्रयोगों में भी दीर्घ होने पर रपर प्रयोगों में भी दीर्घ होने पर उपर हो जाने के बाद भी 'उपधायाश्च' से इत्व होने लगेगा। अतः धातुग्रहण 'ऋत इद्धातो' सूत्र में आवश्यक ही है। ज्ञापक नहीं हो सकता, जैसाकि कैयट ने स्पष्ट किया है कि 'तस्माद्धातुग्रहणस्य सप्रयोजनत्वान्न ज्ञापकत्वमित्यर्थः'। 'मातृ्णाम्' आदि प्रयोगों में रपरत्व की प्राप्ति की संभावना से उरण् रपरः सूत्र के अण् प्रत्याहार में संदेह होगा ही। यहां संदेह की निवृत्ति के लिए उपायान्तर का अन्वेषण करना ही होगा। **"नात्र उपरत्वं भवति"** वचन केवल एकदेशीय विचार है।

६- अभेदका गुणा

'वृद्धिरादैच्' सूत्र में आकार के तपरकरण को लेकर विचार किया गया है कि आकार को तपर करने का क्या प्रयोजन है? इस पर किसी ने तपरत्व का प्रयोजन सवर्णग्रहण को बताया। यदि आकार को तपर नहीं किया जायगा तो **उदात्त, अनुदात्त, स्वरित** तीनों संवर्णी आकारों का ग्रहण नहीं होगा। क्योंकि गुण विवक्षित हुआ करते हैं। जो गुण उच्चरित होगा उसी गुण से युक्त आकार की वृद्ध संज्ञा होगी। अन्य गुण से युक्त आकारों की भी वृद्धि संज्ञा विधानार्थ तपर करण आवश्यक होगा। विना तपर करण के **"तपरस्तत्कालस्य"** सूत्र द्वारा समकाल सवर्ण का बोध नहीं हो सकेगा। अतः तपरकरण आकार के लिए आवश्यक है। उदात्तादि गुणों का विवक्षित होना लोकतः सिद्ध है। लोक में देखा जाता है कि यदि कोई छात्र उदात्त के स्थान में प्रमादवश अनुदात्त का उच्चारण कर देता है तो उपाध्याय उसे (चपत) थप्पड़ लगाता है। इस तरह गुण के भेद से वर्ण के भिन्न हो जाने के कारण तपर करण के समस्त आकार का ग्रहण नहीं होगा। इस तरह तपरकरण की आवश्यकता बताने पर दूसरे वादी ने गुणों कै अविवलित होने का पक्ष प्रस्तुत किया। **"ननु च भो अभेदका अपि गुणा दृश्यन्ते" इति। जैसे मुण्डी**, जटी, शिखी विभिन्न गुणों से युक्त होता हुआ भी देवदत्त अपनी संज्ञा का परित्याग नहीं करता है। उसी तरह एक आकार गुण के भेद होने पर भी आकार ही रहेगा। इस पक्ष में आकार के तपरकरण की कोई आवश्यकता नहीं है। इसतरह गुणों की विवक्षा या अविक्षा दोनों पक्ष लोक संगत होने से दोनों में कौन पक्ष न्याय-संगत होगा, यह विचारणीय है? इस पर भाष्यकार ने कहा है— **"अभेदका गुणा इत्येव न्याय्यम्"। "अस्थि दधिसक्थ्यक्ष्णामनुङ्ङुदात्तः** सूत्र में आचार्य ने 'अनङ्' आदेश को उदात्त बताया है। यदि गुण विवक्षित होते तो अनङ् आदेश को उदात्त गुण से युक्त उच्चारण कर देते। उच्चारणमात्र से उदात्त के विवक्षित होने के कारण 'अनङ्' आदेश उदात्त ही रहता, उसके लिए उदात्त ग्रहण करना व्यर्थ है। यही उदात्त ग्रहण व्यर्थ होकर यह ज्ञापित करता है कि— **"अभेदका गुणाः"** इति। "उदात्तादिगुण अविवक्षित होते हैं। इसलिए

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उदात्तग्रहण सार्थक सिद्ध हुआ । यदि उदात्त ग्रहण नहीं किया गया होता तो 'अनङ्' के उदात्त गुण से युक्त उच्चारण करने पर भी उसके अविवक्षित होने के कारण उदात्तत्व की सिद्धि नहीं हो पाती । इसलिए अनङादेश के उदात्तत्व के लिए प्रयत्नविशेष के रूप में उदात्त ग्रहण करना सार्थक हुआ है । कैयट ने इसे इस तरह स्पष्ट किया है—**तस्माद्गुणरहितस्योच्चारणा भावान्नान्तरीयकत्वादुच्चार्यमाणोऽपि गुणः प्रयत्नमन्तरेण न विवक्षित इत्यर्थः**। '**अभेदकाः गुणः**' यह वचन 'परिभाषेन्दुशेखर' के शास्त्रशेष प्रकरण में भी नागेशभट्ट द्वारा व्याख्यात है । यह वचन परिभाषा रूप में व्याकरणशास्त्र में प्रसिद्ध है । नागेशभट्ट ने इसका व्याख्यान—'**असति यत्ने स्वरूतेणोच्चारितो गुणो न भेदको न विवक्षित इत्यर्थः**' इस तरह किया है । अर्थात् किसी विशेष यत्न के बिना स्वरूपतः उच्चरित गुण विवक्षित नहीं होते हैं । **अतएव यहां** जो गुण विवक्षित होता है वहां उस गुण का 'अनुदात्तादेरन्तोदात्तात्' इत्यादि **स्थल विशेष में** उच्चारण किया गया है । यहां अनुदात्तादि पद का प्रयोग ही प्रयत्न विशेष किया गया है । इसी तरह उञः ऊँ सूत्र में अनुनासिकोच्चारण रूपी यत्नाधिक्य देख कर अनुनासिकत्व की विवक्षा समझी जाती है । 'पथिमथ्यृभुक्षामात्' इत्यादि सूत्रों में स्थानी अनुनासिक नकार वर्ण के अनुरूप अनुनासिक आकार का उच्चारण न कर निरनुनासिक आकारादेश के उच्चारणरूपी यत्न के कारण अनुनासिकत्व की विवक्षा की गई है। इसलिए इस वचन के व्याख्यान में '**असति यत्ने**' इतना अंश और जोडा गया है ।

७. नाकारस्य गुणो भवति

'**इको गुणवृद्धी**' सूत्र में इक् ग्रहण के प्रयोजन के विचार के प्रसंग में भाष्यकार ने कहा है कि आकार के स्थान में गुण की निवृत्ति के लिए इक् का ग्रहण करना आवश्यक है । अन्यथा 'याता', 'वाता' इन प्रयोगों में भी आकार के स्थान में गुण होने लगेगा । इसी तरह और भी कतिपय प्रयोजन बता कर आकार के स्थान में गुण की निवृत्ति रूप प्रयोजन का निराकरण करते हुए कहा कि — **आकारनिवृत्त्यर्थेन तावन्नार्थः। आचार्य प्रवृत्तिर्ज्ञापयति—'नाकारस्यगुणो भवति'** इति । **यदयं आतोपनुसर्गे क इति ककारमनुबन्धं करोति'** । 'आतोऽनुपसर्गे कः' सूत्र में क प्रत्यय के कित् करने का यही प्रयोजन हो सकता है कि 'गोदः कम्बलदः' प्रयोगों में 'आतोलोप इटि च' सूत्र द्वारा आकार का लोप हो, यदि आकार के स्थान में भी गुण होता तो 'क प्रत्यय' का कित्करण अनर्थक ही होगा । क्योंकि गोदः कम्बलदः प्रयोगों में 'दा' धातु के आकार के स्थान में अकार गुण कर के प्रत्यय अकार के साथ 'अतोगुणे', सूत्र द्वारा पररूप करके 'गोदः', 'कम्बलदः' प्रयोग सिद्ध ही हो जाएगा । 'आतोऽनुपसर्गे कः' सूत्र में क प्रत्यय का कित्करण व्यर्थ हो जाएगा। इससे स्पष्ट ज्ञात है कि 'अकार के स्थान में गुण नहीं होता है'। यहां गुण करने पर पररूप की अपेक्षा पर होने के कारण 'अतो लोपः' सूत्र से लोप की प्रसक्ति की आशंका नहीं की जा सकती है क्योंकि 'अतो लोपः' सूत्र से आर्धधातुकोपदेश काल में जो अकारांत हो, उसके ही अकार के लोप का विधान होता है । कैयट ने स्पष्ट किया है कि '**अतो**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लोपस्तु न भवत्यार्धधातुकोपदेशे यदकारान्तं तस्य लोपाविधानात्' । यद्यपि आगे चलकर भाष्य में 'आतो नुपसर्गे कः' सूत्र में कित्करण का प्रयोजन उत्तर सूत्र 'तुन्दशोकयोः परिमृजानुपदोः' में बताकर इसके ज्ञापकत्व का खण्डन कर दिया है तथापि 'गापोष्टक्' सूत्र में टक् प्रत्यय के कित्करण को, जिसका प्रयोजन केवल आकार लोप ही है अन्य किसी प्रयोजन की संभावना नहीं है, ज्ञापक रूप में उपन्यस्त कर 'नाकारस्य गुणो भवति' इस वचन को ज्ञापित किया गया है । इस तरह 'इको गुणवृद्धी' सूत्र में इग्ग्रहण के अभाव में भी आकार के स्थान में गुण की आपत्ति संभव न होने के कारण याता, वाता आदि प्रयोगों में कोई दोष नहीं होगा । अकार के स्थान में गुण को निवृत्ति के लिए 'इकोगुणवृद्धी' सूत्र में इक् के ग्रहण की कोई आवश्यकता नहीं है । अर्थात् 'इकोगुणवृद्धी' सूत्र में इक् के ग्रहण का प्रयोजन आकार के स्थान में गुण की निवृत्ति नहीं है । अन्त में **व्यंजन** के स्थान में गुण की निवृत्ति का प्रयोजन सिद्ध कर इक् के ग्रहण को सार्थक सिद्ध किया गया है । इसी प्रसंग में श्री भट्टोजिदीक्षित ने 'शब्दकौस्तुभ' में स्पष्ट कहा है कि—**'उक्तरीत्या ज्ञापकेनैवात्सन्ध्यक्षराणां निरासेऽपि व्यंजननिवृत्यर्थं सूत्रं कर्तव्यमेव'** । इस तरह 'इको गुणवृद्धी' सूत्र में इक् की सार्थकता सिद्ध हो जाने पर आकार के स्थान में गुण की प्रसक्ति न होने के कारण यह ज्ञापन भी अनावश्यक हो जाता है । यदि 'इकोगुणवृद्धी' सूत्र नहीं होता तो यह वचन शास्त्रशेष होकर आकार के स्थान में गुणव्यावृत्ति के लिए मान्य होता । परन्तु इस सूत्र के रहने पर इस वचन का कोई महत्व नहीं रह जाता है । यह वचन पूर्वपक्ष के स्थापनार्थ केवल प्रासङ्गिक विचार का ही विषय है ।

८. न व्यंजनस्य गुणो भवति

यह वचन भी इकोगुणवृद्धी सूत्र में इक् के ग्रहण के प्रयोजन के विचार में उपन्यस्त है । जैसा कि—**'इग्ग्रहणमात्सन्ध्यक्षरव्यंजननिवृत्यर्थम्'** इस वार्तिक से स्पष्ट किया गया है । इसी वार्तिक की व्याख्या में भाष्यकार ने कहा है कि—**व्यंजननिवृत्यर्थम्—उम्भिता, उम्भितम्, उम्भितव्यम् । व्यंजनस्य गुणाः प्राप्नोति** । इग्ग्रहण भवति । यदि 'इकोगुणवृद्धी' सूत्र में इक् का ग्रहण न किया जाए तो 'उम्भिता' इत्यादि प्रयोगों में 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' सूत्रों द्वारा उम्भ् धातु के उकार के स्थान में भी ओष्ठयवर्ण होने के कारण ओकार गुण होने लग जाएगा । अतः व्यंजनवर्ण के स्थान में गुण की निवृत्ति के लिए इग्ग्रहण आवश्यक है । इस प्रयोजन के खण्डन के लिए भाष्यकार ने ज्ञापक उपन्यस्त कर कहा है कि' 'व्यंजननिवृत्यर्थेपि नार्थः । आचार्य प्रवृत्तिर्ज्ञापयति 'न व्यंजनस्य गुणो भवति, इति ।' यदयं जनेर्डं शास्ति । सप्तम्यां जनेर्डः' सूत्र में 'ड' प्रत्यय के डित्करण का प्रयोजन यही है कि 'उपसरजः', 'मन्दुरजः' इत्यादि प्रयोगों में जन् धातु से ड प्रत्यय करने पर डित्व सामर्थ्यात् टि लोप हो सके, यदि व्यंजन के स्थान में भी गुण होगा तो ड-प्रत्यय का डित्करण व्यर्थ हो जाएगा, क्योंकि ड प्रत्यय करने के बाद 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' सूत्र से जन् धातु में नकार के स्थान में अकार गुण होकर तीनों अकारों के पररूप हो जाने से 'उपसरजः'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'मन्दुरजः' आदि प्रयोग सिद्ध हो जायेंगे । ड-प्रत्यय का डित्करण व्यर्थ हो जाएगा। इससे यह निश्चित हो रहा है कि आचार्य ने यह देखा है कि—**'न व्यंजस्य गुणो भवति'**, इसी लिए जन् धातु से ड-प्रत्यय का विधान किया गया है । जन् धातु के न के स्थान में गुण करने पर एकार ओकार गुण की प्रसक्ति नहीं हो सकती, क्योंकि अर्धमात्रिक व्यंजन के स्थान में मात्राद्वयन्यूनकालिकत्वेन अन्तरम् होने के कारण एकमात्रिक अकार ही गुण प्रसक्त होगा । यदि अनुनासिक नकार में अनुनासिक अकार गुण की प्राप्ति की संभावना हो तो वह पररूप द्वारा शुद्ध हो जाएगा । इस तरह 'सप्तम्यां जनेर्डः' सूत्र में ड-प्रत्यय के डित्क-रण द्वारा **'न व्यंजनस्य गुणो भवति'**, इस वचन के ज्ञापित हो जाने के कारण कोई दोष नहीं हो सकता 'इकोगुणंवृद्धी' सूत्र में इक का ग्रहण नहीं करना चाहिए । अन्त में भाष-यकार ने **'नगः' 'अगः'** आदि प्रयोग सिद्ध करने के लिए गम् धातु से ड प्रत्यय को बता कर **कित्करण की सार्थकता** सिद्ध की है । क्योंकि गम् धातु के मकार के स्थान में यदि गुण किया जाए तो स्थान कृत आन्तरतम्य को लेकर मकार के स्थान में ओकार गुण प्राप्त होने लगेगा । 'नगः' आदि प्रयोगों की सिद्धि नहीं होगी अतः 'इकोगुणवृद्धी' सूत्र में इग्ग्रहण अवश्य कर्तव्य है । कैयट ने **'गमेरप्ययं डो वक्तव्यः'** इस भाष्य की व्याख्या करते हुए कहा है कि—**'सप्तम्यां जनेर्डं इत्योऽन्येष्वपि दृश्यत इत्यत्र डोऽनुवर्तमानो गमेरपि विधीयत इत्यज्ञापकं डित्वमिति व्यंजननिवृत्यर्थं सूत्रं स्थितम्'** अर्थात् 'सप्तम्यां जनेर्डः' सूत्र के उत्तर में पढ़े गये—'अन्येष्वपि दृश्यते' सूत्र में दृशि ग्रहण के सामर्थ्य से गम् धातु से भी ड प्रत्यय सिद्ध हो सकता है, गम् धातु से ड प्रत्यय करने के लिये पृथक्-प्रत्यय अनावश्यक है । अतः 'नगः' आदि प्रयोग की सिद्धि के लिये 'ड' प्रत्यय का डित्करण आवश्यक है । इसके द्वारा 'न व्यंजनस्य गुणो भवति' वचन ज्ञापित नहीं हो सकता, अतः इक् का ग्रहण 'इकोगुणवृद्धी' सूत्र में आवश्यक है । **'न व्यंजनस्य गुणो भवति'** यह वचन पूर्वपक्ष की स्थापना के लिये प्रासंगिक रूप में उपन्यस्त है । अतः इसे शास्त्रशेष वचन के रूप में इस शास्त्र में मान्यता नहीं दी गई है ।

६. न सिच्यन्तरङ्गं भवति

यह वचन भी 'इकोगुणवृद्धी' सूत्र के भाष्य में उपन्यस्त है । इकोगुणवृद्धी सूत्र में वृद्धिग्रहण की आवश्यकता पर विचार करते हुए भाष्यकार ने कहा है कि—**'सिजर्थं वृद्धि-ग्रहणं कर्तव्यम्' सिचि वृद्धिरविशेषेणोच्यते सेऽको यथा स्यादनिको मा भूदिति'** अर्थात् 'सिचि-वृद्धिः परष्मैपदेषु' सूत्र द्वारा सिच् परे रहते वृद्धि का विधान स्थानी के निर्देश के विना ही किया गया है, यह वृद्धि इक् के स्थान में ही हो अनिक् के स्थान में न प्राप्त हो अतः 'इकोगुणवृद्धी' सूत्र में वृद्धिग्रहण आवश्यक है ताकि वृद्धिविधायक 'सिद्धिवृद्धिः पर-स्मैपदेषु' सूत्र में इक् पद उपस्थित होकर अनिक् के स्थान में वृद्धि होने से रोक सके । अन्यथा 'अचिकीर्षीत्' 'अजहीर्षीत्' इत्यादि प्रयोगों में अकार के स्थान में वृद्धि की प्रसक्ति होने लगेगी । यदि इन प्रयोगों में वृद्धि को बाधकर 'आतोलोपः' की प्रवृत्ति होने के कारण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दोष नहीं हो सकता है तो 'अयासीत्' 'अवासीत्' आदि प्रयोगों में वृद्धि की व्यावृत्ति के लिये 'इकोगुणवृद्धी' सूत्र में वृद्धिग्रहण आवश्यक ही है। इस तरह 'सिचिवृद्धि' सूत्र में अनिक् की व्यावृत्ति के लिए इक् के संवन्धार्थ 'इकोगुणवृद्धी' सूत्र में वृद्धिग्रहण की आवश्यकता के विचार के प्रसंग में सभी उदाहरणों का प्रौढि द्वारा खण्डन कर भाष्यकार ने पुनः कहा कि—उत्तरार्थमेव तर्हि सिजर्थं वृद्धिग्रण कर्तव्यम्। सिचिवृद्धिरविशेषेणोच्यते सा क्ङिति मा भूत्—न्यनुवीत्, न्यधुवीत्। णू स्तवने 'धू' विधूतने, धातु से लुङ् लकार में नि उपसर्ग लगाकर 'न्यनुवीत्' 'न्यधुवीत्' प्रयोग सिद्ध किये गए हैं। इन प्रयोगों में नू धू धातु से लुङ् तिप् सिच् इडागमादि कार्य हो जाने के बाद 'गाङ्कुटादिभ्यो ञ्णिन्ङित्' सूत्र से प्रत्यय को ङित्व हो जाने पर क्ङिति च' सूत्र से वृद्धि के निषेध के लिए 'सिचिवृद्धिः परस्मैपदेषु' सूत्र में इक् पद उपस्थित न होने के कारण इस सूत्र से प्राप्त वृद्धि इग्लक्षण वृद्धि नहीं मानी जा सकेगी, अतः 'क्ङिति च' सूत्र द्वारा इसका निषेध नहीं होगा। इस तरह 'न्यनुवीत्', 'न्यधुवीत्' प्रयोगों की सिद्धि संभव नहीं होगी। अतः 'क्ङिति च' सूत्र से निषेध सिद्धि के लिए 'सिचिवृद्धिः परस्मैपदेषु' सूत्र में इक् का संदिग्ध आवश्यक है। एतदर्थ 'इकोगुणवृद्धी' सूत्र में वृद्धि ग्रहण आवश्यक ही है। इस प्रयोजन का भी खण्डन करते हुए भाष्यकार ने कहा है कि—'नि+अनू इ+स ईत्' इस अवस्था में 'अचि श्नुधातुभ्रुवामियवङौ' सूत्र द्वारा उवङादेश वृद्धि की अपेक्षा अन्तरङ्ग होने के कारण पहले उवङादेश ही होगा तदन्तर अन्त में अच् वर्ण के न होने से इस सूत्र की प्राप्ति नहीं रह जायेगी। अर्थात् अन्त में हल् वर्ण के रहने पर 'वदव्रजहलन्तस्याचः' सूत्र से हलन्तलक्षणवृद्धि की ही प्राप्ति होने के कारण 'सिचिवृद्धिः परस्मैपदेषु' सूत्र की प्रवृत्ति केवल अजन्त स्थल में ही होगी। यहां अन्त में अच् वर्ण न होने के कारण 'सिचिवृद्धिः परस्मैपदेषु' सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होगी। इस तरह यदि सिच् के विषय में अन्तरङ्ग की प्रवृत्ति स्वीकार की जाये तो 'न्यनुवीत्' 'न्यधुवीत्' प्रयोगों में वृद्धिनिषेध के निमित्त 'इकोगुणवृद्धी' सूत्र में वृद्धिग्रहण की आवश्यकता नहीं रह जाती है। परन्तु सिच् के विषय में वृद्धि की अपेक्षा अन्तरङ्ग की प्रवृत्ति ही उचित नहीं है। इस विषय में अनेक प्रयोगों में दोष तथा उसका उद्धार दिखाते हुए भाष्यकार ने इस सिद्धान्त को ज्ञापक द्वारा प्रमाणित किया है—**एवं त। ह्यर्याचाप्रवृत्तिज्ञापयति–न सिच्यन्तरङ्गं भवति'** । **इति । यदयम् 'अतो हलादेर्लघोरित्यकारग्रहणं करोति ।'** **'अतो हलादेर्लघोः'** सूत्र में अकार ग्रहण 'अकषीत' अयोषीत् (कृष धातु युष धातु) में वृद्धि की व्यावृत्ति के लिये किया गया है यदि सिच् के विषय में वृद्धि की अपेक्षा अन्तरङ्गत्वाद् गुण किये जाने के बाद लघु उपधा के अभाव ही वृद्धि नहीं होती। इस सूत्र में अकारग्रहण व्यर्थ ही हो जायेगा। किन्तु आचार्य ऐसा समझ रहे हैं कि **'न सिच्यन्तरङ्गं भवति'** इति अर्थात् सिच् के विषय में अन्तरङ्ग की प्रवृत्ति नहीं होती है। 'अकुटीत् (कुट् धातु) इत्यादि प्रयोगों में अकार के स्थान में वृद्धि की व्यावृत्ति के लिये अकारग्रहण की सार्थकता नहीं कही जा सकती है, क्योंकि अन्तरङ्ग होने से वृद्धि को बाध कर प्रवृत्त हुए गुण का 'क्ङिति च' सूत्र द्वारा निषेध हो जाने पर भी **देवदत्तहन्तृहतन्या येन** वृद्धि की प्रवृत्ति ही संभव नहीं है। देवदत्त के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हन्ता का नाश होने पर भी देवदत्त का उज्जीवन संभव नहीं ही है । इस तरह 'अतो हलादेर्लघोः' सूत्र में अकारग्रहण व्यर्थ होकर यह ज्ञापित कर ही रहा है कि सिच् के विषय अन्तरङ्ग की प्रवृत्ति नहीं होती है । 'न सिच्यन्तरङ्गं भवति इति' । सिच् के विषय में वृद्धि की अपेक्षा अन्तरङ्ग की प्रवृत्ति न होना न्यायसिद्ध भी है । क्योंकि येन ना प्राप्ति न्याय से सिच् परे वृद्धि द्वारा अन्तरङ्ग का ही बोध हो जायेगा । इस तरह अपवाद पक्ष में इस ज्ञापक का कोई उपयोग नहीं है । अतएव भाष्यकार ने यदि तर्हि सिच्यन्तरङ्ग भवति 'अकार्षीत्' अहार्षीत्' गुणे कृते रपरत्वे चानन्त्यत्वादवृद्धिर्न प्राप्नोति । इस भाष्य में यदि तर्हि शब्द से वृद्धि की अपवादता स्वीकार करते हुये उसके विषय में अन्तरङ्ग की प्रवृत्ति को दोषपूर्ण सूचित किया है । अर्थात् बाध्यसामान्य चिन्ता पक्ष में अन्तरङ्ग की अवश्य प्राप्ति में ही वृद्धि का आरम्भ होने के कारण वृद्धि बाधक हो जायेगी । **'यत्कर्तृकावश्य प्राप्तो यो विधिरारभ्यते ल तस्य बाधको भवति** । यह **येनना-प्राप्ति** न्याय का स्वरूप है । इस न्याय से स्वप्राप्तिकाल में अवश्य प्राप्त होने मात्र से ही बाध्यबाधकभाव स्वीकार किया जाता है, न कि सर्वथा निरवकाश होने पर ही, **'सत्यपि संभवे बाधनं भवति'**, उत्सर्ग शास्त्र की प्रवृत्ति के पूर्वकाल, अथवा उत्तरकाल में अपवादशास्त्र के संभव में भी बाध्य-बाधकभाव स्वीकार किया जाता है । अन्यथा 'सर्वेभ्यो ब्राह्मणेभ्यो दधि दीयताम्, तक्रं कौण्डिन्याय, इस वाक्य में तक्रदान से दधिदान का बाध नहीं हो सकता है । क्योंकि दधिदान के पूर्व या उत्तरकाल में तक्रदान का संभव है ही । अतः येन नाप्राप्तिन्याय का आश्रयण लेकर बाध्यसामान्य चिन्ता पक्ष में वृद्धि अन्तरङ्ग मात्र की बाधक हो सकती है । ज्ञापक अनावश्यक ही है ।

बाध्यविशेष चिन्तापक्ष का आश्रय लेने पर—मध्येऽपवाद न्याय से उवङ् का ही बाधक होगी गुण का बाधक नहीं हो सकेगी, इस तरह वृद्धि की अपेक्षा पर होने के कारण गुण ही बलवान होकर बाधक होगा । **'मध्ये पठिता ये अपवादा ते पूर्वान् विधीन बाधन्ते नोत्तारान्'** यही मध्येपवाद न्याय का स्वरूप है । सिच् परे वृद्धि मध्यवर्ती अपवाद है । वह स्व पूर्ववर्ती उवङ् का बाध कर सकता है । परन्तु स्वोत्तरवर्ती गुणशास्त्र का बाध नहीं कर सकता । इस तरह 'अकोषीत्' आदि प्रयोगों में वृद्धि की अपेक्षा गुण बलवान् होने के कारण वृद्धि का बाधक हो जाएगा । तदन्तर लघु उपधा के अभाव में वृद्धि की प्राप्ति संभव न होने के कारण 'अतोहलादेलघोः' सूत्र में अकार ग्रहण व्यर्थ है । अकुटीत् आदि प्रयोगों में वृद्धि की व्यावृत्ति के लिए अकार ग्रहण आवश्यक नहीं हो सकता क्योंकि यहां भी अन्तरङ्ग गुण द्वारा वृद्धि का बाध हो जाने पर गुण का 'क्ङिति च' से निषेध होने पर भी वृद्धि की प्रवृत्ति संभव नहीं हो सकती । जैसे देवदत्त के हन्ता का हनन कर देने पर भी देवदत्त जीवित नहीं हो सकता है । अतएव भाष्यकार ने **'अपवादे प्रतिषिद्धे उत्सर्गोऽपि न भवति'** अपवाद के निषेध हो जाने पर उत्सर्ग भी प्रवृत्त नहीं होता है, इसे स्वीकार कर **'सुजाते अश्व सूनृते'** इत्यादि प्रयोगों में पूर्वरूप का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निषेध होने पर अयादि आदेश का भी अभाव दिखाया है । **'पूर्वरूपेप्रतिषिद्धे अयादयोपि न भवन्ति'** । इस तरह बाध्यविशेष चिन्ता पक्ष का आश्रयण करने पर 'अतो हलादेर्लघोः' सूत्र से अकारग्रहण को 'न सिच्यन्तरङ्गं भवति' इस वचन में ज्ञापक ही स्वीकार करना पड़ेगा। अतएव भाष्यकार ने 'यच्च करोत्यकारग्रहणं लघोरिती कृतेपि' यह कह कर ज्ञापक का पुनः उपन्यास किया है । भिद्योध्यौ नदे, 'तौ सत्' इत्यादि निर्देश के अनुसार **'अपवादे प्रतिषिद्धे उत्सर्गेपि न भवति** इस न्याय को सार्वत्रिक मानना उचित नहीं होगा । अन्यथा वृक्षौ आदि प्रयोगों में 'नादिचि' द्वारा अपवादभूत पूर्वसवर्ण दीर्घ का निषेध होने पर पुनः 'वृद्धिरेचि' से वृद्धि की प्रवृत्ति संभव नहीं हो सकेगी । इस तरह 'तौ', 'भिद्योद्ध्यौ', आदि सभी निर्देश असंगत हो जायेंगे । ऐसे स्थल में देवदत्त हन्तृहन्तन्याय भी स्वीकार नहीं किया जा सकता है क्योंकि देवदत्त के हन्ता का विनाश होने पर देवदत्त का उज्जीवन न भी हो, किन्तु देवदत्त को मारने के लिए समुद्यत व्यक्ति का विनाश कर देने पर देवदत्त का उज्जीवन होगा ही । इसी तरह उत्सर्ग के हनन के लिए समुद्यत अपवाद शास्त्र की प्रसक्ति काल में ही निषेध होने पर उत्सर्ग शास्त्र की प्रवृत्ति में कोई बाधा नहीं हो सकती । इस तरह स्वीकार किया जाये तो बाध्यसामान्य चिन्ता पक्ष का आश्रयण कर येन ना प्राप्तिन्याय से ही 'सिच्यन्तरङ्गं न भवति' इस वचन का साधन करना आवश्यक होगा । इस तरह पक्ष भेद के अनुसार बाध्यसामान्य चिन्तापक्ष में येनना प्राप्तिन्याय द्वारा ही सिच्यन्तरङ्गं न भवति इस वचन की सिद्धि हो सकती है । बाध्यविशेष चिन्तापक्ष में 'अतोहलादेर्लघोः' सूत्र में अकारग्रहण इस वचन का ज्ञापक होगा । शब्दकौस्तुभ में श्री भट्टोजिदीक्षित ने इस संदर्भ के अन्त में स्पष्ट लिखा है तथा च पक्षभेदाश्रयेणातोहला देरित्यदग्रहणमपि ज्ञापकमिति स्थितम्' । सर्वथा इस वचन को स्वीकार करना चाहिए क्योंकि इस वचन का प्रयोजन स्पष्ट है यदि सिच् के विषय में अन्तरङ्ग की प्रवृत्ति स्वीकार की जाए तो यङ्लुगन्त चि धातु, नो धातु तथा चिरि, जिरि, आदि धातु से लुङ् सिच् में अचेचायीत्, अनेनायीत, अचिरायीत, अजिरायीत् आदि प्रयोग सिद्ध नहीं होंगे । क्योंकि वृद्धि की अपेक्षा पहले अन्तरङ्ग होने के कारण गुण तथा अयादेश कर देने वान्त होने से ह्म्यन्तक्षणश्वसजागृणिश्व्येदिताम् सूत्र से वृद्धि के निषेध की प्रसक्ति हो जायेगी ।

इस तरह यह वचन सप्रयोजन होने के कारण अवश्य ही शास्त्रशेषत्वेन स्वीकारणीय है । बाध्यविशेषचिन्तापक्ष में मध्येपवादन्याय द्वारा उवङा देश का ही बाध किया जा सकता है । गुण का बाध संभव नहीं होगा । अतः उक्त प्रयोगों की सिद्धि नहीं हो सकेगी । इसलिए सिच् के विषय में समस्त अन्तरंगों के बाध की सिद्धि के लिए बाध्यसामान्यचिन्तापक्ष का हीं आश्रयण करना चाहिए । इसी सिद्धान्त के उपपादन के लिए भाष्यकार ने ज्ञापक का उपन्यास किया है । यदि सिच् के विषय में समस्त अन्तरङ्गों का बाध येननाप्राप्तिन्याय से ही सिद्ध हो सकता तो भाष्यकार द्वारा ज्ञापक का उपन्यास सर्वथा व्यर्थ हो जाएगा । अतः बाध्य सामान्य चिन्तापक्ष के आश्रयण यथार्थ ही यह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ज्ञापक विचारणीय है । ऐसी स्थिति में कैयट ने जो यह कहा है कि—**न्ययदाप्येतत्सि-, ये न प्राप्तिन्या येनाऽयरङ्गस्य वृद्धया बाधात् । इति'** । यह विचार संगत नहीं कहा जा सकता । क्योंकि यदि सिच् के विषय में समस्त अन्तररंगों का बाध सर्वथा न्यायसिद्ध होता तो ज्ञापकोपन्यास निरर्थक ही हो जाता । इस परिस्थिति में न्यनुवीत् न्यधुवीत् इत्यादि प्रयोगों में वृद्धि के लिए 'विङति च' सूत्र की प्रवृत्ति आवश्यक है । 'विङति च' इस निषेध-सूत्र की प्रवृत्ति वृद्धि के इग्लक्षणत्व के बिना संभव नहीं होगी । अतः वृद्धि को इग्लक्षण सिद्ध करने के लिए 'इकोगुणवृद्धि' सूत्र में वृद्धिग्रपण भी आवश्यक ही है । तथा सिच् के विषय में अन्तरंगमात्र के लाभ के लिए बाध्यसामान्य चिन्तापक्ष के आश्रयण द्वारा 'सिच्यन्तरङ्गं न भवति' यह सिद्धान्त रूप वचन भी अत्यन्त आवश्यक है । इस सिद्धान्त के लिए ज्ञापक का उपन्यास भी अत्यन्त आवश्यक है ।

१०. भवत्युपधालक्षणस्य गुणस्यप्रतिषेध

विङति च सूत्र में भाष्यकार ने विचार किया है कि इस सूत्र में निमित्त ग्रहण करना चाहिए । रदि **कित् डित्** परे रहते प्राप्त गूण का नि ेण किया जाए तो उपधा में प्राप्त गुण का निषेध नहीं होगा । 'भिन्नः', 'भिन्नवान्' आदि प्रसोगों में भिद् धातु से निष्ठा प्रत्यय परे रहते 'पुगन्तलघूपधस्य च' सूत्र से भिद् में इकार के स्थान में गुण प्राप्त है । । वह इकार, निष्ठा प्रत्यय से अव्यवहित पूर्व न होने के कारण उसके स्थान में प्राप्य गुण का निषेध 'विङति च' सूत्र द्वारा नहीं होगा । इस तरह भिन्नः भिन्वान् में गुण-निषेध की सिद्धि नहीं होगी । केवल चितः' स्तुतः' आदि प्रयोगों मे ही गुण का निषेध सिद्ध होगा । अतः इस सूत्र में निमित्तग्रहण करने पर कित्-ङित् को निगित्त मानकर होने वाले जो गुण तथा वृद्धि, वह नहीं होते हैं, इम तरह की व्याख्या में 'भिन्नः, भिन्नवान्' आदि प्रयोगों में गुध के निषेध की सिद्धि हो सकती है, क्योंकि 'भन्नः' में जो गुण प्राप्त है वह कित् निष्ठा प्रत्यय को निमित्त बनाकर ही प्राप्त है । उसका निषेध हो सकेगा । इस तरह उपधागुण के निषध के लिए 'क्ङिति' च सूत्र में निमित्त ग्रहण की कावश्यकता सिद्ध करने के बाद निमित्त ग्रहण का प्रत्याख्यान भी भाष्य में किया गया है—**उपाधार्थेन तावन्नार्थः इति** । अर्थात् उपधागुण के निषेध के लिये जो निमित्त ग्रहण को आवश्यकता बताई गयी है, वह अनावश्यक है, अर्थात् निमित्तग्रहण के बिना भी 'भिन्नः' 'भिन्नवान्' आदि प्रयोगों में गुण निषेध की सिद्धि हो जाएगी । उपधागुण के निषेध के साधन के लिए भाष्य में अनेक उपायों का प्रदर्शन क्रिया गया है, उसमें यह भी एक उपाय भाष्यकार ने बताया है—**'अथवाचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति-भवत्युपधालक्षणस्य गुणस्यप्रतिषेधः, इति** । यदयं **वनुः इको झल्**, हलन्ताच्चेतिक्नुसनौ कितौ करोति । अर्थात् 'त्रासि गृधि धृषिक्षिपेः' वनुः सूत्र में जो वनु प्रत्यय को कित् किया गया है, इससे ज्ञापित हो रहा है कि उपधा स्थानिक गुण का भी 'विङति च' सूत्र से निषेध होता है । क्योंकि वनु प्रत्यय के कित्करण का यही प्रयोजन है कि 'गृध्नुः', 'धृष्णुः', क्षिप्नुः प्रयोगों में गृध, धृषु, क्षिप् धातु के उपधा को कथंचित् गुण की प्रसक्ति न हो । यदि यहां कित् प्रत्यय से अव्यवहित पूर्व न होने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के कारण निषेध की प्रवृत्ति न मानी जाए तो क्नुप्रत्यय का कित्करण सर्वथा व्यर्थ ही हो जाएगा। इसी तरह 'हलन्ताच्च' सूत्र में 'इको झल्' सूत्र से इक् की अनुवृत्ति कर इक् समीप झलादि सन् को कित् विधान किया जाता है। इस कित् विधान का भी प्रयोजन यही है कि जुघुक्षति, विभित्सति आदि प्रयोगों में गुह, भिद् आदि धातु से सन् प्रत्यय करने पर उपधा गुण न हो। यदि कित् प्रत्यय सन् से अव्यवहित पूर्व न होने के कारण गुण के निषेध की प्रवृत्ति न स्वीकार की जाए तो 'हलान्तच्च' सूत्र द्वारा सन् का कित्करण भी व्यर्थ ही हो जाएगा। इससे यह स्पष्ट है कि आचार्य ने यह अनुभव किया है कि 'उपधास्थानिक गुण' का भी निषेध 'क्ङिति च' सूत्र से होता है, इसीलिए क्रु प्रत्यय तथा सन् प्रत्यय को कित् विधान लिया है। इस कित्करण द्वारा यह अनुमान किया जा सकता है कि 'क्ङिति च' सूत्र में 'तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य' यह परिभाषा अव्यवधानांश-विकल होकर ही उपस्थित होगी। केवल पूर्व पर के संदेह की निवृत्ति के लिए पूर्व मात्र का निश्चय इस परिभाषा द्वारा होता है। अव्यवधानांश का उक्त कित्करण को देखकर परित्याग कर दिया जाता है। कैयट ने इसी संदर्भ को लेकर स्पष्ट किया है कि **'लिङ्गान्निर्दिष्टइत्यश विकला तस्मिन्निति परिभाषोपतिष्ठत इत्यर्थः'**। इस तरह 'क्ङिति च' सूत्र में निमित्त ग्रहण के प्रत्याख्यानार्थ अनेक उपायों का प्रदर्शन करते हुए भाष्यकार ने एक ज्ञापक का भी प्रत्यायानोपाय रूप में उपन्यास किया है। 'क्ङिति च' सूत्र में भी सप्तमी स्वीकार करने पर भी इस ज्ञापक से 'तस्मिन्निति निर्दिष्टेपूर्वस्य' परिभाषा की अव्यवधानांशविकल उपस्थित होने के कारण कोई दोष नहीं होगा। 'क्ङिति च' सूत्र में निमित्त ग्रहण करना अनावश्यक ही है। यही भाष्य का तात्पर्य है, एतदर्थ ही ज्ञापक का उपन्यास किया गया है। ज्ञापक द्वारा 'तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य' परिभाषा की उपस्थिति अव्यवधानांशविकल स्वीकार करने पर भी नेनिक्ते आदि प्रयोगों में अभ्यास के गुण का निषेध नहीं किया जा सकता है क्योंकि **'येन नाव्यवधानं तेन व्यवहितेपि'** इस न्याय से अनेक वर्ण के व्यवधान में निषेध की प्रवृत्ति नहीं हो सकती है। अतः कोई दोष नहीं होगा। ज्ञापक द्वारा भी 'क्ङिति च' सूत्र में निमित्त ग्रहण का प्रत्याख्यान संगत ही है।

११. न प्रगृह्यसंज्ञायां प्रत्ययलक्षणं भवति

'ईदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यम्' सूत्र के भाष्य में सूत्रार्थ के निर्णय के संदर्भ में विचार किया गया है कि ईकार-ऊकार-एकार रूप जो द्विवचन, इस तरह का अर्थ करना चाहिए, अथवा ईकाराद्यन्त जो द्विवचन, इस तरह का अर्थ करना चाहिए। दोनों पक्षों का रहस्य यह है कि यदि 'ईदूदेत्' को संज्ञी माना जाए तो द्विवचन ही विशेषण रहेगा। ईकारादि में द्विवचनान्तत्व संभव न होने के कारण तदन्त विधि की प्रवृत्ति न होने से द्विवचन-स्वरूप ईकार, उकार, एकार की प्रगृह्य संज्ञा होगी। यदि द्विवचन को ही संज्ञा माना जाए तो उसका विशेषण **ईदूदेत्** होगा, तदन्द विधि द्वारा ईदाद्यन्त जो द्विवचन उसकी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रगृह्य संज्ञा होगी। इन दोनों पक्षों में दोष की संभावना देखकर प्रश्न किया गया है— **कथं पुनरिदं विज्ञायते–ईदादयो यद् द्विवचनमिति, आहो स्विदीदाद्यन्तं यद् द्विवचनमिति।** इन दोनों पक्षों के प्रथम पक्ष में दोष दिखाकर द्वितीय पक्ष को स्वीकृत किया गया—**'अस्तु तर्हि—ईदाद्यन्तं यद् द्विवचनमिति'**। इस द्वितीय पक्ष में भी **पचेते इति, पचेथे इति।** इन प्रयोगों में एकारान्त द्विवचन होने के कारण प्रगृह्य संज्ञा में कोई बाधा न होने पर भी **खट्वे इति, माले इति** इन प्रयोगों में दोष ही हो सकता है, क्योंकि खट्वे आदि में एका-रूप द्विवचन होने पर भी एकारान्त द्विवचन नहीं है। इस तरह दोष की अशङ्का कर **'न वाद्यन्तवत्वात्'** वार्तिक द्वारा 'आद्यन्तदवेकस्मिन्' सूत्र की सहायता से खट्वे आदि में भी प्रगृह्य संज्ञा उपपादन किया गया। इस तरह इस पक्ष के निर्दिष्ट होने पर भी आद्यन्तवद्भाव का आश्ररण न करने मात्र के लिए तीसरे पक्ष का भी निरूपण भाष्य में किया गया—**'अथवा एवं वक्ष्यामि ईदाद्यन्तं यद् द्विवचनान्तमिति। प्रत्ययग्रहणे यस्मात्सविहि-तस्तदादेस्तदन्तस्य ग्रहणं'**। इस परिभाषा द्वारा द्विवचन में द्विवचनान्त का ग्रहण किया गया। पश्चात् 'ईदूदेत्' को द्विवचनान्त का विशेषण मान कर तदन्तविधि द्वारा ईदाद्यन्त जो द्विवचनान्त, ऐसा व्याख्यान हो सकता है। इस तरह की ब्याख्या से खट्वे आदि प्रयोगों में आद्यन्तद्भाव के आश्रयण देना ही प्रगृह्य संज्ञा सिद्ध हो सकती है। क्योंकि खट्वे एदन्त भी है तथा द्विवचनान्त भी है। इस तीसरे पक्ष में भी 'कुमार्योरगारं' कुमार्यगारं, बध्वोरगारं बध्वगारम्—इन प्रयोगों में अतिव्याप्ति की आशङ्का से दोषोपन्यास किया गया है—**'ईदाद्यन्तं द्विवचनान्तमिति चेल्लुकि प्रतिषेधः'** अर्थात् ईदाद्यन्त जो द्विवचना-न्त इस तरह की व्याख्या करने पर कुमार्योः आगारम् कुयार्यगारम्, वध्वोः अगारं वध्व-गारम् यहां समास होने पर कुमारी अगारम् वधू अगारम् इस अवस्था में कुमारी ईका-रान्त वधू उकारान्त भी है तथा 'प्रत्यबुलोपे प्रत्ययलक्षणम् सूत्र की सहायता से द्विवचनांत भी हो रहा है। ऐसी स्थिति में यहां भी प्रगृह्य संज्ञा हो जाएगी तो कुमार्यगारम्, व वगारम् आदि प्रयोग सिद्ध नहीं हो सकेंगे। इस तरह तृतीय षक्ष में दोष दिखाकर इस दोष के उद्धारार्थ प्रस्तुत ज्ञापक का आश्रय लिया गया है—'न प्रगृह्य संज्ञायां प्रत्यय-लक्षणं भवति इति'। ईदूतौ च सम्तम्यर्थे सूत्र में ईदूतौ च सम्तमी होने पर भी सम्तमी में तदन्त विधि द्वारा इदूदन्त जो सम्तम्यन्त ऐसी व्याख्या हो सकेगी, इसी व्याख्या से सोमो गौरी अधिश्रितः इत्यादि की सिद्धि हो जाएगी। क्योंकि गौरी ईकारान्त भी है, प्रत्ययलक्षण द्वारा सप्तम्यन्त भी है। इस तरह प्रज्ञोग सिद्ध हो जाने पर भी जो आचार्य ने 'ईदृतौ च सप्तम्यर्थे' सूत्र में अर्थग्रहण किया हैं इससे यह ज्ञापित किया है कि प्रगृह्य संज्ञा के प्रकरण में प्रत्यय लक्षण नहीं होता है। अतः ईदाद्यन्तं यद् द्विवचनम्, ऐसी व्याख्या के पक्ष में कोई भी दोष नहीं हो सकता है। इस तृतीय पक्ष के समर्थन में मात्र के लिए इस ज्ञापन का उपन्यास किया गया है। आद्यन्तवद्भाव का आश्रयण न करने मात्र के लिए यह तृतीय पक्ष भाष्य में उपन्यस्त हुआ है। इस तृतीय पक्ष में भी दोषोद्धार के विए 'ईदूतौ च सप्तम्यर्थे' सूज्ञ में अर्थग्रहण को ज्ञापकार्थ को स्वीकार करने को गौरवपूर्ण मानकर भाष्य में चौथे पक्ष का उपन्यास किया है। ईदाद्यन्तं यद् द्विवचनं तदन्यमीदाद्यन्तमिति। इस रूप में चार पक्षों का उपन्यास किया गया है। इन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चारों पक्षों में भाष्यकार ने अन्त में द्वितीय पक्ष को ही सिद्धान्तित किया है—तृतीय तथा चतुर्थ पक्ष में द्विवचन में तदन्त विधि की गई है, जो कि सर्वथा असंभव है । क्योंकि "सुप्तिङन्तं पदम्" सूत्र में अन्तग्रहण से यह ज्ञापित होता है कि **संज्ञाविधौ प्रत्यय ग्रहणे तदन्त-ग्रहणं नास्ति"** इस परिभाषा द्वारा द्विवचन से तदन्त ग्रहण का प्रतिषेध हो जाने के कारण तृतीय तथा चतुर्थ पक्ष असंभव ही है, क्योंकि "ईदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यम्" भी संज्ञाविधि है। इसमें द्विवचन द्वारा तदन्त विधि संभव नहीं होगी । इसलिए द्वितीय पक्ष ही उचित होगा। **ईदूदेदन्तं यद् द्विवचनमिति** । आद्यन्तवद्भाव का आश्रयण भी इस पक्ष में आवश्यक ही है । भाष्यकार ने स्पष्ट कहा है—**"अवश्यं खल्वस्मिन् पक्षे आद्यन्तवद्भाव ऐषितव्यः । तस्मादस्तु मध्यमः पक्षः"** इस तरह यह प्रस्तुत ज्ञापक एक असिद्धान्त पक्ष के समर्थन में उपन्यस्त होने के कारण शास्त्रशेष नहीं हो सकता है केवल प्रासंगिक विचार में उपन्यस्त हुआ है ।

१२. इयमिह परिभाषा भवति—आद्यन्तवदेकस्मिन्निति, इयं च न भवति येन विधिस्तदन्तस्येति ।

इस ज्ञापक को "निपात एकाजनाङ् सूत्र में एकाच् शब्द को व्याख्या के प्रसंग में भाष्यकार ने उपन्यस्त किया है—एकाज् ग्रहण का फल 'प्रेद ब्रह्म', 'प्रेदं क्षत्रम्' इन प्रयोगों में प्र + इदम् इस अवस्था में प्रगृह्य संज्ञा का अभाव बताया गया इस पर यह आशंका की गई कि एकाज् ग्रहण करने पर भी यहां प्रगृह्य संज्ञा होनी ही चाहिए, क्योंकि "प्र" निपात भी एकाज् है ही ? इसके उत्तर में कहा गया कि एकाज् शब्द में बहुव्रीहि समास (एकोऽज्यस्मिन् सोऽयमेकाच्) नहीं समझना चाहिए किन्तु एकः – अच् एकाच् समानाधिकरण तत्पुरुष समास समझना चाहिए। इस तरह तत्पुरुष समास स्वीकार करने पर प्रेदम् प्रयोग में प्रगृह्य संज्ञा की प्रसक्ति नहीं होगी ।

इस पर यह आक्षेप दिया गया कि यदि एकाच् पद में समानाधिकरण तत्पुरुष स्वीकार करना है, तो एक ग्रहण अनावश्यक हो जायेगा । अच्रूप जो निपात ऐसी व्याख्या द्वारा '**प्रेदं ब्रह्म**, आदि प्रयोगों में दोष संभव नहीं हो सकेगा । अज्ग्रहण के सामर्थ्य से अज्रूप निपात ही गृहीत होगा । यदि अजन्त का ग्रहण किया जाय तो अज्–ग्रहण व्यर्थ हो जायेगा । क्योंकि हलन्त निपात की प्रगृह्य संज्ञा में कोई फल संभव नहीं है । अगत्या अजन्त निपात की ही प्रगृह्य संज्ञा प्राप्त होती । अज्ग्रहण व्यर्थ ही हो जायेगा । तत्साम-र्थ्यात् अज्रूप निपात की ही प्रगृह्य संज्ञा होगी 'प्रेदं ब्रह्म' आदि प्रयोगों में कोई दोष नहीं ही होगा। इस आक्षेप को लेकर भाष्य में पुनः यह प्रत्याक्षेप किया गया कि जैसे अज्ग्रहण के सामर्थ्य से निपात को अच् के प्रति विशेष्य न मान कर "येन विधिस्तदन्तस्य" इस परिभाषा का बाध कर रहे हैं उसी तरह निपात को अच् के प्रति विशेष्य मान कर तदन्त विधि द्वारा अजन्तमात्र का ग्रहण स्वीकार कर "आद्यन्तवदेकस्मिन्" परिभाषा का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बाध कर रहे हैं उसी तरह निपात का अच् के प्रति विशेष्य मान कर तदन्त विधि द्वारा अजन्तमात्र का ग्रहण स्वीकार कर "आद्यन्तवदेकस्मिन्" परिभाषा का बाध क्यों नहीं कर रहे हैं। इस तरह अजन्त निपात की ही प्रगृह्य संज्ञा होगी। अज्रूप निपात की प्रगृह्य संज्ञा नहीं हो सकेगी। क्योंकि अज्ग्रहण के सामर्थ्य से "येनविधिस्तदन्तस्य" का ही बाध होगा। 'आद्यन्तवदेकस्मिन्' का बाध नहीं होगा, इस व्यवस्था में कोई कारण नहीं है। इस तरह के प्रत्याक्षेप के निराकरण में भाष्यकार ने इस ज्ञापक का उपन्यास किया है— **आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति—इयमिह परिभाषा भवति आद्यन्तवदेकस्मिन्निति, इयं च न भवति येन विधिस्तदन्तस्येति, यदयं अनाङिति प्रतिषेधं शास्ति।** अर्थात् आङ् की प्रगृह्य संज्ञा के निषेध से यह ज्ञापित हो रहा है कि निपात को अच् के प्रति विशेष्य न मान कर येनविधिस्तदन्तस्य' परिभाषा की प्रवृत्ति न की जाय। किन्तु तदन्तविधि का प्रभाव होने के कारण फलतः 'आद्यन्तवदेकस्मिन्' परिभाषा की प्रवृत्ति ही मानी जाय। यहां यद्यपि तदन्त विधि का अभाव होने के कारण आद्यन्तवद्भाव की भी प्रवृत्ति संभव नहीं है। यथापि आद्यन्तवद्भाव द्वारा अच् मात्र ग्रहण में फल की समानता की दृष्टि से ही कहा गया कि— **इयमिह परिभाषा भवति "आद्यन्तवदेकस्मिन्निति"**। कैयट ने यहां यह स्पष्ट कर दिया है **लिङ्गादज्ग्रहणं निपातेन विशेष्यत इति। विशेष्येण तदन्तविधेरभावादतिदेशस्यापि माभूत्प्रवृत्तिः। तत्स्थलसंपत्या तूक्तं—परिभाषा भविष्यति।**

१३. अन्यत्र वर्णग्रहणे जातिग्रहणम् भवति।

उपर्युक्त क्रम से निपात एकाजनाङ्' सूत्र मे अनाङ्ग्रहण द्वारा आङ् की प्रगृह्य संज्ञा का जो प्रतिषेध किया गया है उससे यह ज्ञापित हुआ है कि अजन्त निपात की प्रगृह्य संज्ञा नहीं होगी किन्तु अज्रूप निपात की ही प्रगृह्य संज्ञा होगी। इस तरह 'निपात एकाजनाङ्' सूत्र में अज्ग्रहण मात्र से ही अज्रूप निपात गृहीत हो सकता है। एक ग्रहण व्यर्थ है। व्यर्थ होने पर भी पुनः जो एक ग्रहण किया गया है इससे आचार्य ने यह ज्ञापित किया है कि—**वर्णग्रहणे जातिग्रहणं भवति इति।** अर्थात् जैसे स्वाङ्ग समुदाय में स्वाङ्गत्व व्यवहार नहीं होता है उसी तरह अच् समुदाय में अच्त्व व्यवहार न होने के कारण अच् समुदाय की प्रगृह्य संज्ञा एक ग्रहण के बिना भी नहीं हो सकती है, अतः यह एक ग्रहण **"वर्णग्रहणे जातिग्रहणं भवति" इस शास्त्रशेष सिद्धान्त का ज्ञापक हो रहा है।** इस सूत्र में एक सूत्र में एक ग्रहण के रहने से अच् द्वारा एक ही अच् गृहीत होगा परन्तु अन्यत्र जहां कहीं वर्ण का ग्रहण किया गया है वहां सर्वत्र वर्ण-गत-जात्याश्रय अनेक वर्णो का ग्रहण होगा। अतएव भाष्य में कहा है कि **"अन्यत्र वर्णग्रहणे जाति ग्रहणं भवति"** ज्ञापक का यह स्वभाव है कि स्वांश में चरितार्थ होकर अन्यत्र फल का साधक होता है। इस तरह एक ग्रहण भी स्वांश में चरितार्थहोकर अन्यत्र ही फल का साधक होगा। जैसे दम्भ् धातु से सन् प्रत्यय में दम्भ इच्च' सूत्र से दम्भ के अकार के स्थान में इकार आदेश करने पर "सनीवन्तर्धभ्रस्जदम्भुश्रिस्वृयूर्णु भरज्ञपिसनाम्" सूत्र द्वारा वैकल्पिक इडागम के अभाव में हलन्ताच्च' सूत्र

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से सन् को कित् किया गया है । यदि वर्णग्रहण से एक वर्णमात्र का ग्रहण किया जाय तो दिम्भ + स इस अवस्था में इक् के समीप जो मकार (मूलतः नकार है, उससे अव्यवहित पर झलादि सन् नहीं हैं, जिस भ वर्ण से अव्यवहित पर झलादि सन् है, वह इक् के समीप में नहीं है, इस तरह 'हलन्ताच्च,' सूत्र से सन् प्रत्यय के कित्व का अभाव होने से "अनिदिता हल उपधायाः क्ङिति" सूत्र से नलोप न होने कारण **"धिप्सति"** प्रयोग सिद्ध नहीं हो सकेगा अतः **"वर्णग्रहणे जातिग्रहणम्"** इस ज्ञापकसिद्ध वचन द्वारा 'हलन्ताच्च' सूत्र में हल् से हल्त्व-जात्याश्रय अनेक हल् का ग्रहण किया गया । इस तरह दिम्भ्स इस अवस्था में इक् के समीप हल् से दिम्भ् में मकार (मूलतः नकार) तथा भकार दोनों हल् गृहीत हुए । उससे अव्यवहित पर झलादि सन् को कित् हो गया । **धिप्सति** प्रयोग की सिद्धि हुई । "निपात एकाजनाङ्" सूत्र में एक ग्रहण होने से अच् से अच्त्वजात्याश्रय अच् का समुदाय नहीं गृहीत होता है । अन्यथा अ इ उ + अपेहि इस प्रयोग में अ, इ, उ, निपात समुदाय की एक ही प्रगृह्य संज्ञा हो जायेगी । इस तरह "प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम्" सूत्र से 'अलो न्त्यस्य' सूत्र के अनुसार समुदाय के अन्त में विद्यमान उ मात्र का ही प्रकृतिभाव होकर यणादेश का अभाव हो सकता है । समुदाय के पूर्व के वर्णो अ, ई में गुण होने लगेगा । अतः अच् समुदाय के ग्रहण की आशंका के निरास के लिए एक ग्रहण स्वांश में सार्थक सिद्ध हुआ । यदि ऐसी आशंका की जाय कि प्रत्येक अच् की निपात संज्ञा होने के कारण अच् समुदाय में प्रगृह्य संज्ञा प्रवृत्त नहीं हो सकती, अतः अ, इ, उ, + अपेहि प्रयोग में उक्त दोष की संभावना नहीं हो सकती है तो यह ठीक नहीं है क्योंकि अच् समुदाय के ग्रहण के अनुसार ही अ, इ, उ, इस निपात समुदाय की भी एक प्रगृह्य संज्ञा हो ही सकती है क्योंकि निपात संज्ञक अच् समुदाय संभव ही नहीं होगा । अतः अगत्या अच् समुदाय से निपात समुदाय का ग्रहण होने से पूर्वोक्त दोष हो ही जायेगा । अतः निपात एकाजनाङ् सूत्र में एक ग्रहण आवश्यक ही है । कैयट ने स्पष्ट कहा है— **अच्समुदाय परिग्रहानुरोधित्वाच्च निपात-समुदायो गृह्यते, एक निपातस्याऽच् समुदायस्याऽभावात्** ।

१४. नोञेकादेश उञ्ग्रहणेन गृह्यते ।

'उञ ऊँ' सूत्र से उञ् निपात के स्थान में ऊँ आदेश किया जाता है । इस पर भाष्य में आहो + इति, उताहो इति इन प्रयोगों में आह + उ + इति इस अवस्था में उ (उञ्) के स्थान में ऊँ आदेश क्यों नहीं होता है ? इस शंका का भाष्यकार ने समाधान किया कि उञ् के स्थान में 'ऊँ' आदेश विहित है । आहो + इति इस अवस्था में उञ् नहीं है, अतः कोई दोष नहीं है । इस समाधान पर भाष्यकार ने आह + उ इस अवस्था में गुण होने के बाद 'अन्तादिवच्च' सूत्र से परादिवद्भाव द्वारा उञ् मान कर ऊँ आदेश होना ही चाहिए, इस तरह का आक्षेप दिखा कर कहा है कि— **आचार्य प्रवृत्तिर्ज्ञापयति–नोञेकादेश उञ्ग्रहणेन गृह्यते इति** । इस तरह ज्ञापन का आश्रय लेकर आहो इति में ऊँ आदेश की प्रसक्ति दूर की गई है । 'ओत्' सूत्र द्वारा ओदन्त निपात की प्रगृह्य संज्ञा विधान द्वारा आचार्य ने यह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ज्ञापित किया है कि उञ्- के साथ एकादेश उञ् के ग्रहण से गृहीत नहीं होता है । अन्यथा आहो + इति में परादिवद्भाव द्वारा उञ् निपात मान कर निपात 'एकाजनाङ्' सूत्र से प्रगृह्य संज्ञा सिद्ध हो सकती है । 'ओत्' सूत्र व्यर्थ हो जाएगा । अतः इस सूत्र से आचार्य ने यह ज्ञापित किया कि— उञ् के साथ हुआ एकादेश उञ् के ग्रहण से गृहीत नहीं होता है। अतः आहो + इति इस प्रयोग में 'ऊँ' आदेश की प्रसक्ति नहीं हो सकती है।

वस्तुतः यह ज्ञापक एकदेशीय विचार के प्रसंग में ही उपन्यस्त है क्योंकि 'ओत्' सूत्र के भाष्य में ओत् को **"प्रतिसिद्धार्थोऽयमारम्भः"** । कह कर ओत् सूत्र की सार्थकता सिद्ध की गई थी । आहो + इति इस प्रयोग में दोष की व्यावृत्ति आहो इसे एक निपात स्वीकार करके की गई है। **"नोञेका देश उञ्ग्रहणेन गृह्यते"** इसे स्वीकार करने पर भाष्य में दोष भी बताया गया है। जानु + उ + अस्य रूजति, जानू अस्य सजति जान्वस्य सजति यदि उञेकादेश उञ् ग्रहण से गृहीत न हो तो जान्वस्य सजति इस प्रयोग में 'मय उञों वो वा, सूत्र की प्रवृत्ति ही संभव नहीं होगी। अतः यह ज्ञापक प्रासंगित मात्र है। शास्त्रशेष नहीं है।

१५. न प्रगृह्यसंज्ञायां प्रत्ययलक्षणं भवति इति ।

'ईदूतौ च सप्तम्यर्थे ।' सूत्र में अर्थग्रहण के प्रयोजन के विचार के प्रसंग में— **'सोमो गौरी अधिश्रितः'** इस प्रयोग में सप्तमी के लुक् हो जाने पर भी प्रगृह्य संज्ञा के सिद्धयर्थ अर्थग्रहण की आवश्यकता बताकर भाष्यकार ने पुनः "ईदूतौ च सप्तमी" वचन के सामर्थ्य से तदन्त विधि द्वारा सप्तमी से सप्तम्यन्त अर्थ का लाभ होने से ईकारान्त सप्तम्यन्त का ग्रहण कर **सोमो गौरी अधिश्रितः** में दोष का निराकरण किया । इस तरह अर्थ ग्रहण का खण्डन कर पुनः सिद्धान्त भाष्य ने अर्थग्रहण की आवश्यकता बताते हुए कहा कि प्रगृह्य संज्ञा के प्रकरण में प्रत्ययलक्षण की प्रवृत्ति नहीं होती है । **"ईदूतौ च सप्तमी"** सूत्र के सामर्थ्य से यदि सप्तमी से सप्तम्यन्त ग्रहण किया जाय तो कुमार्योरगारं कुमार्यगारम, वध्वो-रगारम् = बध्वगारम् इन प्रयोगों में भी कुमारी + अगारम् बधू + अगारम् समास के बाद सप्तमी का लुक् हो जाने पर प्रगृह्य संज्ञा होने लगेगी । अतः **'संज्ञाविधौ प्रत्ययग्रहणे तदन्त-ग्रहणं नास्ति** इस परिभाषा के अनुसार तदन्तविधि स्वीकार करना उचित नहीं ही होगा । इस तरह यदि ईदूतौ च सप्तमी वचन के सामर्थ्य से तदन्तविधि का ज्ञापन किया जाय तो अर्थग्रहण सर्वथा व्यर्थ हो जायेगा । इसलिए अर्थग्रहण के सामर्थ्य से यहां तदन्त विधि का अभाव ही जानना चाहिए। अतएव कुमार्यगारम् आदि प्रयोगों में प्रगृह्य संज्ञा नहीं हो सकती । इस तरह इस सूत्र में अर्थग्रहण भी सार्थक हो रहा है अर्थग्रहण करने पर अर्थग्रहण के सामर्थ्य से सप्तम्यर्थमात्र में पर्यवसन्न जो 'इदूदन्त' शब्द होंगे उन्हीं की प्रगृह्य संज्ञा होगी । समास स्थल में पूर्वपद उत्तरपदार्थ से संसृष्ट ही स्वार्थ का बोधक होने के कारण सप्तम्यर्थ मात्र में पर्यवसन नहीं है । अतः कुमार्यगारम, वध्वगारम, वाप्यश्वः आदि प्रयोगों में प्रगृह्य संज्ञा नहीं होती है । इस तरह का अर्थ के रहने पर ही उसके सामर्थ्य से प्राप्त

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किया जा सकता है । अर्थ ग्रहण की आवश्यकता सिद्ध हो जाने पर "न प्रगृह्यसंज्ञायां प्रत्ययलक्षणं भवति" इस ज्ञापन की कोई आवश्यकता ही नहीं रह जाती है । क्योंकि यहाँ सप्तमी से सप्तम्यन्त का ग्रहण "संज्ञाविधौ प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणं नास्ति" इस परिभाषा से ही सिद्ध हैं, इस ज्ञापन की कोई आवश्यकता ही नहीं है । यह ज्ञापक केवल प्रासंगिक दृष्टि से ही उपन्यस्त है । सिद्धान्त की दृष्टि से इसका कोई महत्व नहीं है ।

१६. नानुबन्धकृतमनेजन्तत्वम् पृ. १३०

'दाधाघ्वदाप्' सूत्र में "अदाप्" ग्रहण से दाप् तथा दैप् धातु की घुसंज्ञा का निषेध होता है । अतएव अवदातं मुखं 'यह प्रयोग होता है । अव-पूर्वक दैप् शोधने धातु से क्त प्रत्यय में अवदातम् प्रयोग निष्पन्न हुआ है । दैप् धातु की यदि घुसंज्ञा होती तो 'दोदद्घोः' सूत्र से तकार आदेश होकर 'अवदत्तम्' प्रयोग ही बनता अवदातम् प्रयोग की सिद्धि नहीं हो सकती है। अतः दैप् धातु में भी घु संज्ञा का निषेध अत्यन्त आवश्यक है, किन्तु । दाधाघ्वदाप् सूत्र में अदाप् के ग्रहण से दाप् लवने धातु की घु संज्ञा का निषेध होने पर भी दैप् में निषेध की प्रवृत्ति नहीं होनी चाहिए । यदि 'आदेच् उपदेशेऽशिति' सूत्र से आत्व हो जाने के बाद दैप् भी दाप् हो सकता है ऐसा कोई कहे, तो यह संभव ही नहीं है क्योंकि 'आदेच उपदेशेऽशिति' सूत्र से एजन्त के स्थान में ही आत्व प्रवृत्त होता है । दैप् एजन्त नहीं है अतः आत्व की प्रवृत्ति नहीं हो सकती है। यद्यपि 'अनेकान्ता अनुबन्धाः' अवयव नहीं होते हैं) इस पक्ष में दैप् में पकार के अनवयव होने के कारण दै मात्र में एजन्तत्व हो सकता है तथापि "एकान्ता अनुबन्धाः" (अनुबन्ध अवयव ही हैं) इस मुख्य पक्ष में दोष रहेगा ही अतः 'अवदातं मुखम् प्रयोग की सिद्धि नहीं हो सकेगी। इसी दोष के उद्धारार्थ "दाधाघ्वदाप्" सूत्र के भाष्य में कहा— **आचार्य-प्रवृत्तिर्ज्ञापयति—नानुबन्धकृतमनेजन्तत्वम्" इति । "उदीचां माङो व्यतीहारे"** सूत्र में सानुबन्धक मेङ् "प्रापीदाने" धातु का कृतात्वेन निर्देश किया गया है । इससे ज्ञापित हो रहा है कि अनुवन्ध को लेकर अनेजन्तत्व व्यवहार नहीं होता है। अन्यथा मेङ् धातु में अनेजन्त होने के कारण आत्व की प्रवृत्ति नहीं होगी । इस लिए 'उदीचां माङो व्यतीहारे" निर्देश असंगत हो जायेगा । इस सूत्र में मेङ् धातु का ही ग्रहण है । 'माङ माने शब्दे च' धातु का ग्रहण नहीं है। क्योंकि व्यतिहार के साथ मेङ् धातु का ही नित्य संबन्ध है। मेङ् प्रणिदाने निर्देश द्वारा मेङ् धातु व्यतिहार अर्थ में नित्य प्रयुक्त है । माङ् धातु में व्यतिहारे की विवक्षा होने पर भी "व्यतिमिमीते" इत्यादि प्रयोगस्थल में व्यतिहार का योग कादाचित्क संभव हो सकता है अतः 'उदीचां माङो व्यतीहारे' "सूत्र में व्यतिहार अर्थ के निर्देश से अन्तरङ्गत्वात् व्यतिहार अर्थ से नित्य संबद्ध मेङ् प्रणिदाने धातु का ही ग्रहण उचित है । व्यतिहार तथा प्रणिदान दोनों शब्द एक ही अर्थ के वाचक है । इस तरह आचार्य ने उदीचां माङो व्यतीहारे" "निर्देश न कर जो, उदीचां माङो व्यतीहारे" निर्देश किया है, इससे स्पष्ट **"नानुबन्धकृतमनेजन्तत्वम्"** ज्ञापित हो रहा है । यह वचन शास्त्रशेष प्रकरण में परिभाषेन्दु शेखर में भी व्याख्यात हुआ है । एकान्ता अनुबन्ध इस मुख्य पक्ष

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उपदेश अवस्था में ही एजन्त के स्थान में आत्व का विधान होने के करण दैप् के स्थान में आत्व प्राप्त नहीं था। इसलिए ज्ञापक द्वारा ही आत्व की प्रवृत्ति बता कर दाप् के ग्रहण से 'दाधाघ्वदाप्' सूत्र में दैप् का भी ग्रहण किया गया जानना चाहिए। इस तरह दैप् धातु में घु संज्ञा का निषेध होने के कारण 'अवदातं मुखं' प्रयोग सर्वथा अवदात ही है।

१७. भवत्येकादिकायाः संख्यायाः संख्या प्रदेशेषु संख्यासंप्रत्ययः।

"बहुगणवति डति संख्या" सूत्र में संख्या ग्रहण की कर्तव्यता की आपत्ति वार्तिककार ने दी है। अभिप्राय यह है कि एक आदि लोकप्रसिद्ध संख्या की भी संख्या संज्ञा का विधान होना चाहिए। जिससे संख्या प्रदेशों में बहुगण आदि शब्दों की तरह एक आदि शब्द भी गृहीत हों। अन्यथा एक आदि शब्दों का ग्रहण अकृत्रिम संज्ञा होने के कारण संख्या प्रदेशों में नहीं होगा। शास्त्र में कृत्रिम तथा अकृत्रिम दोनों संज्ञाओं के मध्य में कृत्रिम का ही ग्रहण होता है। शास्त्रीय प्रकरण होने के कारण कृत्रिम संज्ञा ही प्रकरणवश शास्त्र में गृहीत हो सकती है। अतएव कहा जाता है— **"कृत्रिमाकृत्रिमयोः कृत्रिमस्य ग्रहणम्।"** इति। इस तरह लोक में जो संख्या वाचक एक आदि शब्द है, उनका ग्रहण भी संख्या संज्ञा विधायक "बहुगणवतुडतिसंख्या" सूत्र में सूत्रकार को करना ही चाहिए। इस तरह का हस्तक्षेप वार्तिक द्वारा किया गया है। इस आक्षेप का समाधान भाष्यकार ने अनेक प्रकार से भाष्य में किया है। उन्हीं प्रकारों में एक प्रकार ज्ञापक का समाश्रयण भी है— **अथवा आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति–भवत्येकादिकायाः संख्यायाः संख्या प्रदेशेषु संख्या-संप्रत्यय इति"** अर्थात् आचार्य के व्यवहार से यह ज्ञापित हो रहा है कि संख्या प्रदेशों में एक आदि संख्याएं भी गृहीत होगी। जो आचार्य ने संख्याया अतिशदन्तायाः कन्" सूत्र में कन् प्रत्यय के विधान के लिए त्यन्त तथा शदन्त संख्या शब्दों के प्रतिषेध का प्रतिपादन किया है। जो कृत्रिम संख्या शब्द—बहु गण, वतुप्रत्ययान्त, तथा डतिप्रत्ययान्त हैं उनमें कोई शब्द त्यन्त तथा शदन्त नहीं हैं। त्यन्त संख्या शब्द षष्टि, सप्तति आदि हैं शदन्त संख्या शब्द त्रिंशत्, चत्वरिंशत्, आदि हैं ये कृत्रिम संख्या शब्द नहीं हैं। इस तरह जों त्यन्त, शदन्त संख्या शब्दों का निषेध आचार्य ने बोधित किया है इससे स्पष्ट है कि संख्या प्रदेशों में–उभयगति अर्थात् कृत्रिम तथा अकृत्रिम दोनों संज्ञाएं ग्राह्य होंगी। यद्यपि त्यन्त कति शब्द भी त्यन्त होने से कृत्रिम संज्ञा पक्ष में भी त्यन्त के निषेध की सार्थकता हो सकती है तथापि "अर्थवद्ग्रहणे नानर्थकस्य ग्रहणम्" इस परिभाषा द्वारा 'संख्यायाः अतिशब्दन्तायाः 'कन्' सूत्र में अर्थवान् 'ति' शब्द का ग्रहण होने के कारण सप्तति आदि शब्दों का ही त्यन्त शब्द से ग्रहण होगा। इस तरह सप्तति आदि शब्द ही त्यन्त के निषेध के विषय हो सकते हैं। डत्यन्त कति शब्द में ति शब्द डति प्रत्यय का अवयव होने के कारण अनर्थक है। **समुदायोऽर्थवान् समुदायस्यैकदेशोऽनर्थकः** इस उक्त के अनुसार डति प्रत्यय का अवयव 'ति' अनर्थक ही है। अतः कति शब्द त्यन्त के निषेध का विषय नहीं हो सकता है। इसलिए "संख्याया अतिशदन्तायाः कन्" सूत्र में त्यन्त एवं शदन्त संख्या शब्द से कन् प्रत्यय के निषेध का बोधन करते हुए आचार्य ने यह ज्ञापित अवश्य ही किया कि—**भवत्येकादिकायाः संख्यायाः संख्याप्रदेशेषु संख्यासंप्रत्ययः**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इति । अर्थात् संख्या संज्ञा को निमित्त मानकर प्रवृत्त होने वाले विधि सूत्रों में बहु गण आदि कृत्रिम संख्या शब्दों की ही भाँति एक आदि अकृत्रिम संख्या शब्दों का भी ग्रहण होता है । अतएव जैसे 'बहुभिः क्रीतः' बहुकः इस प्रयोग में 'संख्याया अतिशदंतायाः कन्' सूत्र से कन् प्रत्यय हुआ है इसी तरह 'पंचभिः क्रीतः' **पंचकः** इस प्रयोग में भी इसी सूत्र से कन् प्रत्यय होता ही है।

१८. नैषां द्वयादिपर्युदासेन पर्युदासो भवति।

"पूर्वपरावरदक्षिणोत्तरापराधराणि व्यवस्थायामसंज्ञायाम्" इस सूत्र पर वार्तिक में शङ्का उठाई गई है कि जब सर्वादिगण में पूर्व, पर, अवर, दक्षिण, उत्तर तथा अधर शब्द अर्थ-विशेष में सर्वनामसंज्ञा के लिए पढ़े गए हैं, उसी संज्ञा को जस् विभक्ति रहते विकल्पित करने के लिए यह पूर्वपरादि सूत्र अष्टाध्यायी में पढ़ा गया है तब इस अष्टाध्यायी के सूत्र में केवल पूर्वादि मात्र ही पढ़ना चाहिए। पर, अवर, आदि शब्दों का प्रतिपद प्रयोग सूत्र में करना व्यर्थ ही है । इस आक्षेप पर भाष्यकार ने कहा कि यह निश्चय कैसे होगा कि गण-पाठ' पहले ही था, बाद में अष्टाध्यायी सूत्र पढ़ा गया है । यदि यह निश्चय होता तो यह आक्षेप संभव हो सकता कि अष्टाध्यायी सूत्र में पर अवर आदि शब्दों का प्रतिपद पाठ अना-वश्यक है । परन्तु यह निश्चय न होने पर वार्तिक का आक्षेप निराधार ही है।

पुनः अष्टाध्यायी के सूत्र की अपेक्षा गणपाठ पूर्ववर्ती है, इस अर्थ के निश्चय में 'पूर्वादिभ्यो नवभ्यो वा' सूत्र में नव-ग्रहण को ज्ञापकत्वेन उपन्यस्त किया गया है । "पूर्वादिभ्यो नवभ्यो वा" सूत्र में नव संख्या का ग्रहण 'त्यत्' आदि शब्दों के निरास के लिए किया गया है । यदि निश्चित स्थिति में गणपाठ पहले से ही था तथा अधिक शब्दों के लिए नव ग्रहण सार्थक होगा। इससे स्पष्ट हैं कि गणपाठ पूर्ववर्ती ही है । अतः अष्टाध्यायी सूत्र में 'पूर्वादि' इतना ही पढ़ना उचित था। पर, अवर आदि शब्दों को सूत्र में पढ़ना अनावश्यक ही है है । 'पूर्वादानि' व्यवस्थायामसंज्ञायाम् इस रूप में पढ़ देने मात्र से व्यवस्था एवं असंज्ञा अर्थ का भी लाभ हो ही जायेगा। अष्टाध्यायी सूत्र में पर अवर आदि शब्दों का पाठ सर्वथा अनावश्यक ही है इस तरह के आक्षेप पर भाष्य में यह समाधान दिया गया है – द्वयादि–पर्युदासेन पर्युदासो आ भूदिति' भाव यह है कि कुछ आचार्यों ने गण पाठ में त्यद्, तद् यद् आदि शब्दों को पढ़कर पूर्वादि शब्द पढ़े हैं । ऐसी स्थिति में —'किं सवनामाबहुभ्योऽद्वयादिभ्यः'—सूत्र में द्वि आदि शब्दों के पर्युदास होने के कारण पूर्वादि शब्दों से 'तसिलादि प्रत्यय' नहीं हो सकेंगे। इसलिए पूर्व, पर, अवर, दक्षिण, उत्तर तथा अपर शब्द की पुनः सर्वनाम् संज्ञा का विधान करने के लिए प्रतिपद पाठ आवश्यक ही है । पुनः सर्वनाम संज्ञा के विधान से पूर्वोक्त **"किं सर्वनाम बहुभ्योऽद्वयादियः"** —सूत्र में द्वि आदि शब्दों के पर्युदास का पूर्व आदि शब्दों के विषय में बाध हो सकेगा । 'तसिलादि प्रत्यय' के लिए द्वि आदि शब्दों के पर्युदास के बाधार्थ पूर्वादि शब्दों की पुनर्विहित सर्वनाम संज्ञा जस् विभक्ति में विकल्प से प्रवृत्त होगी। 'विभाषा जसि' इस वाक्य का भेद करके इस तरह की व्याख्या की ही जा सकती है। अतः द्वयादि पर्युदास के बाध के लिए इस 'पूर्वापरावरादि' सूत्र में आवश्यक सभी शब्दों का प्रतिपद

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पाठ उचित ही है। भाष्य में इस प्रयोजन का खण्डन करने के अभिप्राय से इस ज्ञापन का उल्लेख किया गया है— **"आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति नैसां द्वयादिपर्युदासेन पर्युदासो भवति इति"**। अर्थात् आचार्य का प्रयोग ज्ञापित कर रहा है कि 'किंसर्वनामबहुभ्योऽद्वयादिभ्यः' सूत्र में द्वयादि के पर्युदास से पूर्व पर, आदि शब्दों का पर्युदास नहीं होता है, आचार्य ने "पूर्वत्रासिद्धम्" सूत्र में पूर्वत्र शब्द का प्रयोग किया है। वार्तिकार ने भी **"जश्त्वाभावदिति चेदुत्तरत्रा भावादपवाद प्रसंगः"** इस वार्तिक में उत्तरत्र शब्द का प्रयोग किया है। यह वार्तिक 'ढोढेलोपः' सूत्र पर पढ़ा गया हैं। इस तरह सूत्र तथा वार्तिक के प्रयोगों से यह स्पष्ट ज्ञात हो रहा है कि द्वयादि के पर्युदास से पूर्वपर, आदि शब्दों का पर्युदास नहीं हो होगा। भाव यह हुआ कि त्यदादि से पूर्व ही पूर्वादि शब्दों का पाठ जानना चाहिए। इस तरह "पूर्वापरा-वरदक्षिणोत्तरापराधराणि व्यवस्थायामसंज्ञायाम्' सूत्र में पर, अवर, आदि शब्दों के प्रतिपद निर्देश की अनावश्यकता बताने मात्र के लिए इस ज्ञापन का आश्रयण भाष्यकार ने किया है। यह ज्ञापन शास्त्रीय व्यवस्था में उपयोगी नहीं है। केवल प्रासंगिक विचार को ही लेकर प्रवृत्त है।

पूर्वापरादि अष्टाध्यायी सूत्र में पर अवर आदि शब्दों के प्रतिपद पाठ की सार्थकता आगे चलकर स्वयं भाष्यकार ने बताई है— "इदं तर्हि प्रयोजनम्–जसि **विभाषा वक्ष्यामीति"** इस भाष्य का अभिप्राय यह है कि यदि 'पूर्वादीनि' इतना ही सूत्र कहा जाय तो व्यवस्था तथा असंज्ञा अर्थों का संबन्ध गण मात्र के शब्द से ही होगा। इस तरह नित्य संज्ञा के लिए अर्थ विशेष की अपेक्षा होने पर भी विभाषा संज्ञा अर्थान्तर में ही होगी क्योंकि अर्थान्तर में विभाषा संज्ञा का विधान मानने पर यह विभाषा अप्राप्त विभाषा होगी। अप्राप्त विभाषा अपूर्व विधायक होने के कारण उचित है। प्राप्त विभाषा मानने पर भाव पक्ष में अनुवादकत्व को प्रसक्ति होने के कारण गौरव दोष की संभावना होती है। इसलिए। प्रतिपद पाठ अष्टाध्यायी के सूत्रों में भी करना आवश्यक ही है। प्रतिपद पाठ के बिना पृथक्-पृथक् अर्थ का निर्देश संभव नहीं हो सकता। इस तरह भाष्यकार ने प्रतिपद पाठ का समर्थन किया है।

२०. न प्रत्ययलक्षणेनाव्यय संज्ञा भवति

"कृन्मेजन्तः" सूत्र की व्याख्या में भाष्यकार ने दो पक्ष उठाए हैं। 'कथमिदं विज्ञायते–कृद् यो मान्त इति आहोस्वित्–कृदन्तं यन्मान्तमिति, भाव यह है कि मेजन्तग्रहण से कृत् को पहले विशेषित किया जाय, तदनन्तर कृत् से तदन्त विधि होने पर मान्त जो कृत् तदन्त की अव्यय संज्ञा होगी। अथवा पहले कृत् से तदन्त विधि की जाय तदनन्तर मेजन्तग्रहण से विशेषित किया जाय। इसतरह मान्त जो कृदन्त उसकी अव्यय संज्ञा होगी। इस तरह दो पक्ष उठा कर दोनों पक्षों में विशेषता बताई गई है— यदि **कृद् यो मान्त** यह व्याख्यान किया जायेगा तो 'कारयांचकार,' 'हारयां चकार,' इन प्रयोगों में कारयाम, हारयाम् की अव्यय संज्ञा नहीं होगी। क्योंकि कारयाम् इत्यादि प्रयोगों में अ म् प्रत्यय मान्त है परन्तु कृत् नहीं है। लिट् प्रत्यय कृत् था, वह मान्त नहीं है। अतः यहां मान्त कृत् न होने के कारण अव्यय न होने के कारण अव्यय संज्ञा संभव नहीं होगी। यदि मान्त जो कृदन्त ऐसी व्याख्या की जाय तो 'प्रतामौ' 'प्रतामः' यहां भी अव्यय संज्ञा की प्रसक्ति होने लगेगी। प्र पूर्वक तम् धातु से क्विप् प्रत्यय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करके 'अनुनासिकस्य क्विझलोः किङ्गति सूत्र से उपधा दीर्घ करके प्रताम् शब्द सिद्ध हुआ है। इन दोनों पक्षों में विशेषता बता कर भाष्यकार ने कहा कि "यथेच्छसि तथा कुरु" अर्थात् जैसी इच्छा हो वैसा ही हो। इस पर किसी ने पूछा कि यदि "मान्त जो कृत्" ऐसी व्याख्या की जाये तो कारयांचकार, हारयां चकार की सिद्धि कैसे होगी। इस पर भाष्यकार ने कहा कि इन प्रयोगों में अव्यय संज्ञा द्वारा करना ही क्या है ? यदि 'कारयाम', 'हारयाम्' से सु का लुक् "अव्ययादापसुपः' न होगा तो "आमः" से ही हो जायगा। "आमः 'सूत्र में 'लि' का अनुवर्तन नहीं करेंगे।

आमन्त से प्रत्यय मात्र का लुक् इष्ट ही है। तभी "कृञ्चानुप्रयुज्यते, लिटि" सूत्र की संगति बन सकेगी। इस सूत्र से अनुप्रयोग शब्द द्वारा अनु तथा प्र उपसर्ग के सामर्थ्य से आमन्त से अव्यवहित उत्तर कृञ् के अनुप्रयोग का विधान किया गया है। इस तरह अव्यवधानेन अनुप्रयोग का विधान तभी उपपन्न हो सकेगा जब आमन्त से प्रत्यय मात्र का लुक् "आमः' सूत्र से स्वीकार किया जायेगा। यदि 'आमः' सूत्र में पूर्वसूत्र से 'लेः' का अनुवर्तन करके लि मात्र का ही लुक् हो तो आमन्त से प्रकर्षादि की विवक्षा में होने वाले तरप् आदि प्रत्यय का लुक् नहीं होगा। ऐसी स्थिति में आमन्त से अव्यवहित कृञ् के अनुप्रयोग का विधान असंगत ही हो जायेगा। अतः "कृञ्चानु-प्रयुज्यते लिटि" सूत्र की उपपत्ति के लिए मानना होगा कि "आमः" सूत्र से प्रत्यय मात्र का लुक् होता है। यदि 'आमः' सूत्र से प्रत्यय मात्र का लुक् होगा तो 'कारयांचकार,' 'हारयांचकार,' इन प्रयोगों में सु के लुक् के लिए अव्यय संज्ञा की कोई आवश्यकता नहीं होगी। इस तरह "कृन्मेजन्तः' सूत्र में मान्त जो कृत् ऐसी व्याख्या स्वीकार करने पर भी कोई अनुपपत्ति नहीं होगी। इस पक्ष के दोष का परिहार करने के बाद दूसरे पक्ष का समर्थन भी भाष्यकार ने किया है— अथवा **पुनरस्तुकृदन्तं यन्मान्तमिति"** इस पक्ष में प्रतामौ, प्रतामः प्रयोग में पूर्वोक्त आपत्ति दूर करने के लिए इस प्रस्तुत ज्ञापन का आश्रयण किया गया है। **आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति—न प्रत्यय लक्षणे–नाव्यय संज्ञा भवतीति, यदयं प्रशान् शब्दं स्वरादिषु पठति,** प्र पूर्वक शम् धातु से भावार्थक क्विप् प्रत्यय में निष्पन्न प्रशान् शब्द अव्यय संज्ञार्थ स्वरादिगण में पढ़ा गया है। प्रशान् शब्द में 'मोनोधातोः' सूत्र से विहित जो नत्व है, उसके असिद्ध हो जाने के कारण मान्तत्व निर्बाध है, 'कृन्मेजन्तः, सूत्र से ही अव्यय संज्ञा की प्राप्ति हो जाती है। पुनः स्वरादिगण में प्रशान् शब्द का पाठ यह ज्ञापित कर रहा है कि प्रत्ययलक्षण द्वारा कृदन्तत्व का आश्रयण कर 'कृन्मेजन्तः सूत्र से अव्यय संज्ञा नहीं होती है। यह ज्ञापन भी पक्ष विशेष को लेकर प्रवृत्त हुआ है। अतः शास्त्रीय व्यवस्था का सामान्यतः व्यवस्थापक नहीं हो सकता है। केवल पक्ष विशेष के समर्थन मात्र में इस ज्ञापन का उपन्यास किया गया है।

श्री भट्टोजिदीक्षित प्रभृति आचार्यों ने मान्त जो कृत् ऐसी व्याख्या ही स्वीकार कर इस पक्ष की उपेक्षा भी सूचित की है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

२०. न तिसृचतसृभावे कृते ङीप् भववि !

"कृन्मेजन्त" सूत्र पर **"कृन्मेजन्तश्चानिकारोकारप्रकृतिः"** वार्तिक द्वारा एजन्त के इकार प्रकृतिक एवं उकारप्रकृतिक न होने के लिए सूत्रकार को कहना चाहिए ताकि आधये, आधेः, 'चिकीर्षवे' 'चिकीर्षोः' में अव्यय सज्ञा की अतिप्रसक्ति न हो । अन्यथा आधि एवं चिकीर्षु इन कृदन्त शब्दों में 'घेर्ङिति' सूत्र से गुण होने पर एजन्तत्व हो जाने के कारण अव्यय संज्ञा हो जायगी । उससे पर विभक्ति लुक् "अव्ययादाप्सुपः" सूत्र से होने लगेगा । 'आधये,' 'आधेः' आदि प्रयोगों की सिद्धि नहीं होगी । ऐसा सुझाव दिया गया । इसके अनन्तर फिर वार्तिककार ने ही संशोधन प्रस्तुत किया—**'अथवाऽनन्यप्रकृतिः कृदव्ययसंज्ञो भवतीति वक्तव्यम्'** । अर्थात् जो अन्यप्रकृतिक एजन्त न हो, ऐसा कृत् अव्यय संज्ञक होता है, ऐसा कहना चाहिए । इन दोनों पक्षों में दूसरे पक्ष एजन्त को अन्यप्रकृतिक न होने का ही समर्थन किया गया है, ताकि कुम्भकारेभ्यः इत्यादि प्रयोगों की भी सिद्धि होगी, अन्यथा भ्यस् विभक्ति परे रहते 'बहुवचने-झल्येत्' सूत्र से कुम्भकार में एत्व होने पर एजन्त कृत् मानकर अव्ययसंज्ञा हो जायेगी, इससे विभक्ति का लुक् हो जायेगा । कुम्भकारेभ्यः प्रयोग सिद्ध नहीं होगा । इस तरह द्वितीय वार्तिक की उपयोगिता सिद्ध कर देने के बाद इसे **"सन्निपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विघातस्य"** परिभाषा द्वारा अन्यथा सिद्ध भी कर दिया गया । वार्तिक की अपेक्षा परिभाषा को अधिक उपयोगी बताते हुए अनेक प्रयोजन दिखाए गए हैं । उन प्रयोजनों में वार्तिक द्वारा एक प्रयोजन में **"तिसृचतसृत्वं ङीब्विधेः** ऐसा उल्लेख किया गया । इसकी व्याख्या भाष्य में—**"तिसृचतसृत्वं ङीब्विधेरनिमित्तम्ः क्व तिस्रस्तिष्ठन्ति चतस्रस्तिष्ठन्ति इति । तिसृ चतसृभावे कृते ऋन्नेभ्योङीबिति ङप्, प्राप्नोति** संनिपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विधातस्येति न दोषो भवति" इस तरह की गई । **तिस्रस्तिष्ठन्ति, चतस्रस्तिष्ठन्ति** प्रयोगों में स्त्रीत्व की विवक्षा में त्रिशब्द चतुर शब्द के स्थान में तिसृ चतसृ आदेश होने पर "ऋन्नेभ्रोङीप्" से ङीप् प्रत्यय की प्राप्ति हो रही है । इसका वारण सन्निपात परिभाषा द्वारा ही संभव है । विभक्ति के संबन्ध को निमित्त मान कर जायमान जो तिसृ चतसृ आदेश वह ङीप् का निमित्त नहीं होगा । क्योंकि ङीप् हो जाने से विभक्ति के परत्व का विधात हो जायेगा । अतः तिसृ चतसृ आदेश ङीप् का निमित्त नहीं होगा । इस तरह सन्निपात परिभाषा का प्रयोजन दिया गया । इस प्रयोजन का निराकरण ज्ञापन द्वारा किया गया है— **"एतदपि नास्ति प्रयोजनम् । आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति—न तिसृ चतसृभावे कृते ङीब् भवति इति यदयं न तिसृ चतसृ नामि दीर्घत्वस्य प्रतिषेधं शास्ति"**—भाव यह है कि **तिस्रस्तिष्ठन्ति** इत्यादि प्रयोगों के लिए संनिपात परिभाषा की कोई आवश्यकता नहीं है । तिस्रः, चतस्रः में ङीप् की निवृत्ति आचार्य की प्रवृत्ति से ही ज्ञापित हो रही है । "न तिसृ चतसृ" सूत्र द्वारा नाम् परे रहते जो तिसृ चतसृ शब्द में दीर्घ का निषेध किया गया है, उससे ज्ञापित होता है कि तिसृ चतसृ से ङीप् प्रत्यय नहीं होता है, इसे संनिपात परिभाषा का प्रयोजन नहीं माना जा सकता है । इसी ज्ञापक से तिसृ चतसृ से ङीप् की निवृत्ति हो जाने से स्वस्रादि गण में तिसृ चतसृ शब्द

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का पाठ भी अनावश्यक ही सिद्ध हो गया है। इस ज्ञापक की आवश्यकता 'तिसृ चतसृ' शब्द से ङीप की निवृत्ति है। इसी ज्ञापक से सिद्ध होने के कारण इस प्रयोजन के लिए उपायान्तर अनावश्यक ही है। भाष्य का यही मुख्य तात्पर्य है।

२१. स्थानिवदादेशो भवतीति।

"स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ" सूत्र की व्याख्या करने के बाद "लोकतः" इस वार्तिक द्वारा भाष्य में यह आक्षेप किया गया है कि लोक ही में यह देखा गया है कि जिससे प्रसंग में प्राप्त होता है, वह उसके कार्य का लाभ करता है, जैसे शिष्य जब उपाध्याय के यजमानकुल में उपाध्याय के प्रतिनिधित्व में जाता है तो उच्च आसन एवं सम्मान का लाभ करता ही है वैसे ही किसी स्थानी के प्रसंग में विहित आदेश को स्थानों के कार्यों का लाभ लोक न्याय से सिद्ध है। इसके लिए सूत्र प्रणयन की क्या आवश्यकता है? उत्तर में यह कहा गया कि यद्यपि लोक में यह दृष्टान्त अवश्य है यथापि पुरुष का कार्य लोक दृष्टान्त का भी निवर्तक होता है। आचार्य ने "स्वरूपं शब्दस्याशब्दसंज्ञा" सूत्र द्वारा शब्द में स्वरूप बोधकता का विधान किया है। आचार्य का यह कार्य लोक दृष्टान्त का निवर्तक हो सकता है, ऐसी स्थिति में "आङो यमहनः" सूत्र द्वारा आङ् पूर्वक हन् से विधीयमान जो आत्मनेपद है, वह "हनोवधलिङि" सूत्र से हन् के स्थान में आदिश्यमान् वध् से प्राप्त नहीं होगा। अतः आदेश के स्थानिवद्भाव के लिए स्थानिवत्सूत्र का प्रणयन आवश्यक ही है।

इस तरह 'स्थानिवत्सूत्र' की आवश्यकता सिद्ध होने पर भी ज्ञापक का आश्रय लेकर पुनः सूत्र को अन्यथासिद्ध करने की भावना से भाष्य में कहा गया कि **"एवं तर्ह्याचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति—स्थानिवदादेशो भवति इति, यदयं युष्मदस्मदोरनादेशे इत्यादेशप्रतिषेधं शास्ति"** अर्थात् "युष्मदस्मदोरनादेशे" सूत्र द्वारा जो आदेश भिन्न विभक्ति परे रहते युष्मद् अस्मद् शब्द के स्थान में आकार आदेश का विधान किया गया है, यही ज्ञापित कर रहा है कि आदेश स्थानिवत् होता ही है अन्यथा विभक्ति परे रहते विहित जो आदेश है उसके आदेश परे रहते होने का प्रसंग ही क्या था जिससे आदेश भिन्न कह कर आदेश का निषेध किया जाता। इससे स्पष्ट है कि आचार्य यह जानते है कि आदेश स्थानिवत् होता है इस तरह ज्ञापक सिद्ध अर्थ का ही अनुवाद यह सूत्र कर रहा है। केवल मन्दप्रज्ञ पुरुष की सुगमता के लिए ही सूत्र प्रणयन जानना चाहिए। यही भाष्यकार का आशय है।

२२. अनल्विधौ स्थानिवद्भावो न भवतीति।

आदेश के स्थानिवद्भाव की सिद्धि ज्ञापक के "आश्रयण से संपन्न होने के कारण स्थानिवद्भाव के विधान की अन्यथासिद्धि पूर्व ज्ञापक में स्पष्ट की गई है। इस तरह स्थानिवद्भाव के विधान को ज्ञापक सिद्धि बताने के बाद भाष्य में इस सूत्र का प्रयोजन "अनल्विधौ" इस निषेध

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को लेकर बताया गया **"इदं तर्हि प्रयोजनम् अनल्विधाविति प्रतिषेधं वक्ष्यामि इति ।"** **इह मा भूत— द्यौः पन्थाः, स इति अर्थात् द्यौः, पन्थाः, सः** इन प्रयोगों में स्थानिवद्भाव हो जाने से सु के लोप की प्रसक्ति होगी। ये प्रयोग सिद्ध नहीं होंगे। अतः 'अनल्विधौ' इस प्रतिषेध की आवश्यकता है। इस प्रतिषेध की सार्थकता के लिए स्थानिवद्भाव का विधान आवश्यक है। क्योंकि शास्त्र से प्राप्त स्थानिवद्भाव का ही निषेध इस वाक्य से किया जा सकता है। ज्ञापक सिद्ध स्थानिवद्भाव के साथ निषेध वाक्य का संबन्ध नहीं हो सकेगा। यदि केवल वाक्य ही किया जाय तो विधिवाक्य के बिना निषेध वाक्य व्यर्थ हो जायेगा। **"प्राप्तौ सत्यां निषेधः"** यही न्याय है। अतः निषेध वाक्य की सार्थकता के लिए स्थानिवद्भाव का विधान आवश्यक है। इस प्रकार निषेध वाक्य की सार्थकता के लिए स्थानिवद्भाव के विधान का प्रयोजन दिखा कर इसका भी ज्ञापन के आश्रयण द्वारा निरास किया गया है— **एतदपि नास्ति प्रयोजनम्–आचार्य प्रवृत्तिर्ज्ञापयति—अल्विधौ स्थानिवद्भावो न भवति इति । यदयं अदो जग्धिर्ल्यप्तिकिति, इति । कितीत्येव सिद्धे ल्यप् ग्रहणं करोति** भाव यह है कि 'अदो, जग्धिर्ल्यप्ति किति" सूत्र द्वारा ल्यप् तथा तादि कित् प्रत्यय परे रहते अद् धातु के स्थान में जग्ध् आदेश का विधान किया गया है। यही ज्ञापन कर रहा है कि अल्निमित्तक विधि की कर्तव्यता में स्थानिवद्भाव नहीं ही होता है। अन्यथा 'क्त्वा' के स्थान में विहित ल्यप् में भी स्थानिवद्भाव द्वारा तादित्व लाकर इसे तादि कित् प्रत्यय मानकर प्रजग्ध आदि प्रयोगों में जग्ध आदेश हो जायेगा। पुनः तादि कित् प्रत्यय से पृथक् ल्यप् का ग्रहण व्यर्थ ही होगा। इससे यह सिद्ध है कि अल्विधि से स्थानिवद्भाव नहीं होता है। इस तरह स्थानिवदादेशो ऽल्विधौ इस संपूर्ण सूत्र को ज्ञापक सिद्ध करके भाष्यकार ने अनावश्यक सिद्ध कर दिया है। केवल मन्दबुद्धि छात्रों के सुखाववोध के लिए यह सूत्र है। यह भाष्यकार का आशय है

२३. नापवादे उत्सर्गकृतं भवति ।

"स्थानिवदादेशो नल्विधौ सूत्र में नित्यशब्द में भी स्थान्यादेशभाव की व्यवस्था के लिए भाष्य में **कार्यविपरिणामाद्वा"** वार्तिक द्वारा कार्य अर्थात् बुद्धि का विपरिणाम ही स्थान्यादेश से किया जाना बताया गया है— जैसे किसी ने किसी को बताया कि ग्राम के पूर्व की ओर आम के वृक्ष हैं। वह पुरुष ग्राम के पूर्व में जितने वृक्ष हैं सबको आम समझने लगा। उसके पश्चात् फिर बताया कि वहां जो वृक्ष दूध वाले हैं, जिनमें वरोंहि लटक रही रही हों तथा जिनके मोटे मोटे पत्ते हैं, वह वट वृक्ष हैं। इससे वह सर्वत्र प्रसक्त आम बुद्धि को हटा कर वट वृक्ष की बुद्धि स्थिर कर लेता है। इस प्रकार जैसे वहां आम तथा वट में बुद्धि ही हटाई लगाई गई है वैसे ही स्थान्यादेश स्थल में भी बुद्धिगत उत्पाद विनाश का ही शब्दों में आरोप संभव है। "अस्तेर्भूः" इस सूत्र से आर्धधातुक के विषय में 'अस्ति' बुद्धि के अनन्तर भू बुद्धि ही प्रतिपत्ता को होती है। अस् तथा भू दोनों शब्द अपने में नित्य ही हैं। केवल बुद्धि का विपरिणाम मात्र हुआ है। इस तरह बुद्धि विपरिणाम द्वारा शब्द नित्यत्व वाद का समर्थन करने के अनन्तर स्थान्यादेशभाव में बुद्धिविपरिणाम मात्र स्वीकार करने पर "अपवादप्रसंगस्तु स्थानिवत्वात्" वार्तिक द्वारा यह आक्षेप किया गया कि यदि स्थान्यादेशभाव बुद्धि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का विपरिणाम मात्र ही है तो अपवाद में भी उत्सर्गकाय प्राप्त हाने लगेगा— "कर्मण्यण्," "आतोऽनुपसर्गे क:" यहाँ 'क' प्रत्यय में भी अण्कार्य वृद्धि की प्राप्ति होने लगेगी क्योंकि "कर्मण्यण्' से सर्वत्र अण् बुद्धि प्रसक्त है। "आतो नुपसर्गे क:' सूत्र द्वारा गोद:, धनद: प्रयोगों में 'क' प्रत्यय की बुद्धि द्वारा उसकी निवृत्ति की गई है। इस तरह 'क' प्रत्यय में भी अण् प्रत्यय निमित्तक वृद्धयादि कार्य होने ही चाहिए। इसी आक्षेप के समाधानों के प्रसंग में इस ज्ञापन का आश्रयण किया गया है। —"अथवाऽऽचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति"— नापवाद उत्सर्गकृतं भवति इति, यदयं श्यन्नादीन कांश्चिच्छित: करोति" सर्वत्र कर्त्रर्थक सार्वधातुक परे रहते शप् की औत्स-र्गिक प्राप्ति होने पर उसके अपवादभूत 'श्यन्' श्ना,' 'श,' 'श्नु,' प्रत्ययों को भी जो 'शित्' विधान किया गया है इससे स्पष्ट ज्ञापित होता है कि अपवाद में उत्सर्ग निमित्तक कार्य नहीं होता है। अन्यथा 'शप्' के शित्व से ही उसके सभी अपवाद भी शित् कार्य का लाभ कर लेते ही, उक्त अपवादभूत 'श्यन्' आदि को 'शित्' विधान व्यर्थ हो जाता। पित्व की निवृत्ति के लिए नियमार्थ 'शित्' विधान को सार्थकता नहीं कही जा सकती। क्योंकि 'श्यन्' के नित्य से ही पित्व की निवृत्ति सिद्ध हो जाती है। अत: अपवादों में शित्वाविधान की ज्ञापकता निर्बाध ही है। अप-वाद में उत्सर्गनिमित्तक कार्य की प्राप्ति नहीं ही होती है।

२४. नाहेरिड्भवति।

"स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ" सूत्र पर भाष्य में स्थानिवद्भाव के दोष में कतिपय वार्तिक पढ़े गये हैं उनमें एक वार्तिक **'आहिभुवोरीट् प्रतिषेध:"** पढ़ा गया है। भाव यह है—स्थानिवद्भाव यदि सर्वत्र ही स्वीकार किया जायेगा तो 'ब्रू' के स्थान में आदिश्यमान 'आह' तथा ब्रू के स्थान में 'ब्रुव: पंचानामादित आहो ब्रुव:' सूत्र द्वारा 'आह' आदेश हो जाने पर 'आह + थ' ऐसी अवस्था में 'ब्रुव ईट् सूत्र' द्वारा 'ईडागम' प्राप्त होगा उसके प्रतिषेध का विधान करना चाहिए अन्यथा 'आत्थ' प्रयोग सिद्ध नहीं होगा। इसी प्रकार 'अभूत्' प्रयोग में 'अ + भू + स त्' इस अवस्था में स् का 'गातिस्थाघुपा-भूम्य:' सूत्र द्वारा 'लुक्' होने पर लुक् को ही स्थानिवद्भाव द्वारा सिच् मान कर 'अस्तिसिचोऽ पृक्ते' सूत्र से 'ईडागम' प्राप्त होगा उसके निषेध का भी विधान करना ही चाहिए। अन्यथा 'अभूत्' प्रयोग सिद्ध नहीं होगा। इस तरह इन का दो स्थानों में स्थानि वत्भाव स्वीकार करने पर अनिष्ट को प्रसक्ति बताई गई। इस अनिष्ट के निराकरण के प्रसंग में 'आत्थ' प्रयोग में ईडागम के निषेध की आवश्यकता का खण्डन प्रकृत ज्ञापन द्वारा किया गया है— 'आहेस्तावन्न वक्तव्य:, + आचार्य प्रवृत्तिर्ज्ञापयति – नाहेरीड् भवति, यदयम्— 'आहस्थ:, इति झलादिप्रकरणे थत्वं शास्ति'। तात्पर्य यह है कि 'आह स्थ:' सूत्र द्वारा जो झलादि प्रत्यय परे रहते 'आह' को थकारादेश का विधान किया गया है, इस आचार्य की प्रवृत्ति ज्ञापित कर रही है कि 'आह' के संबन्ध में ईडागम' नहीं होता है। अन्यथा 'ईडागम्' होने पर झलादि प्रत्ययं परे रहते 'आह' ही दुर्लभ हो जायेगा। 'आहस्थ:' सूत्र सर्वथा व्यर्थ हो जायेगा। झलादि ग्रहण से भूतपूर्व झलादि की कल्पना कर लेने से यद्यपि यह ज्ञापन संभव नहीं होगा तथापि 'आहस्थ:' सूत्र द्वारा थकारादेश विधान से भूतपूर्व झलादि कल्पना संभव नहीं है। अन्यथा 'ब्रुव: पंचाना-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मादित आहो ब्रुवः' सूत्र के स्थान में' ब्रुवः पंचानामादित आथो ब्रुवः' यही पढ़ देना चाहिए था । क्योंकि तिबादि पांचों प्रत्यय के स्थान में जो णलादि पाँच आदेश हैं वे सभी भूतपूर्व झलादि ही है। 'आथोब्रुवः यही लाघवात् कहना चाहिए था । पृथक् 'आहस्थः 'सूत्र से जो झलादि प्रकरण में थकारादेश विधान किया गया है, उससे उक्त ज्ञापन निर्बाध ही है।

२५. न संबुद्धिलोपे स्थानिवद्भावो भवतीति ।

'अच' परस्मिन् पूर्वविधौ:' सूत्र में पूर्वविधौ इस अंश के प्रयोजन में 'हे गौः' एक उदाहरण भाष्य में दिया गया है— भाव यह है कि 'अचः परस्मिन् पूर्वविधौ' सूत्र द्वारा परनिमित्तक अजादेश का स्थानिवद्भाव वहां ही होता है जहां कि स्थानिभूत अच् से पूर्ववर्ती को कोई विधि, अर्थात् कार्य करना हो । यदि स्थानिभूत अच् से पूर्ववर्ती को कार्य के किये बिना ही स्थानिवद्भाव स्वीकार किया जाये तो 'हे गौः' प्रयोग में गौ शब्द से संबोधन में सु विभक्ति में 'गोतोणित्' सूत्र से सु विभक्ति को णिद्वद्भाव हो जाने पर उसके परे रहते 'अचोञ्णिति' 'सूत्र से 'गो' के ओकार के स्थान में ओकार वृद्धि होकर गौ + स् ऐसी स्थिति में यहाँ औकार के पर निमित्तक अजादेश होने कारण स्थानिवद्भाव द्वारा उसे 'एङ्' मानकर 'एङ् ह्रस्वात्संबुद्धेः' से सु का लोप होने लगेगा । अतः पूर्वविधौ का ग्रहण सूत्र में आवश्यक है । पूर्वविधौ का ग्रहण करने पर स्थानिभूत अच् से पूर्ववर्ती को कोई विधि न होने के कारण स्थानिवद्भाव प्राप्त नहीं होगा । विभक्ति के स्थान में सत्व विसर्ग होकर 'गौः' प्रयोग सिद्ध होगा इस तरह पूर्वविधौ के ग्रहण को इस सूत्र में आवश्यक बता कर उत्तरभाष्य में 'हे गौः इस प्रयोजन का खण्डन प्रस्तुत ज्ञापन के आश्रयण से किया गया है – 'नैतदस्ति प्रयोजनम्, आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति—न संबुद्धिलोपे स्थानिवद्भावो भवतीति, यदयं एङ् ह्रस्वात्संबुद्धेरित्येङ् ग्रहणं करोति।' अर्थात् 'एङ् ह्रस्वात् संबुद्धेः' सूत्र में हे अग्ने,' हे वायो,' इन प्रयोगों में संबुद्धि के लोप के लिए 'एङ्' ग्रहण किया गया है । यदि संबुद्धिलोप करने में भी स्थानिवद्भाव किया जाये तो यहाँ भी 'अग्ने,' 'वायो' में गुण को स्थानिवद्भाव द्वारा ह्रस्व मान कर भी संबुद्धि का लोप हो जायेगा। एङ् का ग्रहण इस सूत्र में व्यर्थ ही है। ऐसी स्थिति में भी आचार्य ने जो इस सूत्र में एङ् का ग्रहण किया है इससे यह ज्ञापित हो रहा है कि संबुद्धिलोप करने में स्थानिवद्भाव नहीं होता है । यदि एङ् ग्रहण की आवश्यकता 'गो' शब्द में 'सुबुद्धिलोपार्थ कही जा सकती हे तो भी एङ् प्रत्याहार का ग्रहण व्यर्थ ही रहेगा। 'ओह्रस्वात्' एतावन्मात्र सूत्र से भी गौ शब्द में प्रवृत्ति हो ही सकती थी। इस तरह 'हे गोः' इस प्रयोग की सिद्धि के लिए' अचः परस्मिन्'' सूत्र में 'पूर्वविधौ' की आवश्यकता नहीं ही है। प्रकृत ज्ञापन द्वारा 'हे गौः' प्रयोग में स्थानिवद्भाव का अभाव हो सकता है। हे गौः' में सु बुद्धिलोप कीं प्रसक्ति नहीं ही होगी । यह ज्ञापन प्रासंगिक है। केवल 'हे गौः' में प्रयोग को पूर्वविधौ के प्रयोजनत्व के खण्डन मात्र के लिए उपन्यस्त हुआ है। अन्यत्र इस ज्ञापन की आवश्यकता नहीं है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

षष्ठ अध्याय

महाभाष्योक्त ज्ञापक और उनके मूल स्रोतों का अध्ययन

१. भवतिणौ स्थानिवदिति ।

"द्विर्वचनेऽचि" सूत्र पर द्विर्वचन की कर्तव्यता में द्विर्वचन के निमित्त भूत अच् परे रहते अचादेश का रूप स्थानिवद्भाव होता है। अथवा अजादेश नहीं होता है । इस तरह की व्याख्या संपन्न होने पर भाष्थ में वार्तिक द्वारा शंका की गई है 'द्विर्वचननिमित्तेऽचि' स्थानिवदिति चेण्णौ स्थानिवद्वचनम्' अर्थात् यदि द्विर्वचन के निमित्तभूत अच् परे रहते ही अजादेश का रूप स्थानिवद्भाव होगा तो णि परे रहते अजादेश के रूपस्थानिवद्भाव का विधान पृथक् से करना पड़ेगा जैसे 'अवनुनावयिषिति', चुक्षावयिषति, इन प्रयोगो में ण्यन्त 'नु' धातु तथा ण्यन्त क्षु धातु से सन् प्रत्यय में 'सन्यतः, सूत्र से द्विर्वचन की कर्तव्यता में नु तथा क्षु के द्वित्व के लिए रूपस्थानिवद्भाव आवश्यक है, यहां णि प्रत्यय के द्वित्व निमित्त न होने के कारण सूत्र द्वारा रूपस्थानिवद्भाव संभव नहीं होगा, अतः पृथक् से णिप्रत्यय परे रहते अजादेश के रूपस्थानिबद्भाव का विधान करना ही पड़ेगा ।

इस आक्षेप का समाधान प्रकृत ज्ञापन के आश्रयण से किया गया है— 'ओः पुयण्जि वचनं ज्ञापकं णौ स्थानिवद्भावस्य' भाव यह है कि 'ओः पुण्यज्यपरे' सूत्र से अवर्णपरक पवर्ग, यण् तथा जकार परे रहते अभ्यास के उवर्ण को इकारादेश होता है । णि परे रहते किया गया अजादेश यदि रूपस्थानिवद् नहीं होगा तब तक अवर्णपरक पवर्ग यण् जकार परे उवर्णान्त अभ्यास संभव ही नहीं होगा । केवल 'पिपवषते' तथा यियविषति' इन दो प्रयोगों में ही सन् प्रत्यय को इडागम होने से "द्विर्वचने चि' सूत्र से रूपस्थानिवद्भाव होगा, केवल इहीं प्रयोगों में अवर्णपरक पकार तथा यकार मिलेगा । इस सूत्र में जो पु शब्द से पवर्ग, यण् शब्द से पवर्ग, यण् शब्द से प्रत्याहार तथा जवर्ण का ग्रहण किया गया है, इससे स्पष्ट ज्ञापित हो रहा है कि णि परे रहते किया गया अजादेश भी द्वित्व की कर्तव्यता में रूपस्था निवद्भाव को प्राप्त करेगा । इस तरह यह ज्ञापन 'नुनावयिषति' इत्यादि प्रयोगों के साधुत्वार्थ अत्यन्त आवश्यक है। इस ज्ञापन की प्रवृत्ति 'अचिकीर्तत्' प्रयोग में नहीं होगी । क्यों कि ज्ञापन की प्रवृत्ति ज्ञापक सजातीय में ही होती हैं। अभ्यासोत्तर खण्ड का अवर्णपरकत्व ही ज्ञापक का साजात्य होगा । क्यों कि अवर्ण परक ही पवर्ग, यथा, जकार परे रहते "ओः पुण्यज्यपरे' सूत्र प्रवृत्त होता है, इसलिए जहां अवर्ण परक धात्वक्षर की संभावना होगी वहां ही णि परे रहते किया गया अजादेश रूपस्थानिवत् होगा 'अचिकीर्तित् में अभ्यासोत्तर खण्ड में धात्वक्षर के अवर्ण परकत्व की संभावना न होने कारण ज्ञापक का साजात्य नहीं है । अतः प्रकृत ज्ञापन की प्रवृत्ति यहां नहीं हुई है ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

२. रुपं स्थानिवद्भवति इति ।

"द्विर्वचनेऽचि"—सूत्र पर भाष्य में यह आक्षेप किया गया है कि यदि द्विर्वचन की कर्तव्यता में आदेश का स्थानिवद्भाव हो तो आदेशयुक्त को ही द्विर्वचन प्राप्त होगा। 'चक्रतुः', चक्रुः प्रयोग में कृ + अतुस्, कृ + उस् इस अवस्था में यण् आदेश हो जाने पर क्र + उस् में ही स्थानिवद्भावेन एकाच् मान कर द्वित्व की प्राप्ति होगी। दोष यह होगा कि चक्रतुः चक्रुः में अभ्यास स्वरूप की सिद्धि नहीं होगी।

इसी आक्षेप के समाधान में प्रकृत ज्ञापन का आश्रयण किया गया है— **यदयमज्ग्रहणं करोति तज्ज्ञापयत्याचार्योरूपं स्थानिवद्भवति इति।** भाव यह है कि 'द्विर्वचनेऽचि' सूत्र में अच् के का **फल 'जघ्रीयते' देध्मीयते' है । अच् परे 'जेघ्रीयते'** रहते ही अजादेश का स्थानिवद्भाव होने से 'जेघ्रीयते,' देध्मीयते' प्रयोग में घ्रा तथा **ध्मा धातु** से यङ् प्रत्यय होने बाद 'ई घ्राध्मोः' सूत्र से ईकार आदेश होने पर 'सन्यङोः' सूत्र से घ्री, ध्मी को द्वित्व होता। यदि द्विर्वचनेऽचि, सूत्र में अच् ग्रहण नहीं होता तो यहां भी द्विर्वचन की कर्तव्यता में ईकारादेश का स्थानिवद्भाव हो जाता, इससे यह ज्ञापित होता है कि 'द्विर्वचनेऽचि' सूत्र से रूप स्थानिवद्भाव होता है क्योंकि यदि आदेश रूपस्थानिवत् होता है तभी अज्ग्रहण की सार्थकता हो सकती है। 'जेघ्रीयते' 'देध्मीयते' प्रयोगों की असिद्धि रूपस्थानिवद्भाव से ही प्रसक्त हो सकती है। जिससे अज् ग्रहण की सार्थकता होती है। यदि कार्यातिदेश ही किया जाये रूपातिदेश नहीं माना जाये तो 'जेघ्रीयते' आदि प्रयोगों के लिए अज् ग्रहण अनावश्यक होगा। द्विर्वचन की प्राप्ति हो ही जायेगी। अतः 'द्विर्वचनेऽचि' सूत्र द्वारा रूपातिदेश का ही विधान होता। इस तरह 'चक्रतुः' आदि में कोई दोष नहीं होगा।

२. लुक्श्लुलुपः सर्वादेशा भवन्तीति

'प्रत्ययस्य लुक्श्लुलुपः'—सूत्र में प्रत्ययग्रहण के प्रयोजन के विचार प्रसंग में वार्तिकार ने एक प्रयोजन दिया है– **'सर्वादेशार्थं वा वचनप्रामाण्यात्'** भाव यह है कि 'प्रत्ययस्यलुक्श्लुलुपः' सूत्र में लुक् श्लु तथा लुप् संपूर्ण प्रत्यय के स्थान में ही हो, इसलिए प्रत्यय ग्रहण आवश्यक है। प्रत्यय ग्रहण करने पर प्रत्यय ग्रहण के सामर्थ्य से 'अलोऽन्त्यस्य' परिभाषा का बाध होकर सर्वदेशत्व की सिद्धि होगी। सर्वत्र लुक्, श्लु, लुप् विधायक सूत्रों में 'अणिञो ''तद्राजस्य' यञिञोः, शपः' इत्यादि षष्ठी निर्देश से प्रत्यय के ही स्थान में लुगादि आदेश सिद्ध हैं। 'प्रत्ययस्य लुक्श्लुलुपः' सूत्र में प्रत्यय ग्रहण 'अलोन्त्यस्य' परिभाषा के बाध के लिए ही आवश्यक होगा। इस प्रकार सर्वदेशार्थ प्रत्यय ग्रहण की आवश्यकता दिखाकर प्रकृत ज्ञापन के आश्रयण से इस प्रयोजन का खण्डन भाष्य में किया गया है— **एतदपि नास्ति प्रयोजनम्। आचार्य प्रवृत्तिर्ज्ञापयतिलुक्श्लुलुपः सर्वादेशा भवन्तीति यदयं— लुग्वादुहदिहलिहगुहामात्मनेपदे दन्त्ये, इति लोपे प्रकृते लुकं शास्ति'** भाव यह है कि 'लुग्वा दुहदिहलिहगुहामात्मनेपदे दन्त्ये' सूत्र में 'क्सस्याचि' सूत्र से लोप का अनुवर्तन कर 'अलोऽन्त्यस्य' परिभाषा से प्रत्यय का लोप रूप अन्ता-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

देश सिद्ध ही था, पुन: लुक् का विधान यह ज्ञापित करता है कि लुगादि अर्वादेश ही होते हैं। इसी सर्वादेशत्व प्रयोजन के निराकरण के लिए ज्ञापन का आश्रयण किया गया है। इस तरह 'प्रत्ययस्य लुक्श्लुलुप: "सूत्र में प्रत्यय ग्रहण अनावश्यक ही सिद्ध हो गया। किन्तु उत्तर सूत्र के लिए प्रत्ययग्रहण की कर्तव्यता का समर्थन भाष्य में **'उत्तरार्थं तु'** इस वार्तिक द्वारा किया गया है। **'प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्'** सूत्र में इस सूत्र से अनुवृत्त प्रत्ययग्रहण द्वारा समस्त प्रत्यय के लोप होने पर ही प्रत्ययलक्षण हो, प्रत्यय के एकदेश का लोप होने पर प्रत्यय लक्षण न हो, इस अर्थ की सिद्धि की गई है। अत: **'प्रत्यय लोपे प्रत्यय लक्षणम्'** सूत्र में अतिरिक्त प्रत्यय ग्रहण की आवश्यकता को पूर्ति के लिए स्पष्टतार्थ इसी सूत्र में प्रत्यय ग्रहण किया गया है।

४. लुकि प्रत्ययलक्षणम्

'प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्' सूत्र पर भाष्य में प्रत्यय के लुक् में भी प्रत्यय लक्षण का विधान करना चाहिए। इस तरह का आक्षेप वार्तिक द्वारा किया गया है। **"लुक्युपसंख्यानं कर्तव्यम्"** इति। लुक् में भी प्रत्ययलक्षण की आवश्यकता है, अन्यथा पंच, सप्त प्रयोगों में जस् विभक्ति का षड्भ्योलुक् से लुक् होने पर प्रत्यय लक्षण प्रयुक्त सुबन्तत्व निमित्तक पद संज्ञा नहीं होगी। 'न लोप: प्रातिपदिकान्तस्य' सूत्र से नलोप भी नहीं होगा। क्योंकि सूत्र द्वारा लोप में ही प्रत्ययलक्षण का विधान किया गया है यहाँ लुक् संज्ञा द्वारा लोप संज्ञा का बाध हो जायेगा यद्यपि लुक् संज्ञा के साथ लोप संज्ञा का होना असंभव नहीं है तथापि 'तक्रकौण्डिन्य न्याय' से लुक् संज्ञा द्वारा लोप संज्ञा का बाध प्रसक्त ही है। यदि यह कहा जाये कि अदर्शन की ही लोप संज्ञा होती है, लुक् संज्ञा भी अदर्शन की ही होगी, इसलिए दोनों संज्ञाओं का संज्ञी समान होने के कारण लुक् होने पर भी प्रत्यय लक्षण हो सकता है। तो इस तरह संज्ञी की समानता से समान कार्य स्वीकार करने पर प्रत्ययादर्शन ही लुक्, श्लु, लुप् तीनों संज्ञाओं का संज्ञी होने के कारण **'अत्ति' 'हन्ति'** इन प्रयोगों में **'अदिप्रभृतिभ्य: शप:"** सूत्र द्वारा शप् का लुक् होने पर भी **'श्लौ'** सूत्र द्वारा द्वित्व की भी प्रसक्ति होने लगेगी। यदि यह कहा जाये कि प्रत्ययादर्शन की ही लुगादि तीन संज्ञाओं के विधान के सामर्थ्य से तीनों संज्ञाएं पृथक्-पृथक् ही होंगो, परन्तु लोप संज्ञा तथा लुगादि संज्ञाओं में संज्ञी की समानता के कारण लुगादिसंज्ञा स्थल में भी लोप संज्ञा प्रवृत्त हो ही सकतो है तो जैसे लोप संज्ञा लुगादि संज्ञा के विषय विषय में प्रवृत्त होगी वैसे ही लोप संज्ञा के विषय में लुगादि संज्ञा भी प्रवृत्त होने लगेगी। इस तरह 'अगोमती **गोमती संपन्ना 'गोमती भूता'** प्रयोग में **गोमती** शब्द से च्वि प्रत्यय का सर्वार्थहारी लोप होने पर भी **'लुक् तद्धित लुकि' सूत्र** से गोमती पद घटक ङीप् के भी प्रसक्ति होने लगेगी। ऐसी स्थिति में लुक् में भी प्रयय लक्षण का उपसंख्यान आवश्यक ही है। इस आक्षेप के समाधान के प्रसंग में प्रकृत ज्ञापन का आश्रयण किया गया है अथवा **यदयं—न लुमताङ्गस्येति प्रत्ययलक्षणप्रतिषेधं ज्ञाति तज्ज्ञापयत्याचार्यो—भवति लुकि प्रत्ययलक्षणमिति। अर्थात् 'न लुमताङ्गस्य' सूत्र** द्वारा लुगादि द्वारा लुप्त प्रत्यय परे रहते प्रत्यय लक्षण का निषेध किया

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गया, यही ज्ञापित कर रहा है कि लुगादि में प्रत्यय लक्षण होता है । अन्यथा लुगादि में लोप संज्ञा कार्य न होने के कारण 'प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्' सूत्र की प्रवृत्ति लुगादि के विषय में नहीं होगी । 'न लुमताङ्गस्य' सूत्र से प्रत्यय लक्षण का निषेध व्यर्थ ही हो जायेगा । अतः यह ज्ञापन शास्त्र में आवश्यक है ताकि लुगादि के विषय में भी प्रत्यय लक्षण की प्रवृत्ति हो । अतः 'पंच', 'सप्त,' प्रयोग में 'जस्' विभक्ति का लुक् होने पर भी सुबन्तत्व प्रयुक्त पद संज्ञा 'प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्' सूत्र के सहकार से संपन्न होगी । पद संज्ञा प्रयुक्त नलोप भी सिद्ध होगा । यहाँ न लुमताङ्गस्य' निषेध की प्रवृत्ति नहीं होगी, क्यों कि लुगादि शब्द से लुप्त प्रत्यय परे रहते अङ्ग संबन्धी कार्य करने में ही निषेध की प्रवृत्ति होती है । पंच, सप्त **प्रयोग में सुबन्तत्व प्रयुक्त पद संज्ञा करनी है** यहां 'न लुमताङ्गस्य' सूत्र की प्रवृत्ति ही नहीं

५. नान्त्यस्य पररूपं भवतीति ।

'अलोऽन्त्यात् पूर्व उपधा' सूत्र में 'अलः' पद को पंचम्यन्त मानकर अन्त्य अल् से पूर्व की उपधा संज्ञा होती है, इस तरह के व्याख्यान में भाष्य में आक्षेप किया गया है— 'उपधासंज्ञायामल्ग्रहणमन्त्यनिर्देशश्चेत्संघातप्रतिषेधः' अर्थात् उपधासंज्ञा में यदि अल् पद अन्त्य का निर्देशक होगा तो समुदाय की संज्ञा प्राप्त होने पर उसका निषेध करना होगा । अन्यथा **'शिष्टः' शिष्टवान्'** प्रयोग में अन्त्य अल् से पूर्व समुदाय की उपधा संज्ञा होने लगेगी । इस आक्षेप के समाधान में आगे यह कहा गया कि समुदाय की उपधा संज्ञा होने पर भी 'अलोऽन्त्यस्य' परिभाषा से अन्त्य के ही स्थान में संज्ञा विधि होगी । विधिशास्त्र में 'उपधायाः' षष्ठ्यन्त पद से **'अलोऽन्त्यस्य'** परिभाषा की उपस्थिति होगी इससे कोई दोष नहीं होगा । इस पर पुनः यह आक्षेप किया गया **'नानर्थकेऽलोन्त्यविधिरनभ्यासविकारे'** परिभाषा जो आवश्यक है इस परिभाषा के होने से अनर्थक समुदाय में 'अलोन्त्यस्य परिभाषा की प्रवृत्ति नहीं होगी । इसी परिभाषा के प्रयोजन का विचार भाष्य में प्रवृत्त हुआ है, इसी प्रसंग में परिभाषा का प्रयोजन देते हुए भाष्य में कहा गया है 'प्रयोजनमव्यक्तानुकरणस्यात इतौ' अत् शब्दान्त अनुकरण घटक अतः शब्द को इति शब्द घटक अच् परे रहते पररूप आदेश होता है । इस अर्थ **में 'अव्यक्तानुकरणस्यात इतौ'** सूत्र से पटत् + इति **'पटिति'** प्रयोग में होने वाला पररूप भी अन्त्य त् मात्र के स्थान होने लगेगा । इस तरह 'पटेति' अनिष्ट प्रयोग होने लगेगा । यदि अनर्थक में 'अलोन्त्यस्य' की प्रवृत्ति न मानी जाये तो यह दोष नहीं होगा । इस तरह **'नानर्थकेऽलोन्त्यविधिः'** यह परिभाषा आवश्यक है । इस प्रयोजन के खण्डन के लिए ही प्रकृत ज्ञापन का आश्रयण किया गया है । **'नैतदस्ति प्रयोजनम्' आचार्य प्रवृत्तिर्ज्ञापयति—नान्त्यस्य पररूपं भवतीति, 'यदयं नाम्रेडितस्यान्त्यस्य तु वेत्याह'** । भाव यह है कि अनुकरण का द्विर्वचन करने पर 'पटत्+पटत् इति' इस अवस्था में प्राप्त जो पररूप था, उसका उक्त सूत्र से निषेध करके केवल अत् शब्द के अन्त्य के स्थान में पररूप का विकल्प से विधान किया गया है । इससे ज्ञापित होता है कि अन्त्य के स्थान में पररूप नहीं होता है । अन्यथा अन्त्य के पुनः पररूप का विधान व्यर्थ ही हो जायेगा ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह ज्ञापक केवल प्रासङ्गिक है। सार्वत्रिक नहीं है। 'नानर्थकेऽलोन्त्य विधिः' इस परिभाषा के और प्रयोजन भाष्य में दिए गए हैं। उन प्रयोजनों को भी अन्यथासिद्ध कर के इस परिभाषा का प्रत्याख्यान भाष्यकार ने कर दिया है। अन्त में समुदाय की उपधा संज्ञा की व्यावृति लोक विज्ञान का आश्रयण कर के भाष्य में की गई है— जैसे **'अमीषां ब्राह्मणानामन्त्यात्पूर्वं आनीयताम्'**— (इन ब्राह्मणों में अन्तिम से पूर्व को बुलाओ) ऐसा कहने पर अन्तिम से पूर्व व्यक्ति मात्र ही बुलाया जाता है। पूरा समुदाय नहीं बुलाया जायेगा। उसी तरह अत्न्य अल् से पूर्व की उपधा संज्ञा हो इस वाक्य में भी अन्त्य सजातीय अल् की ही संज्ञा होगी समुदाय की संज्ञा नहीं होगी।

६. अस्त्यन्यद्रूपात् स्वं शब्दस्येति।

'स्वं रूपं शब्दस्याशब्दसंज्ञा' सूत्र में भाष्यकार ने शङ्का की है कि इस सूत्र में रूपग्रहण की क्या आवश्यकता है केवल **'स्वं शब्दस्याशब्द संज्ञा'** मात्र ही सूत्र क्यों न किया गया। 'स्वं शब्दस्याशब्द संज्ञा' एतावन्मात्र सूत्र से भी रूप ही शब्द का बोध्य होगा। क्योंकि रूप से भिन्न कोई दूसरा शब्द का स्व अर्थात् स्वकीय हो ही नहीं सकता है। इस तरह की शंका होने पर भाष्य में प्रकृत ज्ञापन के आश्रयण द्वारा रूप से अन्य शब्द के स्व का बोधन किया गया है। 'एवं तर्हि सिद्धे सति यद्रूपग्रहणं करोति तज्ज्ञापयत्याचार्यः अस्त्यन्यद्रूपात्स्वं शब्दस्येति'। भाव यह हैं कि सूत्र में रूप ग्रहण के बिना ही रूप के लाभ का संभव होने पर भी जो आचार्य ने रूप ग्रहण किया है, वही ज्ञापित कर रहा है कि—रूप से अन्य भी शब्द का स्व है। वह स्व क्या है। इसके उत्तर मे भाष्यकार ने कहा कि—अर्थ है। इस प्रकार शास्त्र में शब्द का बोध्य रूप तथा अर्थ होना ही सिद्ध हुए। रूप की तरह अर्थ को भी शब्द बोध्य बताने के लिए रूप ग्रहण सार्थक है। अर्थ की भी शब्दबोध्यता बताने से यथासंभव अर्थवान् स्वरूप ही शब्द का बोध्य हो सकेगा अर्थहीन स्वरूप शब्द बोध्य नहीं माना जायेगा। अत एव 'काशे, 'कुशे,' इन प्रयोगों में विद्यमान 'शे' शब्दरूप की 'शे' सूत्र से प्रगृह्य संज्ञा से, प्रगृह्य संज्ञा नहीं हो सकती है। क्योंकि 'काशे' 'कुशे' प्रयोग में विद्यमान 'शे' शब्दरूप अर्थहीन है। यथा संभव अर्थवान ही शब्दस्वरूप शब्द से ग्राह्य होंगे। अनर्थक शब्दस्वरूप शास्त्रीय शब्द से बोध्य नहीं हो सकते हैं— इस तरह **'अर्थवद्ग्रहणे नानर्थकस्य ग्रहणम्'** यह परिभाषा भी पृथक् कर्तव्य नहीं होगी। इस परिभाषा के प्रयोजन की सिद्धि **'स्वं रूपं शब्दस्याशब्दसंज्ञा'** सूत्र द्वारा ही हो जायेगी।

७. शब्दसंज्ञा न स्वरूपविधिर्भवतीति।

'स्वं रूपं शब्दस्याशब्दसंज्ञा" सूत्र में शब्दशास्त्रीय संज्ञा में स्वरूपबोधन के निषेध के लिए 'अशब्द' संज्ञा, कहा गया है। 'दाधाध्वदाप्,' 'तरप्तमपौ घः' इत्यादि सूत्रों से दा, धा धातु की घु संज्ञा की गई है, है, **'तरप्' 'तमप् प्रत्यय** की घ संज्ञा की गई है। इन में स्वरूप का बोध न हो, इसलिए इस सूत्र में **'अशब्द संज्ञा'** आवश्यक है। शब्द संज्ञा में स्वरूप के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बोधन के निषेध के लिए ही **'स्वंरूपं शब्दस्याशब्दसंज्ञा'** समग्र सूत्र भी आवश्यक है क्यों कि यद्यपि शब्दोच्चारण के समनन्तर शब्द स्वरूपबोध पूर्वक ही अर्थ का बोध लोक में देखा जाता है। व्याकरण शास्त्र में, अर्थ में, कार्य का संभव न होने से शब्द केवल स्वोच्चारणानन्तर प्रतीयमान स्वरूप मात्र में ही पर्यवसन्न होगा। स्वरूपबोधनार्थ **'स्वं रूपं शब्दस्याशब्दसंज्ञा'** इस सूत्र की आवश्यकता नहीं कही जा सकती थी, तथापि 'अशब्दसंज्ञा' द्वारा शब्द संज्ञा में स्वरूपबोधन के निषेधार्थ सूत्र की आवश्यकता है ही। क्योंकि निषेध के लिए प्राप्ति का होना आवश्यक होता है। यदि शब्द संज्ञा में स्वरूपबोधन का निषेध न किया जायेगा तो **'उपसर्गे घोः किः'** सूत्र से घु धातु से 'कि' प्रत्यय होने लगेगा। **'दा' 'धा'** धातु से नहीं ही होगा। घु संज्ञा का प्रयोजन **'ईहल्यघोः'** सूत्र में हो सकता है। क्योंकि 'घु' शब्द में आकारान्तत्व **का अभाव होने के कारण घु संज्ञा क 'दा' 'धा'** का ही, ग्रहण किया जायेगा। इस तरह **शब्द संज्ञा में स्वरूपबोधन के निषेधार्थ 'स्वंरूपं शब्दस्या शब्दसंज्ञा'** सूत्र की सार्थकता बताकर इस प्रयोजन का निराकरण प्रकृत ज्ञापन के आश्रयण से भाष्य में किया गया है। **'एतदपि नास्ति प्रयोजनम्। आचार्य प्रवृत्तिर्ज्ञापयति—शब्दसंज्ञायां न स्वरूपविधिर्भवतीति यदयं ष्णान्ता षडिति षकारान्तायाः संख्यायाः षट्संज्ञां शास्ति'** भाव यह है कि 'ष्णान्ता षट्' सूत्र से जो षष् शब्द की षट् संज्ञा का विधान किया गया है इससे ज्ञापित हो रहा है कि शब्द संज्ञा में स्वरूपग्रहण होता है। षट् संज्ञा से यदि स्वरूप भी गृहीत होता तो षष् शब्द तो स्वरूपतः 'जश्त्व,' 'चर्त्व' द्वारा षट् स्वरूप ही है। उसकी पुनः षकारान्त संख्या मान कर षट् संज्ञा का विधान व्यर्थ ही हो जायेगा, 'नान्ता षट्' एतावन्मात्र सूत्र से ही निर्वाह हो जायेगा। सूत्र द्वारा नकारान्त संख्या षट्त्वेन गृहीत होगी। स्वरूपतः षकारान्त संख्या भी षट्त्वेन गृहीत हो ही जायेगा। सूत्र में षकार ग्रहण व्यर्थ ही हो जायेगा।

इस प्रकार 'स्वंरूपं शब्दस्याशब्द संज्ञा' सूत्र के प्रयोजन के प्रसंग में यह विचार किया गया है तथा प्रकृत ज्ञापन का उपयोग भी इस सूत्र के प्रयोजन विशेष के निराकरण में ही किया गया है। इसी तरह इस सूत्र के अनेक प्रयोजन बताकर सबका प्रकारान्तर से निराकरण कर अन्त में इस सूत्र का ही भाष्य में प्रत्याख्यान ही कर दिया गया है। लक्ष्य के अनुसार सभी व्यवस्था संपन्न कर दी गई है।

८. न टितासवर्णग्रहणं भवति।

'अणुदित्सवर्णस्य चाऽप्रत्यय' सूत्र में 'अप्रत्यय': इस अशं का प्रयोजन 'सनाशं भिक्ष उः,' 'अ साम्प्रतिके' सूत्र द्वारा विधीयमान 'उ' प्रत्यय तथा अप्रत्यय में सवर्ण ग्रहण का निषेध बताया गया है। तदनन्तर 'अप्रत्ययः' से प्रत्ययमात्र के निषेध को अत्यल्प बताकर **'अप्रत्ययादेशटित्किन्मितः इति वक्तव्यम्'** यह कह कर 'प्रत्यय,' 'आदेश,' टिदागम, किदागम, मिदागम् में सवर्ण ग्रहण के निषेध की आवश्यकता बताई गई है। टिदागम में निषेध का प्रयोजन 'लविता', 'लवितुम्' प्रयोग बताया गया, यदि टिदागम में सवर्णग्रहण का निषेध न किया गया तो 'लविता'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तथा 'लवितुम्' प्रयोग में आगमभूत ह्रस्व इकार के सवर्णी दीर्घ ईकार की भी प्राप्ति हो सकती है, इस तरह पक्ष में दीर्घ ईकार आगम भी होने लगेगा। फलतः 'लविता' 'लवितुम्', 'लवीता', 'लवीतुम्' ये प्रयोग भी होने लगेंगे। अतः टित् जो इडागम है उसमें भी सवर्णग्रहण को निषेध आवश्यक ही है। इस तरह टित् आगम में सवर्णग्रहण के निषेध की आवश्यकता बताने के बाद प्रकृत ज्ञापन द्वारा टित् में सवर्णग्रहण के दोष का परिहार भाष्य में किया गया है—'टितः परिहारः—**आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति—न टितासवर्णानां ग्रहणं भवति इति यदयं—'ग्रहोऽलिटि' दीर्घत्वं शास्ति**। भाव यह है कि यदि टित् इडागम से सवर्णग्रहण से दीर्घ ईकार भी हो सकता तो 'ग्रहोऽलिटिदीर्घः' सूत्र द्वारा इट् को दीर्घ विधान व्यर्थ ही हो जायेगा। इससे ज्ञापित होता है कि इडागम को दीर्घ नहीं होता है।

यदि 'ग्रहोऽलिटिदीर्घः' सूत्र से दीर्घ विधान का तात्पर्य यह माना जाये कि 'ग्रह धातु' संबन्धी इट् लिट्-भिन्न स्थल में दीर्घ ही हो, ह्रस्व न हो, तो 'वृतो वा' सूत्र द्वारा जो विकल्प से इडागम की दीर्घ-विधान किया गया है, वही यह ज्ञापित कर सकता है कि टित् आगम द्वारा सवर्णग्रहण नहीं होता है। अतः 'लविता,' 'लवितुम्' प्रयोगों में कोई दोष नहीं होगा। इस तरह टिदागम से सवर्णग्रहण का परिहार विशेषतः प्रकृत ज्ञापन द्वारा पता कर **'भाव्यमानेन सवर्णानां ग्रहणं न'** इस परिभाषा से समस्त दोषों का परिहार कर दिया गया है। प्रकृत ज्ञापन केवल टित् के विषय में उपायान्तर मात्र है।

९. भाव्यमानेन सवर्णानाम् ग्रहणम् न।

'अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः' सूत्र में **'भाव्यमानेन सवर्णानां ग्रहणं न'** परिभाषा को स्वीकार कर आदेश, प्रत्यय, आगम सर्वत्र सवर्णग्रहण का परिहार किया गया। तदनन्तर प्रत्यय संज्ञक अण् में सवर्णग्रहण की प्रसक्ति का परिहार, अनभिधान के आश्रयण से भी बताया गया है अर्थात् प्रत्यय द्वारा गृहीत सवर्णी द्वारा अर्थ की प्रतीति न होने से ही प्रत्यय अपने सवर्णी का बोधक नहीं हो सकता है। क्योंकि प्रत्यय संज्ञा अर्थ के अभिधान करने पर ही होगी प्रत्यय संज्ञा महासंज्ञा होने के कारण अन्वर्थ संज्ञा है अर्थ के प्रत्यायक की ही प्रत्यय संज्ञा होगी। प्रत्यय से गृहीत सवर्णी जो दीर्घ या प्लुत होगा वह अर्थ का प्रत्यायक न होने के कारण प्रत्यय ही नहीं कहा जा सकता है। अतः प्रत्यय से सवर्ण ग्रहण संभव नहीं होगा। प्रत्यय संज्ञक में सवर्ण की प्रसक्ति का परिहार अनावश्यक है। तदनन्तर भाष्य में प्रत्यय शब्द को अन्तर्भावितण्यर्थ मान कर प्रत्याय्यमान से सवर्णग्रहण की प्रसक्ति के परिहार के लिए अप्रत्ययग्रहण की आवश्यकता बताई गई। जैसे 'अष्टन आविभक्तौ' सूत्र द्वारा विहित 'आ' भी अण् अ से प्रत्याय्यमान् है अतः वह भी अपने सवर्णी का बोधक होने लगेगा। उसकी व्यावृति के लिए 'म' प्रत्यय निषेध आवश्यक है। 'अष्टन् आ विभक्तौ' से विहित आ यदि स्व सवर्ण का बोधक हो, तो आ से ह्रस्व अथवा प्लुत का भी ग्रहण होने लगेगा। यद्यपि आकार वर्ण समाम्नायस्थ न होने के कारण अण् ग्रहण से गृहीत नहीं होगा। अण् न होने के कारण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उससे सवर्णग्रहण की प्रसक्ति नहीं होगी। अप्रत्यय ग्रहण की कोई आवश्यकता नहीं हो सकती है। तथापि इस तरह 'अप्रत्यय' ग्रहण व्यर्थ होकर— **'भाव्यमानेन सवर्णानां ग्रहणं न'** परिभाषा की ज्ञापित करता है। **'एवं तर्हि सिद्धे सति यदप्रत्यय इति प्रतिषेधं शास्ति, तज्ज्ञापयत्याचार्यो 'भवत्येषा परिभाषा' भाव्यमानेन सवर्णानां ग्रहणं नेति।** —यहां 'ज्ञापयति' शब्द का अर्थ **'योगेन बोधयति'** यह अर्थ है अर्थात् **प्रतीयते विधीयते इति प्रत्ययः' इस** यौगिक अर्थ का आश्रयण कर विधीयमान मात्र में सवर्ण बोधकता की व्यावृति की गई है। इस ज्ञापन का उपपादन परिभाषेन्दुशेखर में नागेश भट्ट ने भी किया है। यह शास्त्रत्व संपादक परिभाषा के रूप में वर्णित है।

१०. तदेकदेशभूतम् तद्ग्रहणेन गृह्यते।

'येन विधिस्तदन्तस्य' सूत्र में वार्तिक द्वारा आक्षेप किया गया है— 'अकच्श्नमुवतः **सर्वनामाव्ययधातुविधावुपसंख्यानम्'** अर्थात् अकच् प्रत्यय विशिष्ट का सर्वनामसंज्ञा तथा अव्यय संज्ञा के विधान का उपसंख्यान करना चाहिए। ताकि 'सर्वके' 'विश्वके' इन प्रयोगों में 'सर्वक' विश्वक' शब्द को भी सर्वनाम प्रयुक्त 'शी' भावादि कार्य हो, 'उच्चकैः', 'नीचकैः' प्रयोगों में अव्यय संज्ञा प्रयुक्त सुप्, लुक् हो सके। इसी तरह 'श्नम्' प्रत्यय होने के बाद 'भिनत्ति', 'छिनत्ति' प्रयोगों में भिनद ति, छिनद्+ति इस अवस्था में 'धातोः' सूत्र से 'भिनद्' 'छिनद्' को धातु संज्ञा प्रयुक्त अन्तोदात्त सिद्ध हो, अतः यह उपसंख्यान आवश्यक है। क्यों कि **'येनविधिस्तदन्तस्य'** सूत्र से केवल तत् या तदन्त का बोध होगा। **'अकज्विशिष्ट'** या 'श्नम्विशिष्ट' न तो तत् है न तो तदन्त है सर्वनामसंज्ञादि प्रयुक्त कार्य 'सर्वके' आदि में नहीं ही होगे। इस आक्षेप के उत्तर में **'सिद्धं' तु तदन्तान्तवचनात्**, वार्तिक द्वारा 'येनविधिस्तदन्तस्य' सूत्र में तदन्तस्य के स्थान में 'तदन्तान्तस्य' ऐसा वचन स्वीकार करके सर्वादि शब्द का जो अन्त अकारादि वही जिसका अन्त है, ऐसे सर्वकादि शब्दों में भी सर्वनामादि संज्ञाप्रयुक्त विधि प्रवृत्त हो जायेगी ऐसा समाधान किया गया।

इस समाधान में सूत्र भेद का दोष देकर पुनः **'तदेकदेशाद्वासिद्धम्'** वार्तिक द्वारा 'तदेकदेश' का तद्ग्रहण से ग्रहण लोकन्याय से ही सिद्ध बताया गया। जैसे देवदत्त नामक स्त्री का गर्भ भी देवदत्ता नामक स्त्री के ग्रहण से ही गृहीत होता है। उसी तरह सर्वादि शब्द के भोतर आने वाले 'अकजादि प्रत्यय' भी सर्वादि शब्दों से गृहीत हो सकते हैं। 'सर्वके' आदि प्रयोगों में कोई दोष नहीं होगा। भाष्यकार ने तो, नियतानुपूर्वी-विशिष्ट की जो सर्वनामादि संज्ञा है वह अधिकानुपूर्वी विशिष्ट में प्रवृत्त नहीं हो सकती है जैसे 'द्रोण्', 'आढ़क' ये नियत परिमाण न्यून अथवा अधिक में प्रवृत्त नहीं होते हैं उसी तरह सर्वनामादिसंज्ञा भी अधिकानुपूर्वी विशिष्ट में प्रवृत्त नहीं हो सकती हैं, यह कर लोकन्याय से तदेकदेश के तत्ग्रहण से ग्रहण असंभव सिद्ध कर दिया। इस भाष्य के समनन्तर पुनः भाष्यकार ने प्रकृत ज्ञापन का आश्रयण करने तदेकदेश का तद्ग्रहण से ग्रहण सिद्ध किया— एवं तह्याचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति तदेकदेशभूतं तद्ग्रहणेन गृह्यते, इति'। यदयं नेदमदसोरकोरिति सककारयौरिदमद

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रतिषेधं शास्ति' भाव यह है कि 'अकच्' प्रत्यय से विशिष्ट 'इदम', 'अदस्' शब्द से परे भिस् विभक्ति के स्थान में 'ऐस्' आदेश का निषेध 'नेदमदसोरकोः' सूत्र द्वारा किया गया है, यदि 'तदेकदेश तद्ग्रहण' से गृहीत हो तो यदि 'इदम्' 'अदस्' शब्द से परे भिस् को ऐसा देश विहित है तो अकच् प्रत्यय विशिष्ट को प्राप्त नहीं होगा। सूत्र में 'अकोः' कह कर उसका निषेध करना व्यर्थ ही होगा इससे यह स्पष्ट ज्ञापित हो रहा है कि तदेकदेश भी तद्ग्रहण से गृहीत होता है। यह परिभाषा के रूप से परिभाषेन्दुशेखर में भी व्याख्यात है।

१२. व्यवदेशिवद्भावो प्रातिपदिकेन।

येनविधिस्तदन्तस्य सूत्र में तदन्तविधान के प्रयोजन के विचार के प्रसंग में एक वार्तिक **'रोण्या अण्'** का उल्लेख भाष्य में किया गया है। अर्थात् **'रोणी'** सूत्र द्वारा 'रोणी'-शब्दान्त से भी अण् प्रत्यय का विधान कर **'आजकरोणः'** आदि प्रयोग सिद्ध करने के लिए तदन्त विधान आवश्यक है। इसी तरह रोणी शब्द से भी अण् प्रत्यय के विधानार्थ **'तस्य च'** इस वचन से रोणी शब्द से भी प्रत्ययविधान होना चाहिए ताकि 'रौणः' प्रयोग भी निष्पन्न हो। इस तरह तदन्त की तरह तत् के बोध के लिए **'तस्य च'** यह वचन भी आवश्यक है, अन्यथा **'व्यवदेशिवद्भावोऽप्रातिपदिकेन'** परिभाषा द्वारा केवल प्रातिपदिक से अण् प्रत्यय सिद्ध नहीं होगा। व्यपदेशिवद्भावोऽप्रातिपदिकेन' परिभाषा का प्रयोजन' **'क्रतुक्थादिसूत्रान्ताट्टक्,' 'तदस्मिन्नधिकमिति दशान्ताड्ः'** सूत्रों में सूत्र शब्दान्त दश शब्दान्त से ही **'सांग्रहसूत्रिकः** एकादशम आदि प्रयोगों में 'ठक्' प्रत्यय तथा 'ड' प्रत्यय हो केवल सूत्र शब्द से तथा 'दशन्' शब्द से 'ठक्' तथा 'ड' न हो, यह बताया गया है। यदि तदन्त के साथ व्यवदेशिवद्भाव द्वारा तत् का का भी बोध हो सकता तो अन्तग्रहण व्यर्थ हो जाता, इससे यह ज्ञापित होता है कि सूत्रान्त से ही ठक् प्रत्यय होगा। दशान्त से ही 'ड' प्रत्यय होगा। केवल सूत्र तथा दशन् से प्रत्यय नहीं होंगे यहां तदन्त विधि द्वारा सूत्र शब्द से तथा दशन् शब्द से 'सूत्रान्त' एवं 'दशान्त' का ग्रहण संभव नहीं था क्योंकि **'समासप्रत्ययविधौ प्रतिषेधः'** वार्तिक द्वारा प्रत्ययविधायक सूत्रों तदन्त विधि का निषेध किया जा चुका है। अतः **'सूत्रान्ताट्टक्', दशान्ताड्ः**, यही निर्देश किया गया है। इसके बाद **'व्यपदेशिवद्भावोऽप्रातिपादिकेन'** परिभाषा की आवश्यकता होने पर इस परिभाषा की कर्तव्यता से प्राप्त गौरव दोष की निवृत्ति के लिए ज्ञापन का आश्रयण कर यह परिभाषा सिद्ध की गई है। 'आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति— **व्यपदेशिवद्भावोऽप्रातिपदिकेनेति, 'पूर्वादिनिः' सपूर्वाच्चेत्याह'** भाव यह है कि **'सपूर्वाच्च'** सूत्र से पूर्वशब्दान्त से **'इनि'** प्रत्यय होगा एवं व्यपदेशिवद्भाव से पूर्वशब्द से भी **'इनि'** प्रत्यय हो ही जायेगा। **'पूर्वादिनिः'** पृथक् सूत्र करना व्यर्थ ही होगा। फिर भी आचार्य ने **'पूर्वात्सपूर्वादिनिः'** न पढ़ कर **'पूर्वादिनिः'** पृथक् सूत्र किया हैं, इससे यह स्पष्ट होता है कि प्रातिपदिक मात्र का बोध व्यपदेशिवद्भाव द्वारा नहीं हो सकता है। प्रातिपदिक भिन्न में ही व्यपदेशिवद्भाव की प्रवृत्ति होगी। यह परिभाषा परिभाषेन्दुशेखर में नागेशभट्ट द्वारा भी शास्त्र **संपादक प्रकरण** में व्याख्यात हुई है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१३. नानेनार्धधातुकस्यापितो ङित्वं भवति।

'सार्वधातुकमपित्' सूत्र में सार्वधातुक ग्रहण के प्रयोजन का विचार करते हुए भाष्य में कहा गया है कि यदि 'अपित्' मात्र ही सूत्र किया जायेगा तो 'अपित् आर्धधातुक' में भी ङित्व की प्रसक्ति हो जायेगी। इसी प्रसक्ति के निवारण के लिए प्रकृत ज्ञापन का आश्रयण भाष्यकार ने किया है—'नैष दोषः। **आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति—नानेनार्धधातुकस्यापितो ङित्वं भवतीति यदयमार्धधातुकीयान् कांश्चिन्ङितः करोति— चङङ् नजिङ् ङ्वनिबथङ्नङः'** भाव यह है कि आर्ध-**धातुकसंज्ञक 'चङ्'**, 'अङ्', नजिङ्, ङ्वनिप, अथङ्, नङ् प्रत्ययों को 'ङित्' किया गया है। यदि अपित् आर्धधातुक' प्रत्यय भी ङित् होते तो इन 'चङादि प्रत्ययों' में ङित्वविधान व्यर्थ हो जाता। इससे यह स्पष्ट ज्ञापित हो रहा है कि 'अपित् आर्धधातुक ङित्' नहीं होते। यदि कहा जाये कि सार्वधातुक के विषय में भी यह ज्ञापन प्रवृत्त होकर सार्वधातुक में भी ङित्व का अभाव बोधित करेगा तो यह संभव नहीं है क्योंकि तुल्यजातीय में भी ज्ञापन की प्रवृत्ति होती है। 'चङादि प्रत्यय' जिस जाति के हैं, उसी जाति के प्रत्ययों में ङित्व का अभाव ज्ञापित होगा। चङादि प्रत्यय आर्धधातुक जातीय हैं अतः आर्धधातुकजातीय में ही इस ज्ञापन की प्रवृत्ति होगी। सार्वधातुक में प्रकृत ज्ञापन प्रवृत्त नहीं होगा। इसके अनन्तर भाष्य में ज्ञापन की तुल्यजातीयता स्वीकार करने पर भी यह दोष दिया गया है कि यदि ज्ञापक की तुल्यजातीयता ही गृहीत होगी तो 'चङ्' तथा 'अङ्' + 'च्लि' के स्थान में होने वाले 'चङ्' 'अङ्' स्वसजातीय 'सिच', 'चिण्' के विषय में ही अङित्व का ज्ञापन करेंगे। इसी तरह नजिङ् प्रत्यय भी स्वसजातीय वर्तमानकालार्थ प्रत्यय के विषय में ही अङित्व का ज्ञापन करेगा, 'ङ्वनिप्' केवल भूतकालार्थ प्रत्यय के ही विषय में ज्ञापन करेगा। 'अथङ्' केवल औणादिक प्रत्यय के विषय में ही ज्ञापन कर सकेगा 'नङ्' प्रत्यय केवल स्वसजातीय घञर्थ प्रत्यय में ही ज्ञापन कर सकेगा। शेष 'अपित्' आर्धधातुक प्रत्ययों में ङित्वाभाव नहीं सिद्ध होगा। अतः सार्वधातुक ग्रहण की आवश्यकता ही भाष्य में सिद्ध की गई है। प्रकृत ज्ञापन पूर्वपक्ष की स्थापना के लिए प्रासंगिक है। सामान्यतः शास्त्र में उपयोगी नहीं है।

१४. औपदेशिकस्य कित्वस्य प्रतिषेधो नातिदेशिकस्य

'न क्त्वा सेट्' सूत्र में ग्रहण के प्रयोजन के प्रसंग में भाष्य में कहा गया है कि **'न सेडित्येव सिद्धम्' 'नार्थः क्त्वा ग्रहणेन'** अर्थात् **न सेट्' मात्र सूत्र** से निर्वाह हो जायेगा। 'क्त्वा' ग्रहण निष्प्रयोजन है? इस आक्षेप के समाधान में कहा गया है कि यदि सेट् मात्र के कित्व का निषेध किया जायेगा तो सेट् निष्ठा, में भी कित्व का निषेध होने लगेगा। 'गुधितः' आदि 'गुधितवान्' आदि प्रयोगों की सिद्धि नहीं होगी यदि यह कहा जाये कि निष्ठा में **'निष्ठा शीङ्-स्विदिमिदिक्ष्विदिधृषः'** सूत्र के नियमार्थ होने से कोई दोष नहीं होगा। शीङादि धातु से परे ही निष्ठा में कित्वाभाव होगा, अन्यत्र नहीं होगा। तो भी लिट् में दोष होगा **ही** 'जग्मिव', जघ्निव प्रयोगों में जगम्+इव जहन्+इव इस स्थिति में **'गमहनजनखनघसां लोपः** क्ङित्यनङि' सूत्र में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उपधा लोप नहीं होगा, ये प्रयोग सिद्ध नहीं होंगे। इस तरह लिट् में कित्वाभाव की व्यावृति के लिए 'न क्त्वासेट्' सूत्र में क्त्वा ग्रहण आवश्यक है ताकि सेट् क्त्वा में ही कित्वाभाव हो अन्यत्र न हो। इस समाधान का भी निराकरण प्रकृत ज्ञापन के आश्रयण द्वारा भाष्य में किया गया है-- **'यदयं' इको झलिति झल् ग्रहणं करोति तज्ज्ञापयत्याचार्यः —औपदेशिकस्य कित्वस्य प्रतिषेधो नातिदेशिकस्येति'** भाव यह है कि **'इको झल्'** सूत्र से इगन्त से परे झलादि सन् को कित्व विधान किया है, सन् में झल् विशेषण का यही प्रयोजन है कि 'शिशयिषते, इत्यादि प्रयोगों में कित्व न हो। यदि आतिदेशिक कित्व का भी प्रतिषेध हो, तो यहाँ झल् विशेषण व्यर्थ हो जायेगा, क्यों कि सन् में आतिदेशिक ही कित्व संभव है, वह सेट् होने से ही निषिद्ध हो जायेगा। 'सन्' में जो झलादि विशेषण दिया गया है; वही व्यर्थ होकर ज्ञापित कर रहा है कि 'औपदेशिकस्य कित्वस्य प्रतिषेधो नातिदेशिकस्य' इस ज्ञापन के आश्रयण में लिट् में दोष की व्यावृत्ति भाष्य में की गई है। अन्त में 'इकोझल' सूत्र में झल् ग्रहण को 'स्थाध्वोरिच्च' इस उत्तर सूत्र के लिए चरितार्थ कर के इस ज्ञापन का खण्डन भी कर दिया है। 'स्थाध्वोरिच्च' सूत्र में सिच् के विशेषण के लिए झल् आवश्यक है। ताकि उपास्थायिषाताम्' 'उपास्थायिषत' प्रयोगों में सिच् को कित्व न प्राप्त हो। अन्यथा उप आस्थास+आताम् इस स्थिति में सिच् को चिण्वद्भाव करने के बाद 'आतोयुक् चिण्कृतोः 'सूत्र से धातु को युक् आगम होने पर उपास्थायिस+आकाम् इस स्थिति में यकार को भी इत्व की प्राप्ति होने लगेगी। अतः स्थाध्वोरिच्च में भी झल् ग्रहण की आवश्यकता है। तदर्थ हो 'इकोझल् में झल् ग्रहण सार्थक है। इसकी ज्ञापकता संभव नहीं है। इस तरह 'न क्त्वा सेट' सूत्र में क्त्वा ग्रहण की आवश्यकता लिट् में कित्वाभाव के लिए नहीं ही है। इसी विचार के प्रसंग में इस ज्ञापन का उल्लेख है। यह ज्ञापन सार्वत्रिक उपयोग के लिए नहीं है। इस सूत्र में भाष्य में क्त्वा ग्रहण की इसी प्रकार आवश्यकताओं का विचार करते हुए अन्त में प्रकारान्तर से इसकी आवश्यकता सिद्ध करके इस न क्त्वा सेट्' सूत्र में क्त्वा ग्रहण का प्रत्याख्यान ही कर दिया गया है।

१५. न मात्रिको ऽन्ते भवति

१६. न मात्रिको मध्ये भवति

१७. न द्विमात्रो ते भवति

'उकालोज्झ्स्वदीर्घप्लुतः' सूत्र के भाष्य में यह विचार किया गया है कि 'ऊकालः' में 'ऊ' के भीतर **एकमात्रिक, द्विमात्रिक तथा तथा त्रिमात्रिक** उ, ऊ, ऊ, उ चक से ही निविष्ट हैं क्यों न एकमात्रिक आदि में या अन्त में क्यों न निविष्ट माना जाये, त्रिमात्र का आदि में या मध्य में क्यों न हो निवेश समझा जाये? इसी आशंका के उत्तर के प्रसंग में उपर्युक्त ज्ञापकों का आश्रयण लिया गया है, 'एवं तर्हि आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति न मात्रिकोऽन्ते भवति इति, यदयं विभाषा "पृष्टप्रतिवचने हेः" इति मात्रिकस्य प्लुतं शास्ति' भाव यह हुआ कि इस 'ऊकालोऽझ्स्वदीर्घप्लुतः' सूत्र में जो 'ऊ' के भीतर अन्त में निविष्ट होगा, उसकी ही प्लुत

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संज्ञा होगी । यदि एकमात्रिक ही 'उ' अन्त में निविष्ट होता तो 'विभाषापृष्टप्रतिवचने हेः' सूत्र में 'हि' घटक एकमात्रिक इकार की प्लुत विधान व्यर्थ हो जायेगा । क्यों कि एकमात्रिक तो स्वयं ही प्लुतसंज्ञा कि है, प्लुत को प्लुत विधान व्यर्थ होगा । एकमात्रिक का मध्य में भी निवेश नहीं किया जा सकता है, इस विषय में भी आचार्य का वचन ही ज्ञापक है— **'न मात्रिको मध्ये भवति इति । यदयम्— 'अतो दीर्घो यञि' सुपि चेति दीर्घत्वं शास्ति'** अभिप्राय यह है कि यदि 'ऊ' के भीतर मध्य में एकमात्रिक का निवेश माना जाये तो एकमात्रिक को हो दीर्घसंज्ञा होगी, ऐसी स्थिति में एकमात्रिक अकार को 'अपोदीर्घोयञि' तथा 'सुपि च' सूत्र द्वारा दीर्घविधान व्यर्थ ही होगा । क्योंकि दीर्घ को दीर्घ विधान व्यर्थ ही है । इसी प्रकार द्विमात्र का अन्त में सनिवेश भी संभव नहीं है । इस विषय का भी आचार्य का वचन ही ज्ञापक है— **अत्राप्याचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति/ 'न द्विमात्रोऽन्ते भवति इति यदयम्— ओमभ्यादाने इति द्विमात्रिकस्य प्लुतं शास्ति'** अर्थात् यदि 'ऊ' के भीतर अन्त में द्विमात्र का निवेश माना जाये तो द्विमात्रिक की ही प्लुत संज्ञा होगी, ऐसी स्थिति में **'ओमभ्यादाने'** सूत्र से 'ओम्' घटक द्विमात्रिक ओकार को प्लुत विधान व्यर्थ ही होगा क्योंकि प्लुत को प्लुतविधान व्यर्थ ही है । इस तरह द्विमात्रिक का अन्त में भी बाधित है, क्योंकि एक मात्रिक का सन्निवेश उक्त ज्ञापनों द्वारा मध्य, अन्त में न होकर आदि में ही प्राप्त है, अतः द्विमात्रिक का आदि में निवेश एक मात्रिक द्वारा बाधित ही हो जायेगा । इस प्रकार यही व्यवस्था क्लृप्त होगी— कि एकमात्रिक, द्विमात्रिक, त्रिमात्रिक का 'ऊ' के भीतर क्रम से निवेश स्वीकार कर एकमात्रिक की ह्रस्व संज्ञा द्विमात्रिक की दीर्घसंज्ञा तथा त्रिमात्रिक की प्लुतसंज्ञा हो ।

१८. सिद्ध इह स्वरितः

'तस्यादित उदात्तमर्धह्रस्वम्' सूत्र की व्याख्या करते हुए भाष्यकार ने अर्धह्रस्व शब्द को अर्धमात्रा में रूढ बताया है इस सूत्र की आवश्यकता इस लिए है कि उदात्तत्व, अनुदात्तत्व दोनों धर्मों का सम्मिश्रण स्वरित स्वर में होता है ,**समाहारः स्वरितः**' सूत्र से ऐसे स्वर को ही स्वरित कहा गया । ऐसी स्थिति में जैसे क्षीर तथा उदक के सम्मिश्रण में क्षीर की मात्रा तथा उदक की मात्रा का पृथक् करना कठिन होता है उसी तरह स्वरित में कितना अंश उदात्त है कितना अनुदात्त है, यह विवेक साधारण बुद्धि के लिए असंभव था अतः शिष्य हितैषी आचार्य ने **'तस्यादित उदात्तमर्धह्रस्वम्'** सूत्र द्वारा यह विवेकेन स्पष्ट किया है कि 'स्वरित' की आदि की अर्धमात्रा उदात्त है । शेष भाग अनुदात्त होगा । यह अर्थतः सिद्ध हो जाता है । इस तरह यह सूत्र 'स्वरित' मात्र विषयक होने के कारण स्वरित मात्र में प्रवृत्ति के लिए इस 'तस्यादित उदात्तमर्घह्रस्वम्' सूत्र से लेकर 'उदात्तस्वरितपरस्यसन्नतरः' सूत्र को अष्टाध्यायी के अन्त में 'उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः' सूत्र के अनन्तर पढ़ना चाहिए, ऐसा विचार वार्तिक द्वारा किया गया है 'तस्यादितउदात्तमर्धह्रस्वं सूत्र से लेकर 'उदात्त स्वरितपरस्य सन्नतरः' सूत्र तक इन नौ सूत्रों को 'उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः' सूत्र के अनन्तर ही पढ़ना चाहिए ताकि, त्रिपादी में विहित स्वरित में भी अर्धमात्रोदात्तता तथा उदात्तस्वरितपरकत्व दशा में सन्नतरत्व का विधान संभव हो सके, अन्यथा ये स्वरित संबन्धी विधियाँ सपादसप्ताध्यायीस्थ होने कारण त्रिपादी में विहित स्वरित में प्रवृत्त नहीं होगी । क्योंकि सपा-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दसप्ताध्यायोस्थ सूत्रों की दृष्टि में त्रिपादीस्थ सूत्र 'पूर्वत्रासिद्धम्' सूत्र द्वारा असिद्ध बताए गये हैं। 'इमं मे गंगे यमुने सरस्वति शतुद्रि' प्रयोग में 'इमम्' अन्तोदात्त से परे 'मे' शब्द अनुदात्त होने के कारण स्वरित है। यहां 'उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः' इस त्रिपादीस्थ सूत्र से स्वरित का विधान किया गया है। ऐसी स्थिति में त्रिपादीस्थ होने के कारण इससे परे गंगे यमुने आदि संबोधनान्त पदों में 'आमन्त्रितस्य च,' इस आष्टीमिक सूत्र से अनुदात्त होने के कारण 'स्वरितात्संहितायामनुदात्तानाम्' सूत्र से प्राप्त एकश्रुति की सिद्धि नहीं होगी। 'कार्य देवदत्तयज्ञदत्तौ' प्रयोग में कार्यम् शब्द में 'ण्यत् प्रत्यय' "तित्स्वरितम्" से स्वरित है, यह स्वरित सिद्ध है। अतः इससे परे जो देवदत्तयज्ञदत्तौ आमन्त्रितत्वेन अनुदात्त है, यहां ही केवल एकश्रुति की सिद्धि होगी, इस तरह स्वरित प्रयुक्त विधियां त्रिपादी में विहित स्वरित को मानकर भी प्रवृत्त हो, इसलिए त्रिपादी के अन्त में ही यह काण्ड पढ़ना चाहिए इस आरोप का उत्तर भाष्यकार ने प्रस्तुत ज्ञापन के आश्रयण द्वारा दिया है— 'देवब्रह्मणोरनुदात्तवचनं ज्ञापकं' 'सिद्ध इह स्वरित इति' अर्थात्—"देवब्रह्मणोरनुदात्तः" सूत्र द्वारा देवाः, ब्रह्माण. इन दो आमन्त्रितान्त पदों में अनुदात्तत्व का विधान किया गया है। यहाँ 'देवा' 'ब्रह्माणः' दोनों पद आमन्त्रितान्त में 'आमंन्त्रितं पूर्वमविद्यमानवत्' सूत्र द्वारा पूर्ववर्ती 'देवाः' पद अविद्यमानवत् हो जाने के कारण उत्तर 'ब्रह्माणः' पद में आष्टमिक निघात को प्रवृत्ति नहीं हुई किन्तु दोनों पदों में षाष्ठ 'आमन्त्रितस्य' सूत्र द्वारा दोनों पदों में आद्युदात्त होकर 'अनुदात्तं पदमेकवर्जम्' सूत्र से शेषनिघात हो गया, तदनन्तर 'उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः' से स्वरित होने पर इस सूत्र से दोनों प्रयोगों में अनुदात्तत्व का विधान किया गया है। यदि त्रिपादी विहित स्वरित इस प्रकरण की दृष्टि से असिद्ध होते तो, देवब्रह्मणोरनुदात्तः सूत्र से अनुदात्तत्व का विधान व्यर्थ ही हो जाता, अतः अनुदात्तत्व वचन ज्ञापित कर रहा है कि त्रैपादिक स्वरित भी यहां सिद्ध ही रहता है। अर्थात् असिद्ध नहीं होता है। 'सिद्ध इह स्वरितः इति' इस ज्ञापन में यह भी विचार किया गया है कि यदि त्रैपादिक स्वरित मात्र के सिद्धत्व मात्र का ज्ञापन किया जाता है तो स्वरितोदात्त से परे अनुदात्त को भी स्वरितत्व की प्राप्ति होने लगेगी। अभिप्राय यह है कि 'इन्द्र आगच्छ,' इस सुब्रह्मण्या संज्ञक निगद घटक वाक्य में आगच्छ शब्द में 'आ' उपसर्ग होने से उदात्त है उससे परे गच्छ तिङन्त शब्द 'तिङतिङः' सूत्र से अनुदात्ताच्क हो कर 'उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः' सूत्र से गकारोत्तर अकार स्वरित हो जाता है, उसी स्वरित को 'न सुब्रह्मण्यायां स्वरितस्यतूदात्तः' सूत्र से उदात्त हो जाता है। इस तरह सुब्रह्मण्या घटक 'आगच्छ' शब्द से आ तथा गकारोत्तर अकार उदात्त सिद्ध हुआ। यदि 'देवब्रह्मणोरनुदात्तः' के ज्ञापन से स्वरितत्व के सिद्धत्व मात्र का ही ज्ञापन करेंगे तो सुब्रह्मण्या निगद में स्वरितोदात्त से परे अनुदात्त को भी स्वरित की प्राप्ति होगी। इस तरह 'आगच्छ' में छकारोत्तर अकार स्वरितोदात्त से परे अनुदात्त होने के कारण स्वरित होने लगेगा। क्यों कि स्वरितोदात्त तो 'उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः' की दृष्टि में सिद्ध ही है उससे परे भी छकारोत्तर अकार के स्वरितत्व की प्राप्ति होगी ही, जो इष्ट नहीं है। अतः स्वरित के सिद्धत्व मात्र के ज्ञापन से ही निर्वाह नहीं होगा, किन्तु 'उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः' सूत्र की दृष्टि में सुब्रह्मण्या घटक स्वरितोदात्तता की असिद्धि भी आवश्यक है। इस आक्षेप के उत्तर में भाष्यकार ने सूत्रशेष भाष्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में कहा— **न ब्रूमो, देव ब्रह्मणोरनुदात्तवचनं ज्ञापकं** 'सिद्ध इह स्वरित' इति किं तर्हि ? **'परमेतत्सूत्र काण्डम्'** इति । अर्थात् 'देवब्रह्मणोरनुदात्तः' के अनुदात्त विधान द्वारा केवल स्वरित के सिद्धत्व मात्र का ज्ञापन नहीं किया जा रहा है किन्तु इस नव सूत्रीकाण्ड के 'उदात्तादनुदात्तस्य स्वरित.' सूत्र से उत्तरसन्निवेश का ज्ञापन करते हुए स्वरित के सिद्धत्व का बोधन किया गया है । इष्टानुरोधेन इस नवसूत्री के सन्निवेशान्तर के ही ज्ञापन का व्याख्यान समझना चाहिए । इसी सन्निवेश से सकल इष्ट की सिद्धि होगी ।

१६. नास्य लुग्भवति ।

'अपृक्त एकाल्प्रत्ययः' सूत्र में अल् के स्थान पर हल् ग्रहण की कर्तव्यता का विचार करते हुए भाष्य में एक वार्तिक है— 'अपृक्त संज्ञाया' हल्ग्रहणं **स्वादिलोपे हलो ग्रहणार्थं** अर्थात् यदि हल् की ही अपृक्त संज्ञा की जाये तो 'हलङ्याभ्योदीर्घात्सुतिस्यपृक्तं हल्' इस सूत्र में हल् ग्रहण करने की आवश्यकता नहीं होगी । अतः अपृक्त संज्ञा सूत्र में हल् ग्रहण ही करना चाहिए । इस आक्षेप के अनन्तर अपृक्तसंज्ञा सूत्र में अल् ग्रहण की सार्थकता का भी प्रतिपादन किया गया है । **'अणिञोर्लुगर्थमल्ग्रहणम्** **अर्थात्** **'ण्यक्षत्रियार्षञितोयूनिलुगणिञोः'** सूत्र में अण्, इञ् दो शब्दों के ग्रहण की अपेक्षा एक अपृक्त शब्द के ग्रहण में लाघव होने के कारण अपृक्त संज्ञा सूत्र में 'अल्' का ही ग्रहण उचित होगा । क्यों कि अल् की अपृक्त संज्ञा करने के कारण 'अण्' तथा इञ् दोनों प्रत्यय अपृक्त संज्ञक होने से ही उनका लुक् हो जायेगा लुग्विधायक सूत्र में अपृक्त ग्रहण कर देने से अण् इञ् दो पदों का ग्रहण नहीं करना पड़ेगा, लाघव होगा । यदि--अपृक्त संज्ञा में अल् ग्रहण ही किया जायेगा तथा लुग् विधायक सूत्र में अण्, इञ् ये दोनों पद न किये जायेंगे तो **'फाण्टाहृतिमिमताभ्यां'०** सूत्र से विहित ण प्रत्यय का भी लुक् प्रसक्त होगा ऐसी स्थिति में **फाण्टाहृतेरपत्यं माणवकः फाण्टाहृः'** इस प्रयोग की सिद्धि नहीं होगी ? तो **'फाण्टाहृतिमिमताभ्यां णफिञौ'** सूत्र से 'ण' प्रत्यय के विधान के सामर्थ्य से ही ण के लुक् की व्यावृत्ति की जा सकती है । यदि 'ण' प्रत्यय का विधान फाण्टाहृति, शब्द से इञन्तत्वात् प्राप्त 'यञिञोश्च' सूत्र से फक् प्रत्यय की निवृत्ति के लिए सार्थक कहा जाये ? तो फक् प्रत्यय की निवृत्ति पैलादिगण में पाठ से भी की जा सकती है । 'पैलादिभ्यश्च' सूत्र से पैलादि-गोत्रप्रत्ययद्यान्तशब्दे से परे 'युव' संज्ञक प्रत्यय का लुक् हो जाने से ही फक् की प्रसक्ति नहीं होगी । इस तरह 'फाण्टाहृति' शब्द से फक् की प्रसक्ति न होने पर भी जो 'ण' प्रत्यय का विधान किया गया है इससे यह स्पष्ट ज्ञापित हो रहा है कि 'ण' प्रत्यय का लुक् नहीं होता है— **एवं सिद्धे सति यदयं णं शास्ति तज्ज्ञापयत्याचार्यो 'नास्य लुग् भवति' इति।** इस तरह अपृक्त संज्ञा सूत्र में अल् ग्रहण होने पर भी कोई दोष नहीं होगा। अपृक्त संज्ञा में हल् ग्रहण करने पर यद्यपि—'हल्ङ्यादिः सूत्र में हल् ग्रहण न करने का लाघव अवश्य होगा तथापि 'ण्यक्षत्रियार्षञितो यूनि लुगणिञोः' सूत्र में अण्, इञ् ये दो पद अवश्य कर्तव्य हो जायेंगे। इस तरह हल् ग्रहण करने में अल् ग्रहण की अपेक्षा कोई लाघव नहीं है, प्रत्युत अल् ग्रहण करने पर एक ग्रहण के विना भी निर्वाह हो सकेगा । 'दर्विः', 'जागृविः' इत्यादि प्रयोगों में 'वेरपृक्तस्य' सूत्र से लोप की आशंका भी नहीं की जा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सकती है । क्यों कि अल् ग्रहण के सामर्थ्य से ही अल् मात्र प्रत्यय की ही अपृक्त संज्ञा होगी यदि अल्,-अनल् समुदाय की संज्ञा हो तो अल् ग्रहण व्यर्थ ही हो जायेगा । अतः अल् मात्र प्रत्यय न होने के कारण 'जागृविः', 'दर्विः' इन दोनों प्रयोगों में कोई दोष नहीं होगा । अतः अपृक्त संज्ञा सूत्र में अल् का ही ग्रहण न्यायसंगत है, इसी विचार में प्रस्तुत ज्ञापन अत्यन्त उपयोगी है ।

२०. न धातोः प्रातिपदिकसंज्ञा भवति इति ।

अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्'—सूत्र में 'अधातु' ग्रहण के प्रयोजन के लिए भाष्य में प्रत्युदाहरण के रूप में 'अहन्' प्रयोग उपन्यस्त किया गया है। 'हन्' धातु से लङ लकार में अडागम तथा प्रत्यय लोप द्वारा निष्पन्न 'अहन्' शब्द को अधातु ग्रहण के अभाव में प्रातिपदिक-संज्ञा प्राप्त हो जायेगा। 'यदागमास्तद्गुणीभूतास्तद्ग्रहणेन गृह्यन्ते' परिभाषा से अडागम विशिष्ट 'हन्' भी धातु ग्रहण से गृहीत होगा । इस तरह इस प्रातिपदिक संज्ञा सूत्र में यदि अधातु ग्रहण से धातु के प्रातिपदिक संज्ञा का निषेध नहीं किया जायेगा तो 'न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य' सूत्र से 'अहन्' में नलोप की प्रसक्ति होगी । अतः अधातुग्रहण इस सूत्र में आवश्यक है। इस प्रयोजन का खण्डन करने के लिए इस प्रकृत ज्ञापन का आश्रयण भाष्यकार ने किया है—**आचार्य-प्रवृत्तिर्ज्ञापयति न धातोः प्रातिपदिकसंज्ञा भवति इति, यदयं सुपो धातु प्रातिपदिकयोरिति धातु ग्रहणं करोति**' अर्थात् यदि धातु की भी प्रातिपदिक संज्ञा हो, तो 'पुत्रीयति' इत्यादि प्रयोगों में सुप् का लुक् प्रातिपादिक होने से ही हो जायेगा— 'सुपोधातुप्रातिपदिकयोः' सूत्र में धातु ग्रहण पृथक् करना व्यर्थ हो जायेगा। इससे ज्ञापित हो रहा है कि 'धातु' की प्रातिपदिक संज्ञा नहीं होती है ।

वस्तुतः 'श्येनायते' प्रयोग में श्येन इव आचरति' इस विग्रह में श्येन + सु से 'कर्तुः क्यङ् सलोपश्च' सूत्र से 'क्यङ्' प्रत्यय होने पर 'श्तेन+सु+य' इस अवस्था में प्रत्ययान्त होने के कारण 'अप्रत्यय निषेध द्वारा प्रातिपदिक संज्ञा के निषिद्ध होने पर सुप् लुक् प्राप्त नहीं होगा, अतः लुग् विधायक सूत्र में धातुग्रहण भी आवश्यक ही है । प्रकृत ज्ञापन संभव नहीं होगा । अतः 'अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्' सूत्र में अधातुग्रहण आवश्यक ही है। यही भाष्यकार का तात्पर्य है ।

२१. भवति प्रकृतिप्रत्ययसमुदायस्य प्रातिपदिकसंज्ञेति ।

'अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्' सूत्र के भाष्य में 'वाक्यप्रतिषेधोऽर्थ वलात्' वार्तिक द्वारा वाक्य की प्रातिपदिक संज्ञा के प्रतिषेध की कर्तव्यता बताई गई है । 'देवदत्त गामभ्याज शुक्लाम्' यह वाक्य भी अर्थवान् शब्दस्वरूप होने के कारण प्रातिपदिक संज्ञा का विषय होना चाहिए । इसका निषेध आवश्यक है, अन्यथा वाक्यघटक विभक्तियों का 'सुपोधातुप्रातिपदिकयोः' सूत्र द्वारा लुक् प्रसक्त होगा । यदि यह कहा जाये कि पदार्थ से व्यतिरिक्त वाक्य का कुछ अर्थ नहीं होता, पदप्रतिपाद्य पदार्थ ही आकाङ्क्षा संनिधि वशात् परस्पर संसृष्ट

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होकर वाक्यार्थ कहा कहा जाता है तो यह कहना उचित नहीं है क्योंकि 'देवदत्त गामभ्याज शुक्लाम्' इस वाक्य के केवल देवदत्त शब्द का प्रयोग करने केवल कर्ता मात्र की प्रतीति होती है, केवल 'ग्राम्' शब्द का प्रयोग करने से कर्ममात्र की प्रतीति होती है 'अभ्याज' मात्र के प्रयोग से क्रिया मात्र ही प्रतीत होगी 'शुलाम्' शब्द से केवल गुणमात्र की ही प्रतीति होगी, इस तरह ये समस्त पद केवल सामान्यत: क्रिया-कर्तृत्वादि विशिष्ट मात्र अर्थ का ही प्रतिपादिक हो रहे है। किस क्रिया के प्रति देवदत्त में कर्तृत्व है, गो में कर्मत्व है, इसी तरह 'अभ्याज' क्रिया के प्रति किसमें कर्तृत्व है, किसमें कर्मत्व है शुक्ल गुण किसका है, इस क्रम से विशेष्य विशेषण भावापन्न विशेष अर्थ की प्रतीति नहीं हो सकती है। वाक्य का प्रयोग करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि 'अभ्याज' क्रिया निरूपित ही कर्तृत्व देवदत्त में है, एक-क्रियानिरूपित ही 'कर्मत्व' गो में है, शुक्लगुण का विशेष्य गौ ही है।

इस तरह सामान्य अर्थ में वर्तमान पदार्थों का जो विशेषण-विशेष्य भावापन्न विशेष अर्थ में व्यवस्थापन है यही पदार्थातिरिक्त वाक्यार्थ है। यही अर्थ लोक-वेद के लिए उपयोगी हो सकता है। अतएव वाक्य ही मुख्य शब्द कहा जाता है तथा पदार्थ संसर्गरूप वाक्यार्थ ही मुख्य शब्दार्थ कहा जाता है। इसी वाक्यार्थ की सगमता के लिए पदपदार्थ विभाग शास्त्र-कारों द्वारा कल्पित है। केवल पद मात्र मुख्य शब्द नहीं हो सकता, न पदार्थ मुख्य शब्दार्थ ही हो सकता है। पदार्थ मात्र के ज्ञान का लोक तथा वेद में कोई उपयोग नहीं है। इस तरह वाक्यार्थ द्वारा वाक्य भी अर्थवान् शब्द स्वरूप है, इसकी प्रातिपदिक संज्ञा का निषेध करना हो चाहिए। इस आक्षेप का समाधान समास ग्रहण के नियम द्वारा किया गया है— **'समास एवार्थवतां समुदायानां** प्रातिपदिकसंज्ञा भवति नान्य इति' अर्थात् अर्थवान् समुदाय की यदि प्रातिपदिक संज्ञा होगी तो समास की ही होगो, अन्य समुदाय की प्रातिपदिक संज्ञा नहीं होगी। यह 'कृत्तद्धितसमासाश्च' सूत्र के समास ग्रहण से सिद्ध नियम है। इस समाधान पर पुन: आक्षेप किया गया है कि यदि समासेतर समुदाय की प्रातिपदिक संज्ञा नहीं होगी तो प्रकृति-प्रत्यय-समुदाय की भी प्रातिपदिक संज्ञा नहीं होनी चाहिए इस तरह 'बहु-पटव:' इस प्रयोग में अभीष्ट स्वर की असिद्धि हो जायेगी। 'इषद्नाः पटव:' इस विग्रह में पटु + सस् इस प्रथमान्त सुबन्त से 'विभाषा सुपो बहुच् पुरस्तात्तु' सूत्र से प्रकृति-पूर्व बहुच् प्रत्यय होने के बाद बहु+पटु—अस्, इस समुदाय की भी प्रातिपदिक संज्ञा समासग्रहण के नियम से नहीं होगी। प्रातिपदिक संज्ञा न होने से 'सुपोधातुप्रातिपदिकयो:' सूत्र से जस् विभक्ति का लुक् नहीं होगा तथा 'बहुपटु' से पुन: जस् विभक्ति भी नहीं प्राप्त होगी। 'बहुपटव: 'प्रयोग असिद्ध हो जायेगा यदि बहु+पटु—जस् इस अवस्था में प्रकृति घटक जस् को लेकर ही बहुपटव: प्रयोग सिद्ध हो सकता है, प्रातिपदिकसंज्ञा करके पुन: जस् विभक्ति लाने से क्या लाभ ? तो यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि यदि प्रकृति घटक जस् को लेकर ही 'बहुपटव:' सिद्ध किया जायेगा तो 'बहुच्' प्रत्यय चित् होने के कारण 'चित:' सूत्र से प्रकृतिप्रत्यय समुदाय के अन्त को उदात्त स्वर होगा, इस तरह बहु+पटु–जस् इस अवस्था में 'जसि च' सूत्र से गुण तथा अवादेश होने के बाद 'बहुपटव:' प्रयोग में वकारोत्तर अकार को ही उदात्तत्व की प्रसक्ति होगी जो अनिष्ट होगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यदि प्रातिपदिकसंज्ञा करके विभिक्तिलुक् करने के बाद 'बहुपटु' इस अवस्था में 'चितः' सूत्र से अन्तोदात्त होगा तो तद्घटक उकार ही उदात्त होगा, पुनः जस् विभक्ति आने के बाद 'जसि च' सूत्र से गुण तथा अवादेश होने के बाद टकारोत्तर अकार ही उदात्त रहेगा। 'बहुपटवः' प्रयोग में उपान्त्योदात्त अभीष्ट स्वर की सिद्धि हो सकेगी। अतः प्रकृति-प्रत्यय समुदाय की प्रातिपदिक संज्ञा इष्ट है परन्तु समासग्रहण के नियम से यहां प्रातिपदिक संज्ञा नहीं हो सकेगी। इसी शंका के समाधान में प्रकृत ज्ञापन का आश्रयण किया गया है— **एवं तर्ह्याचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति—भवति प्रकृतिप्रत्ययसमुदायस्य प्रातिपदिकसंज्ञेति । यदयं अप्रत्यय इति प्रतिषेधं शास्ति।** भाव यह है कि 'अर्थवदधातुः' सूत्र में 'अप्रत्ययः' के ग्रहण द्वारा जो प्रत्ययान्त की प्रातिपदिक संज्ञा का निषेध किया जाता है, इससे ज्ञापित हो रहा है कि प्रकृतिप्रत्ययसमुदाय की प्रातिपदिक संज्ञा होती ही है । अन्यथा प्रत्ययान्त समुदाय की संज्ञा अर्थवत्समुदाय होने के कारण समासग्रहण के नियम से हो ही नहीं सकती थी, 'अप्रत्यय' ग्रहण से प्रत्ययान्त का निषेध व्यर्थ ही होगा। अन्त में समासग्रहण के नियम को सजातीयापेक्ष बताकर सुबन्त समुदाय की ही प्रातिपदिकसंज्ञा की व्यावृत्ति नियम से होगी। प्रकृतिप्रत्यय के समुदाय की व्यावृति नियम द्वारा नहीं हो सकती । प्रकृति प्रत्यय की 'प्रातिपदिक' संज्ञा में कोई अनुपपत्ति नहीं होगी। इस ज्ञापन के लिए 'अप्रत्यय' ग्रहण प्रातिपदिकसंज्ञा सूत्र में आवश्यक नहीं है । ज्ञापन भी आवश्यक नहीं है, यही भाष्य का तात्पर्य निश्चित हुआ है ।

२२. अनर्थकानामप्येतेषां भवत्यर्थवत्कृतम् ।

'अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्' सूत्र से अर्थवान् शब्द की ही प्रातिपदिक संज्ञा का विधान होने के कारण अनर्थक वर्णों की प्रातिपदिक संज्ञा नहीं होती है। इसी विचार के प्रसंग में 'निपातस्यानर्थकस्य प्रातिपदिकत्वम्' इस वार्तिक द्वारा अनर्थक निपात शब्दों की प्रातिपदिक संज्ञा की कर्तव्यता को आवश्यक बताया गया है— 'खंजति', 'निरवेजति', 'लम्बते', 'प्रलम्बते' इन प्रयोगों में 'नि', 'प्र' जो निपात है, वह अनर्थक ही है । यद्यपि निपात शब्द द्योतक होने के कारण द्योत्य अर्थ को लेकर अर्थवान् कहे जा सकते है' तथापि जिस निपात का द्योत्य अर्थ भी न हो, उसकी प्रातिपदिक संज्ञा के लिए **'निपातस्यानर्थकस्य प्रातिपदिकसंज्ञा वक्तव्या'** इस तरह का वार्तिक अवश्य होना चाहिए। यदि अनर्थक निपात की प्रातिपदिक संज्ञा नहीं होगी, तो सुबुत्पत्ति के अभाव में पद संज्ञा भी नहीं होगी, 'निखंजति', प्रलम्वते' इन प्रयोगों, में 'तिङतिङः' सूत्र से निघात की सिद्धि भी नहीं होगी।

यदि यह कहा जाये कि निपात की प्रातिपदिक संज्ञा होने पर भी संख्यादि के अभाव में एक वचनादि संज्ञक सुप् की उत्पत्ति संभव नहीं होगी, प्रातिपदिक संज्ञा भी व्यर्थ ही होगी, तो यह कहना ठीक न नहीं है क्यों कि एकत्व अर्थ में ही एकवचन हो, द्वित्व में ही द्विवचन हो, बहुत्व में ही बहुवचन हो, ऐसा नियम नहीं स्वीकार किया गया है, किन्तु एकत्व में एकवचन ही विभक्ति हो द्वित्व में द्विवचन ही, बहुत्व में बहुवचन ही विभक्ति हो, इस तरह अर्थ नियम पक्ष ही स्वीकार किया गया है । अर्थनियम पक्ष में एक वचन विभक्ति पर कोई बन्धन नहीं है जो कि एकत्व के बिना न हो । ऐसी स्थिति में अनर्थक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रातिपदिक से भी औत्सर्गिक एकवचन विभक्ति होने में कोई आपत्ति नहीं होगी । यदि प्रत्यय नियम पक्ष का ही आश्रय लिया जाय तो भी कोई दोष नहीं होगा इसी अभिप्राय से भाष्य में इस ज्ञापन का आश्रय लिया गया है— **'अथवा आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति—अनर्थकानामप्येषां भवत्यर्थकृतम् इति । यदयं "अधिपरी अनर्थकौ" इत्यनर्थकयोर्गत्युपसर्गसंज्ञावाधिका कर्मप्रवचनीयसंज्ञा शास्ति"** । अभिप्राय यह है कि क्रिया के योग में ही गति, तथा उपसर्ग संज्ञा का विधान होने से अनर्थक 'अधिपरि' का क्रियायोग संभव ही नहीं होगा । गत्यादि संज्ञा की प्राप्ति नहीं होगी, गत्युपसर्गसंज्ञा की वाधिका कर्मप्रवचनीय संज्ञा व्यर्थ ही है, इससे स्पष्ट ज्ञापित हो रहा है कि अनर्थक निपात में भी अर्थप्रयुक्त कार्य होते ही हैं । इस तरह अनर्थक निपात की प्रातिपदिक संज्ञा तथा सुबुत्पत्ति में कोई बाधा नहीं है ।

अनर्थक निपात में प्रातिपदिक संज्ञा विधानार्थ उक्त वार्तिक भी अनावश्यक ही है । यह भाष्य का तात्पर्य है ।

२३. उत्पद्यन्ते ऊङन्तात्स्वादयः

"अर्थवदधातुप्रत्ययः प्रातिपदिकम्" सूत्र में प्रत्ययान्त निषेध के विषय में विचार करते हुए भाष्यकार ने कहा है— **"किं पुनरयं पर्युदासो यदन्यत्प्रत्ययादिति, आहोस्वित् प्रसज्यायं निषेध इति"** अर्थात् इस सूत्र में प्रत्ययान्त निषेध पर्युदास है अथवा प्रसज्य प्रतिषेध है ? इस दोनों पक्षों में विशेषता यह होगी कि यदि इस निषेध को पर्युदास माना जाय तो प्रत्ययान्त भिन्नप्रत्ययान्त सदृश शब्द की प्रातिपदिक संज्ञा प्राप्त होगी, ऐसी स्थिति में 'काण्डे, 'कुड्ये' इन दोनों प्रयोगों में 'काण्ड', 'कुड्य' शब्द से ङि विभक्ति में गुण एकादेश होने पर "अन्तादिवच्च" सूत्र से पूर्वान्तिवद्भावेन प्रत्ययान्तभिन्नत्व स्वीकार कर जो प्रातिपदिकसंज्ञा प्राप्त होगी, उसका निषेध करना होगा । अन्यथा "ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य" सूत्र से ह्रस्व की प्रसक्ति होने लगेगी । यदि प्रसज्यप्रतिषेध माना जाय तो 'ब्रह्मबन्धूः' प्रयोग में 'ब्रह्मबन्धु' शब्द से स्त्रीत्व की विवक्षा में "ऊङुतः" सूत्र से 'ऊङ' प्रत्यय में सवर्ण दीर्घ होने पर परादिवद्भावेन प्रत्ययान्तत्व स्वीकार कर प्रत्ययान्तनिषेध की प्रसक्ति होगी । प्रातिपदिकसंज्ञा नहीं होगी, सुबुत्पत्ति असंभव हो जायेगी । इस दोष की निवृत्ति के लिए प्रकृत ज्ञापन का आश्रयण किया गया है— **"नैष दोषः । आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति— उत्पद्यन्ते ऊङन्तात्स्वादय इति, यदयं नोङ्धात्वोरिति विभक्तिस्वरस्य प्रतिषेधं शास्ति"** । भाव यह है कि "नोङ्धात्वोः" सूत्र से ऊङ् के स्थान में जायमान यण् से परे शसादि विभक्ति के उदात्तत्व का निषेध किया किया गया है । 'ब्रह्मबन्ध्वा' प्रयोग में 'ब्रह्मबन्धू' से टा विभक्ति में यण् होने पर 'उदात्तयणो हल्पूर्वात्' सूत्र से विभक्ति को उदात्तत्व प्राप्त था, उसका निषेध 'नोङ्धात्वोः' से किया गया है । यदि ऊङन्त से स्वादि विभक्ति न हो तो विभक्ति के उदात्तत्व की प्राप्ति ही संभव नहीं होगी, निषेध सर्वथा व्यर्थ ही हो जायेगा, इससे यह स्पष्ट ज्ञापित हो रहा है कि ऊङन्त से स्वादि की उत्पत्ति होती ही है । इस ज्ञापन द्वारा 'ब्रह्मबन्धू' शब्द से सुबुत्पत्ति के लिए ही प्रयास किया गया है । भाष्य में 'आगे चलकर ज्ञापन के बिना भी यथोद्देश पक्ष के आश्रयण द्वारा सुबुत्पत्ति से पूर्व प्रवृत्त प्रातिपदिक संज्ञा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पूर्वान्तवद्भावेन ऊङन्त ब्रह्मबन्धू शब्द में भी संभव है, ज्ञापन की आवश्यकता का निराकरण कर दिया गया है। लिङ्ग विशिष्ट परिभाषा से भी निर्वाह संभव है। यह ज्ञापन शिथिल प्रयोजन ही है।

२४. न प्रत्ययलक्षणेन प्रतिषेधो भवति इति।

"अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्" सूत्र में प्रत्ययान्तनिषेध के विचार के प्रसंग में ही प्रसज्य पक्ष में एक दूसरा दोष वार्तिककार ने दिया है-- **'सुब्लोपे च प्रत्ययलक्षणात्'** अर्थात् सुप् के लोप होने पर प्रत्यय लक्षण द्वारा प्रत्ययान्त निषेध की प्राप्ति हो रही है। इस तरह 'राजा', 'तक्षा', इन प्रयोगों में राजन्+स् तक्षन्+स् इस अवस्था में उपधादीर्घ के बाद 'हल्ङ्याभ्यो दीर्घात्सुतिस्यपृक्तं हल्' सूत्र से सुलोप हो जाने पर 'प्रत्ययलोपे प्रत्यय-लक्षणम्' सूत्र से प्रत्ययलक्षण द्वारा प्रत्ययान्तत्वेन 'राजान्, तक्षान्' में प्रातिपदिक संज्ञा का निषेध होने से 'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य' सूत्र से नलोप नहीं होगा, राजा, तक्षा, प्रयोग सिद्ध नहीं होंगे। इसी दोष के उद्धार के लिए प्रकृत ज्ञापन का आश्रय लिया गया है। 'नैष दोषः'। **आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति--न प्रत्ययलक्षणेन प्रतिषेधो भवति इति, यदयं न ङिसम्बु-द्धयोरिति प्रतिषेधं शास्ति'** भाव यह है कि **'न ङिसम्बुद्धयोः'** सूत्र द्वारा 'ङि' तथा सम्बुद्धि में न लोप का निषेध किया जाता है। संबोधन की विवक्षा में राजन् शब्द से सु विभक्ति में सुलोप होने के बाद "नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य" सूत्र से जो नलोप प्राप्त हो रहा है, उसका निषेध न ङिसंबुद्धयोः सूत्र द्वारा किया जाता है। यदि प्रत्ययलक्षण द्वारा प्रत्ययान्त त्व का आश्रयण कर प्रत्ययान्त निषेध की प्राप्ति होती तो सम्बुद्धि में सुलोप हो जाने के बाद प्रत्ययलक्षण द्वारा प्रत्ययान्तत्वेन प्रत्ययान्त निषेध से प्रातिपदिक संज्ञा भी नहीं होती। नलोप की प्राप्ति भी नहीं होती। यह 'न ङिसम्बुद्धयोः' सूत्र व्यर्थ ही हो जायेगा। इससे यह स्पष्ट ज्ञापित हो रहा है कि 'न प्रत्ययलक्षणेन प्रतिषेधो भवति' इति। इस ज्ञापन की आवश्यकता प्रसज्यप्रतिषेध पक्ष में ही है। यदि पर्युदास पक्ष स्वीकार किया जाय तो यथो द्देश पक्ष में पूर्वप्रवृत्त प्रातिपदिक संज्ञा को लेकर ही नलोप की प्राप्ति संभव हो जायेगी। ज्ञापन की आवश्यकता नहीं है। अतएव भाष्य में ज्ञापन के उपन्यास के अनन्तर कहा गया है--**'अथवा पुनरस्तु पर्युदासः'** इति। यद्यपि कार्यकाल पक्ष में पर्युदास पक्ष के लिए भी ज्ञापन आवश्यक हो सकता है तथापि एक पक्ष में दोष का अभाव हो जाने पर पक्षान्तर को लेकर दोषोपन्यास उचित नहीं है। प्रकृत ज्ञापन भी शिथिल प्रयोजन ही है।

२५. सर्वो द्वन्द्वो विभाषयैकवद्भवति इति।

'तिष्यपुनर्वस्वोर्नक्षत्रद्वन्द्वे बहुवचनस्य द्विवचनं नित्यम्' सूत्र में बहुवचनग्रहण के प्रयोजन के विचार के प्रसंग में प्रत्युदाहरण के रूप में 'उदितं तिष्यपुनर्वसुः' प्रयोग भाष्य में उद्धृत किया गया है। भाव यह है-- **'तिष्यश्च पुनर्वसू च'** इस विग्रह में 'इतरेतरयोग' की विवक्षा में द्वन्द्व समास करने पर बहुवचन की प्राप्ति होती है। उसे बांध कर द्विवचन विधान

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस सूत्र से किया गया है अर्थात् इतरेतरयोग की विवक्षा द्वन्द्व समास करने पर बहुवचन 'तिष्यपुनर्वसवः' प्रयोग नहीं होगा, किन्तु 'तिष्यपुनर्वसू' यही प्रयोग होगा, यह इस सूत्र में बहुवचनग्रहण का प्रयोजन है यदि बहुवचन ग्रहण न किया गया होता तो समाहार की विवक्षा में द्वन्द्व समास करने पर एकत्व की विवक्षा में जो एकवचन की प्राप्ति होती है, वहाँ भी द्विवचन प्रयोग होने लगता । 'उदितं तिष्यपुनर्वसु' यह प्रयोग नहीं ही होता । अतः बहुवचन ग्रहण इस सूत्र में आवश्यक है । यदि नक्षत्रवाची शब्दों को कल्पभेद से नक्षत्रव्यक्ति में भेद स्वीकार कर जातिवाचक मानने से 'जातिरप्राणिनाम्' सूत्र से एकवद्भाव नित्य ही प्राप्त है, तो ऐसा नहीं कहा जा सकता क्योंकि जातिवाचक शब्दों के द्वन्द्व के एकवद्भाव का 'अप्राणिनाम्' इससे निषेध होता है । अर्थात् 'अप्राणि' द्वन्द्व में एकवद्भाव की प्राप्ति नहीं होती । इस तरह यहां एकवद्भाव की प्राप्ति संभव नहीं होगी । बहुवचन की ही प्राप्ति संभव है, उसी का बाध इस सूत्र से किया जायेगा बहुवचनग्रहण की आवश्यकता नहीं ही है, इसी आक्षेप को लेकर भाष्यकार ने कहा है **'एवं तर्हि सिद्धे सति बहुवचन-ग्रहणं करोति तज्ज्ञापयत्याचार्यः — सर्वो द्वन्द्वो विभाषयैकवद् भवति इति** । इस ज्ञापन का प्रयोजन भी भाष्य में दिया गया है । 'बाभ्रवशालाङ्कायनन्' 'बाभ्रवशालङ्कायनाः', अर्थात्— 'बाभ्रवाश्च शालङ्कायनाश्च' इस विग्रह में यदि समाहार में द्वन्द्व किया गया तो एक वचन होगा यदि इतरेतरयोग की विवक्षा में द्वन्द्व किया गया गया तो बहुवचन होगा । दोनों प्रयोग इष्ट हैं । यहां **'सर्वो द्वन्द्वः'** कहने का तात्पर्य यह है कि एकवद्भाव प्रकरण के विषयभूत द्वन्द्व से इतर यावद् द्वन्द्व हैं, सर्वत्र विवक्षाभेद से समाहार तथा इतरेतर योग को लेकर एकवचन एवं द्विवचन–बहुवचन न्यायतः सिद्ध हैं, इसी अर्थ का ज्ञापन बहुवचन-ग्रहण से किया गया है । एकवद्भाव प्रकरण से जात्यादि का द्वन्द्व एकवत् ही होता है ऐसा नियम इष्ट है । किन्तु जात्यादि का ही द्वन्द्व एकवत् हो अन्य का न हो ऐसा विपरीत नियम इष्ट नहीं है । यही प्रकृत सूत्र के बहुवचन ग्रहण से सिद्ध हो रहा है ।

यह ज्ञापन परिभाषेन्दुशेखर में भी शास्त्रत्व संपादक परिभाषा प्रकरण में परिभाषा के रूप में विचारित है ।

सप्तम अध्याय

१. यत्रोध्र्वम् प्रकृतेस्तल्लक्षण एवं विशेषस्तयैकशेषो भवति ।

'भ्रातपुत्रौ स्वसृदुहितृभ्याम्' सूत्र पर आक्षेप करते हुए भाष्यकार ने कहा है—**'किमर्थ-मिदमुच्यते, न पुमान् स्त्रिया, इत्येव सिद्धम्'** अर्थात् इस सूत्र की आवश्यकता क्या है ? जब कि 'पुमान् स्त्रिया' सूत्र से ही निर्वाह हो सकता था ? 'पुमान् स्त्रिया' सूत्र जिस तरह 'हंसी च हंसश्च' इस विग्रह में पुरुष वाची 'हंस' शब्द का एकशेष कर 'हंसौ' शब्द का साधक है उसी तरह 'भ्राता च×स्वसा च', 'पुत्रश्च दुहिता च', इन प्रयोगों में भी पुरुषवाचक शब्द का एकशेष कर 'भ्रातरौ', पुत्रौ प्रयोगों का साधक हो सकता है ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'भ्रातपुत्रौ स्वसृदुहितृभ्याम्' सूत्र अनावश्यक ही है । यदि यह कहा जाय कि 'पुमान् स्त्रिया' सूत्र में 'तल्लक्षणश्चेदेव विशेषः' इस अंश का अनुवर्तन 'वृद्धो यूना तल्लक्षणश्चेदेव विशेषः' सूत्र से होता है, इस तरह 'तल्लक्षणं' यानी—स्त्रीपुरुषमाश्रकृत भेद से ही एकशेष होगा । जैसे 'हंसी च हंसश्च' इस प्रयोग में एकशेष होता है : 'भ्राता च स्वसा च' इत्यादि प्रयोगों में ऐसा नहीं है, तो यह ठीक नहीं प्रतीत होता है, क्यों कि— 'तल्लक्षण एव विशेषः' का अर्थ है कि 'समानायामाकृतौ शब्दभेदः' अर्थात् समानाकारता में शब्दभेद वह भातृ–स्वसृ में भी है ही भ्रातृ–स्वसृ पुत्रदुहितृ में एकापत्यत्व लक्षण समानाकारता भी है, शब्द भेद भी है, ऐसी स्थिति में यहाँ भी 'पुमान् स्त्रिया' सूत्र से ही एकशेष की सिद्धि हो ही सकती है । 'भ्रातृपुत्रौ स्वसृदुहितृभ्याम्' सूत्र क्यों किया गया ? इसी आक्षेप में भाष्य-कार ने प्रकृतज्ञापन का आश्रयण लेकर आक्षेप का निराकरण किया है — **एवं तर्हि सिद्धे सति यदयं योगं शास्ति तज्ज्ञापयत्याचार्यो यत्रोर्ध्वं प्रकृतेः स्यात्तल्लक्षण एव विशेषस्तत्रैकशेषो भवतीति ।** अर्थात् यही सूत्र उक्त रीति से व्यर्थ होकर ज्ञापित कर रहा है कि प्रकृति यानी स्त्री–प्रत्यय की प्रकृति से अतिरिक्त के वैरूप्य में ही एकशेष होता है, प्रकृति की तो एकता ही होनी चाहिए । श्री कैयट ने इसकी व्याख्या लिखी है—**'यत्र एका प्रकृतिः अन्यत्तु वैरूप्यं** तत्रैकशेष इत्यर्थः' अतएव 'हंसश्च वरटा च' 'कच्छपश्च डुलिश्च', 'ऋश्यश्च रोहिच्च' इन विग्रहों में एकशेष नहीं होता है । केवल 'हंसी च हंसश्च' इस विग्रह की विवक्षा में ही एकशेष होगा । इस तरह 'भ्राता च स्वसा च', पुत्रश्च दुहिता च', इन विग्रहों में भी एकशेष न होने के कारण 'भ्रातृपुत्रौ स्वसृदुहितृभ्याम्' सूत्र की सार्थकता ज्ञापन द्वारा संपन्न हो गई । इसी प्रकार 'पितामात्रा', श्वसुरः 'श्वश्र्वा सूत्र भी उक्त अर्थ में ज्ञापक है अतः इन सूत्रों की ज्ञापकता से 'त्यदादीनि सर्वैर्नित्यम्' सूत्र को छोड़कर सर्वत्र 'सरूपाणामेकशेष एक-विभक्तौ' सूत्र से 'सरूपाणाम्' इस अंश की अनुवृत्ति कर के उक्त अर्थ का लाभ होता है । इसी अर्थ में यह ज्ञापक प्रमाणतया उपन्यस्त किया गया है । 'त्यदादीनि सर्वैर्नित्यम्' सूत्र में सर्वग्रहण के सामर्थ्य से 'सरूपाणाम्' की अनुवृत्ति नहीं की जा सकती है ।

७. अस्ति च पाठो बाह्यश्च पाठात् ।

'भूवादयो धातवः' सूत्र में आदि ग्रहण की आवश्यकता को लेकर भाष्य में आक्षेप किया गया है **'अथादिग्रहणम् किमर्थम्'** । भाव यह है कि यदि 'भू' प्रभृति स्वरूपतः कहीं पढ़े गए हैं तो आदि ग्रहण अनावश्यक ही है । अन्यत्र कहीं, जहाँ स्वरूपतः पढ़ा जाता है वहाँ आदि ग्रहण नहीं किया जाता है, जैसे 'मृडमृदगुधकुष क्लिशवदवसः क्त्वा' यहां स्वरूपतः मृड आदि शब्द पढ़ दिए गए हैं । इसलिए आदि शब्द का प्रयोग नहीं किया गया है । यदि भू प्रभृति अन्यत्र स्वरूपतः नहीं पढ़े गए हैं तब तो सर्वथा ही आदि ग्रहण असंबद्ध होने के कारण व्यर्थ ही है । भाव यह है कि यदि भू प्रभृति शब्द पढ़े गए हैं तो उन्हें पड़कर 'ते धातवः' सूत्र करना चाहिए, जैसे—'ते तद्राजाः' सूत्र से तद्राज संज्ञा का विधान किया जाता है, उसी तरह यहां भी होना चाहिए । आदि ग्रहण का प्रयोजन उभयथा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शिथिल ही है, इसी आक्षेप को लेकर इसके निराकरण में प्रकृत ज्ञापन का उपन्यास भाष्य में किया गया है— **एवं तर्हि सिद्धे सति यदादिग्रहणं करोति, तज्ज्ञापयत्याचार्योऽस्ति च पाठो बाह्यश्च सूत्राद्'** इति। अर्थात् यही आदि ग्रहण ज्ञापित कर रहा है कि 'भू प्रभृति शब्दों का पाठ है तथा वह पाठ सूत्र से बहिर्भूत भी है। 'अस्ति पाठः' पाठ की सत्ता सिद्ध की गई है बाह्यश्च से मृडमृद० आदि सूत्र मात्र पठित धातुओं से गतार्थत्व का निरास भी किया गया। सूत्र पठित धातुओं से पृथक् भी धातु संज्ञक शब्द है जिनका निश्चय पाठ विशेष से ही हो सकता है। इस तरह पाठ की सत्ता होने के कारण आदि शब्द असंबद्ध नहीं हुआ। सूत्रवर्ती धातु से समस्त धातुओं की गतार्थता भी नहीं हुई। इस तरह आदि ग्रहण करने से पाठमात्र से ही धातुसंज्ञा हो सकती है। जो धातुपाठ में नहीं पढ़ गए है, उनकी धातु संज्ञा नहीं ही होगी। अतएव 'आणवयति' इत्यादि स्थल में धातुत्व को आपत्ति नहीं हो सकती है। यद्यपि 'भूवादयो धातवः' 'सूत्र में 'आदि प्रकार वाची भी है, इस तरह इसके वैयर्थ्य को लेकर ज्ञापन उचित नहीं है। तथापि प्रभृत्यर्थक आदि शब्द ही प्रसिद्धतर होने के कारण प्रस्तुत ज्ञापन की उपपत्ति जाननी चाहिए।

३. भवति लकारस्येत्संज्ञेति।

'हलन्त्यम्' सूत्र में 'आदिरन्त्येन सहेता' सूत्र को लेकर अन्योन्याश्रय की आशंका होती इसी दोष को लेकर भाष्य में कहा गया है कि—**'हलन्त्यमित्संज्ञं भवति इत्युच्यते, लकारस्यैव' तावदित्संज्ञा न प्राप्नोति।** अर्थात् हल् प्रत्याहार की सिद्धि होने पर 'हल्' में लकार की इत्संज्ञा होगी। 'हल् प्रत्याहार' के बिना लकार की इत्संज्ञा न होने के कारण 'आदिरन्त्येन सहेता' सूत्र द्वारा हल् प्रत्याहार ही सिद्ध नहीं होगा। इस तरह 'हलन्त्यमित्संज्ञं भवति' यह अर्थ सर्वथा असंगत हो रहा। हल् प्रत्याहार की सिद्धि से पहले ही 'ल' की इत्संज्ञा होनी ही चाहिए, अन्यथा 'हलन्त्यमित्संज्ञं भवति' यह अर्थ संगत नहीं हो सकता है। इस तरह अन्योन्याश्रय के आक्षप के समाधानार्थ 'हल' सूत्र घटक लकार की इत्संज्ञा के लिए भाष्य में अनेक समाधान प्रस्तुत किये गए हैं। उन्हीं समाधानों में एक समाधान ज्ञापन के आश्रयण से भी किया गया है। **अथवाऽऽचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति – भवति लकारस्येत्संज्ञेति यदयंणलं लितं करोति।** भाव यह है कि णल में लकार लित् स्वर के विधान के लिए किया गया है। 'लिति' सूत्र से लित् परे रहते प्रत्यय पूर्व को उदात्त स्वर का विधान होता है' 'विभेद प्रयोग में लित्स्वर के विधानार्थ णल् में लकार किया गया है। यदि औपदेशिक लकार की इत्संज्ञा न हो तो णल् लित् नहीं होगा। लित् स्वर के लिए क्रियमाण लकार व्यर्थ ही हो जायेगा। णल् में लकार श्रवणार्थ नहीं कहा जा सकता, 'हल्ङ्याभ्योदीर्घात्सुतिस्यपृक्तं हल्' सूत्र में हल् ग्रहण विभेद में तिप् स्थानिक णल् के लोप की व्यावृत्ति के लिए किया यया है। यदि लकार श्रवणार्थ होता तो लकार घटित की अपृक्त संज्ञा न होने से ही लोप की प्राप्ति नहीं होगी। **तद्व्यावृत्त्यर्थं क्रियमाण हल्ग्रहण के सामर्थ्य से णल् में लकार को श्रवणार्थ नहीं कहा जा सकता** 'तद्धीते तद्वेद'-- सूत्र में वेद निर्देश से भी लकार श्रवणार्थ नहीं हो सकता है। इस तरह णल् में लकार ग्रहण व्यर्थ होकर यह ज्ञापित करता है कि औपदेशिक लकार की इत्संज्ञा होती ही है। इस तरह 'हलन्त्यम्' सूत्र में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अन्योन्याश्रय के परिहार की सिद्धि हो जाती है। यह ज्ञापन केवल इसी प्रयोजन के लिये है।

४. न विभक्तौ तद्धिते प्रतिषेधो भवति इति।

'न विभक्तौ तुस्माः' सूत्र से तद्धित भिन्न विभक्ति में ही तकार की इत्संज्ञा का निषेध करना चाहिए। तद्धित विभक्ति में तकार की इत्संज्ञा का निषेध नहीं होना चाहिए। ताकि **'क्वप्रेप्सन दीव्यसे'** इत्यादि वाक्य घटक **'क्व'** पद का प्रयोग निष्पन्न हो, अन्यथा 'कस्मिन् इति क्व' इस प्रयोग में सप्तम्यन्त 'किम्' शब्द से **'किमोऽत्'** सूत्र से विहित अत् प्रत्यय में तकार की इत्संज्ञा का भी निषेध होने लगेगा। क्योंकि यह अत् प्रत्यय **'प्राग्दिशो विभक्तिः'** के अधिकार में होने के कारण विभक्ति संज्ञक प्रत्यय है, यहां भी 'न विभक्तौ तुस्माः' सूत्र से इत्संज्ञा का निषेध प्रसक्त हो जायेगा। इस तरह का आक्षेप 'न विभक्तौ तुस्माः' सूत्र के भाष्य में वार्तिक द्वारा किया गया है—'विभक्तौ तवर्गप्रतिषेधो तद्धिते' इसी आक्षेप के निराकरण के लिए भाष्यकार ने प्रकृत ज्ञापन का अवलम्बन लिया है— **'स तर्हि प्रतिषेधो वक्तव्यः ? न वक्तव्यः। आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति — न विभक्तौ तद्धिते प्रतिषेधो भवति** इति, यदयमिदमस्थमुरितिमकारस्येत्संज्ञापरिभाषार्थमुकारमनुबन्धं करोति :' भाव यह है कि 'इदमः स्थमुः' सूत्र से 'इदम्' शब्द से 'स्थमु' प्रत्यय कर के 'इत्थम्' प्रयोग बनाया गया है, यहां स्थमु में उकार की इत्संज्ञा "उददेशेऽजनुनासिक इत्' सूत्र से की गई है। इस इत्संज्ञा का कोई अन्य प्रयोजन नहीं है, यह केवल इकार के इत्संज्ञा लोप के बाद शेष भाग में मकार को इत्संज्ञा से बचाने के लिए ही है। ताकि 'स्थम्' घटक मकार में औपदेशिक अन्त्यत्व के अभाव में इत्संज्ञा न हो सके। यदि तद्धित विभक्ति में भी 'न विभक्तौ तुस्माः' निषेध प्रवृत्त हो, तो स्थम् घटक मकार की इत्संज्ञा का निषेध ही हो जाता, उसके परित्राण के लिए जो इत्संज्ञक उकार किया गया है, यह ज्ञापित कर रहा है कि तद्धित में 'न विभक्तौ तुस्माः' निषेध की प्रवृत्ति नहीं होती है। 'इदानीम्' प्रयोग में मकार की इत्संज्ञा की प्रसक्ति नहीं कही जा सकती है, क्योंकि यहां मकार की इत्संज्ञा का कोई प्रयोजन संभव नहीं है, अतः फलाभावात् मकार की इत्संज्ञा भी नहीं होगी। 'इदम् इश्' सूत्र से 'इदम्' के स्थान में यहां 'इश्' आदेश की प्राप्ति हो जाने के कारण 'मिदचोऽन्त्यात्परः' की प्रवृत्ति व्यर्थ ही होगी। इश् आदेश के होने के बाद मित्प्रयुक्त परत्व तथा प्रत्ययपरत्व में कोई भेद न होने के कारण 'दानीम्' प्रत्यय में मकार की इत्संज्ञा का कोई प्रयोजन न होने के कारण इत्संज्ञा भी नहीं होगी। अतः यह प्रकृत ज्ञापन निर्बाध ही है।

५. नानुबन्धकृतमसारूप्यं भवति।
६. नानुबन्धकृतमनेकालत्वं भवति।
७. नानुबन्धकृतमनेजन्तत्वं भवति।

'तस्य लोपः' सूत्र में अनुबन्धों के अनवयवत्व एवं अवयत्व को लेकर दो पक्षों का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निर्देश भाष्य में किया गया है— 'अनुबन्धा अनेकान्ताः'–'अनुबन्धा एकान्ताः' इन दोनों पक्षों में एकान्तत्व पक्ष का ही औचित्य भाष्य में स्वीकार किया गया है— **'उभयमिदमनुबन्धेषूक्तमेकान्ता इति, किमत्र न्याय्यम् ? एकान्ता इत्येव न्याय्यम्'** । इस न्यायोचित एकान्तत्व पक्ष में वार्तिक द्वारा तीन आक्षेप प्रस्तुत किए गए हैं । **तत्रासरूपसर्वादेश–दाप्प्रतिषेधे पृथक्त्वनिर्देशो नाकारान्तत्वादिति** । अर्थात् असरूप विधि तथा सर्वादेश में दोष होगा । इसी तरह दाप् के निषेध में पृथक् निर्देश आवश्यक होगा । ये तीन आक्षेप हैं । 'कर्मण्यण्' सूत्र का अपवाद 'आतोऽनुपसर्गे कः' सूत्र है । 'वाऽसरूपोऽस्त्रियाम्' सूत्र से असरूप अपवाद कृत प्रत्यय की अपवादता विकल्प से बताई गई है । किन्तु सरूप अपवाद नित्य ही अपवाद माना जाता है, इस तरह 'कर्मण्यण्' का 'आतोऽनुपसर्गे कः' नित्य अपवाद माना जाता है क्योंकि अनुबन्ध के लोप होने के बाद 'अकार' मात्र को लेकर दोनों प्रत्ययों में सरूपता ही रहती है । यदि अनुबन्धों में भी अवयवत्व ही स्वीकार किया गया, तो, 'अण्' तथा 'क' में असारूप्य होकर वैकल्पिक बाध्य–बाधकभाव होने लगेगा । इस तरह 'गां ददाति' विग्रह में नियमतः 'आतोनुपसर्गे कः' सूत्र से 'क' प्रत्यय द्वारा जब कि 'गोदः' यही प्रयोग बनता था, अब अण् प्रत्यय भी इसके विषय में होने लगेगा 'गोदायः' प्रयोग की अनिष्ट आपत्ति होगी । इस आक्षेप के निराकरण के लिए ज्ञापन का उपन्यास किया गया—**'नानुबन्धकृतमसारूप्यं भवति इति यदयं ददातिदधात्योर्विभाषेति विभाषां शास्ति** । भाव यह हुआ कि 'दा' धातु तथा 'धा' धातु से आदन्त होने के कारण 'श्याद्व्यधास्रुसंस्र्वतीणवसावहृलिहश्लिषश्वश्च' सूत्र से सामान्यतः ण प्रत्यय प्राप्त है । किन्तु 'ददातिदधात्योर्विभाषा' सूत्र अपवाद होकर 'दा' धातु 'धा' धातु से विकल्प से 'श' प्रत्यय का विधान करता है, ददः, दधः प्रयोग निष्पन्न होता है । 'श' प्रत्यय के अभाव पक्ष में ण प्रत्यय द्वारा दायः, धायः प्रयोग निष्पन्न होता है । यदि अनुबन्धकृत असारूप्य भी मान्य हो तो 'ददाति दधात्योर्विभाषा' सूत्र में विभाषा ग्रहण व्यर्थ ही है क्योंकि 'ण' तथा 'श' में अनुबन्धकृत असारूप्य से ही बाध्यबाधकभाव विकल्प से होगा दोनों तरह के प्रयोग सिद्ध ही हो जायेंगे । इस प्रकार 'ददातिदधात्योर्विभाषा' सूत्र के विभाषाग्रहण से यह ज्ञापित हो रहा है कि **नानुबन्धकृतमसारूप्यं भवति इति** ।

एकान्तत्व पक्ष में सर्वादेश को लेकर भी दोष हो सकता है, 'दिव औत्' सूत्र द्वारा 'दिव्' के स्थान में सुविभक्ति परे रहते औकार अन्तादेश होता है । यदि अनुबन्ध भी अवयव माना जाये तो दिव के स्थान में सानुबन्ध औत् अनेकाल् आदेश होकर "अनेकाल्शित्सर्वस्य" से सर्वादेश होने लगेगा, इस आक्षेप का निराकरण भी ज्ञापन द्वारा किया गया है **"नानुबन्धकृतमनेकाल्त्वं भवतीति यदयं शित्सर्वस्येत्याह"** अर्थात् अनेकाल् शित्सर्वस्य सूत्र में अनेकाल से पृथक् शिद् ग्रहण किया गया है । इससे ज्ञापित हो रहा है कि अनुबन्धकृत अनेकालत्व नहीं मान्य होता है । अन्यथा सानुबन्ध शित् आदेश भी अनेकाल् होने से "इदम् इश्" इत्यादि स्थल में सर्वादेश हो ही जाता, अनेकाल् से पृथक् शिद् ग्रहण व्यर्थ हो जायेगा । एकान्तत्व पक्ष में तीसरा भी आक्षेप संभव है कि "दाधाघ्वदाप्" सूत्र में 'दाप्' से पृथक् 'दैप्' का भी ग्रहण करना होगा अनेकान्तत्व पक्ष में 'दैप्' में पकार अवयव न होने के कारण **"एजन्तत्वेन आदेच उपदेशे शिति"** सूत्र से आकार आदेश द्वारा 'दैप्' भी 'दाप्'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से ग्रहीत हो जाता था। दाप् के निषेध से ही दैप् का भी निषेध हो सकता था। 'दाप्,दैप् को छोड़ कर 'दा' 'धा' रूप धातु की घु संज्ञा का विधान "दाधाघ्वदाप्" सूत्र द्वारा संपन्न होता था। किन्तु एकान्तत्व पक्ष में दैप् में पकार के रहते एजन्त न होने के कारण आकार आदेश प्राप्त नहीं होगा 'दाप् के ग्रहण से 'दैप्' का ग्रहण नहीं होगा। "दाधाघ्वदाप्" सूत्र में घु संज्ञा के निषेधार्थ दैप् का पृथग् ग्रहण भी आवश्यक होगा। इस आक्षेप के निराकरण के लिए भी ज्ञापन का आश्रयण लिया गया। **"नानुबन्धकृतमनेजन्तत्वं भवति, यदयमुदीचां माङोव्यतीहारे इति मेङः सानुबन्धकस्यात्वभूतस्य ग्रहणं करोति।** "मेङ् प्रणिदाने धातु नियमतः व्यतिहार वाची है। क्योंकि प्रणिदान का अर्थ व्यतिहाव ही है। इसी अर्थ में माङ् धातु से क्त्वा प्रत्यय का विधान "उदीचां माङो व्यतीहारे" सूत्र से किया गया है। इसी अर्थ में स्वभावतः प्रयुक्त 'माङ्' धातु में आकार आदेश के बिना मेङ् रूपता संभव नहीं है। फिर "उदीचां माङो व्यतीहारे" सूत्र में मेङ् का ही ग्रहण किया जाता है। यदि अनुबन्ध को लेकर अनेजन्तत्व मान्य होता तो 'माङ' के ग्रहण से 'मेङ' का ग्रहण संभव नहीं होता, "उदीचां माङो व्यतीहारे" में "माङ" निर्देश द्वारा 'मेङ्' का ग्रहण असंगत हो जाता, इससे यह ज्ञापित हो रहा है कि **नानुबन्धकृतमनेजन्तत्वम् भवति।**

ये तीनों ज्ञापन "परिभाषेन्दुशेखर" में नागेश भट्ट द्वारा शास्त्र संपादक परिभाषाओं के प्रकरण में उद्धृत कर व्याख्यात हैं।

विकरणेभ्यो नियमो बलीयान्।

"अनुदात्तङित आत्मनेपदम्"—सूत्र के विषय में भाष्य में तीन पक्ष उपस्थित किए गए हैं—१. नियम पक्ष २. विधि पक्ष ३. परिभाषात्व, नियम पक्ष का अभिप्राय यह है कि ल के स्थान में तिबादि अष्टादश आदेश सामान्यतः प्राप्त है, उनमें 'अनुदात्तङित आत्मनेपदम्' इत्यादि सूत्रों द्वारा नियम होता है कि अनुदात्तेत आदि धातुओं से 'ल' के स्थान में आत्मनेपद संज्ञक ही आदेश हो। परस्मैपद संज्ञक आदेश न हों। इस पक्ष में सामान्यतः विहित आदेश में इन सूत्रों से नियम मात्र होता है। विधि पक्ष में भी सभी अवान्तर वाक्य अन्वित होकर महा-वाक्य द्वारा अनुदात्तेत् आदि धातु से परे 'ल' के स्थान में आत्मनेपद संज्ञक 'तङादि' आदेश हों। इसी तरह 'अनुदात्तङित आत्मनेपदम्' इत्यादि सूत्र कार्यकाल पक्ष में परिभाषा के समान **'लस्य तिबादयो भवन्ति' इत्युपस्थितमिदं भवति—'अनुदात्तङित आत्मनेपदम्' शेषात्कर्तरिपरस्मैपदम् इति'** इस प्रकार एकवाक्यतापन्न होकर अनुदात्त ङित् आदि धातुओं से लादेश आत्मनेपद संज्ञक होंगे। शेष से लादेश परस्मैपद संज्ञक विहित होंगे। विधि तथा परिभाषात्व दोनों पक्षों में एक सामान्य दोष अन्योन्याश्रय है, क्यों कि 'ल' के स्थान में आदेश जब होंगे, तब आत्मनेपद संज्ञा होगी। जब आत्मनेपद संज्ञा हो जाये, तब उक्त एकवाक्ययावशात् अनुदात्तेत् आदि से आत्मने-पदसंज्ञक विहित होंगे यद्यपि इस अन्योन्याश्रय दोष का परिहार भावि संज्ञा स्वीकार कर के किया गया है 'भाविनी संज्ञा विज्ञास्यते' सूत्रशाटकवत्' न्याय से अनुदात्तेत् आदि धातु से परे 'ल' के स्थान में इस तरह के 'तिबादि' आदेश हों, जिनकी आत्मनेपद संज्ञा हो तथापि अन्यो न्याश्रय दोष की संभावना न हो इसलिए नियम पक्ष का उपपादन भाष्य में किया गया है—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'आत्मनेपदवचनं नियमार्थम्' इस पक्ष में 'ल' के स्थान में विहित तिबादि में अनुदात्त ङित आत्मनेपदम्' इत्यादि सूत्रों से नियम मात्र होता है कि अदात्तेत् आदि से आत्मनेपद ही हो, शेष से परस्मैपद ही हो। किन्तु इस पक्ष में भी यह दोष प्रसक्त हो सकता है कि लादेश के विहित होते ही 'शबादि' विकरण की प्राप्ति हो जायेगी, इनके द्वारा व्यवधान होने पर नियम की प्राप्ति संभव नहीं होगी। लादेश होने के बाद विकरण तथा नियम दोनों के प्राप्त होने पर **'परत्वात् नित्यत्वात् च'** विकरण ही प्राप्त होगा। विकरण लादेश से भिन्न स्थल 'चानश्' आदि प्रत्यय में सावकाश है, कृताकृत प्रसङ्गी होने से नित्य भी है, यदि यह कहा जाये कि नियम निरवकाश है, तो यह ठीक नहीं है, लिट् आशीर्लिङ् आदि में नियम भी सावकाश ही हैं दोनों सावकाश में 'एधते' इत्यादि प्रयोग के विषय में परत्वात् विकरण ही बलवान् होकर प्रथम प्रवृत्त होगा, उसके व्यवधान में नियम की प्राप्ति न ही होगी? इसी आक्षेप के निराकरण के लिए प्रकृत ज्ञापन का आश्रयण लिया गया है— **'नैष दोष.' आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति विकरणेभ्यो नियमो बलीयान् इति। यदयं विकरणविधावात्मनेपदपरस्मैपदान्याश्रयति' पुषादिद्युताद्यलृदितः परस्मैपदेषु' आत्मनेपदेष्वन्यतरस्यामिति।'** भाव यह है कि आत्मनेपद परे या परस्मैपद परे रहते एवं आत्मनेपद परे रहते ही विकल्प से जो विकरण विशेष का विधान किया जाता है इससे ज्ञापित हो रहा है कि नियम विकरणापेक्षयाबलवान है नियम की प्रवृत्ति विकरणापेक्षया पहले ही होगी। यदि यह कहा जाये कि आत्मनेपदादि की प्राप्ति मात्र को लेकर ही विकरण विशेष का विधान किया जाता है तो यह भाष्य दिग्दर्शनमात्र है। वास्तविक रूप से ज्ञापक 'वृद्भ्यः स्यसनोः' सूत्र द्वारा स्य सन् के विषय में परस्मैपद का विकल्प विधान हो सकता है। विकरण के व्यवधान में यदि नियम की अप्रवृत्ति मानी जाये तो सामान्यतः आत्मनेपद परस्मैपद दोनों ही प्रत्यय सामान्यशास्त्र से प्राप्त ही होगें। दोनों प्रत्यय युगपत् संभव न होने से विकल्प ही होंगे। विकल्प विधान व्यर्थ ही हो जायेगा। इससे यह स्पष्ट ज्ञापित होता है कि विकरण से नियम बलवान् है। 'वृद्भ्यः स्यसनोः' सूत्र में स्यसनोः में सप्तमी विषय सप्तमी ही है।

यह ज्ञापन परिभाषेन्दुशेखर में बाध बीज प्रकरण में भी व्याख्यात है।

६. सन्नन्तादात्मनेपदं भवति इति।

'पूर्ववत्सनः' सूत्र के मुख्य अभिधेय को लेकर भाष्य में प्रश्न किया गया है, 'किमर्थमिदुमुच्यते' इस सूत्र का विषय विधि भी हो सकता है। निषेध भी हो सकता है। इसी अभिप्राय से यह **प्रश्न उपस्थित हुआ**। उत्तर में **'शदिम्रियत्यर्थोऽयमारम्भः'** यह कहा गया है। इसका भाव यह हुआ कि—'शद्' धातु एवं 'मृ' धातु से सन् प्रत्यय करने पर शिशित्सति, मुमूर्षति प्रयोगों में आत्मनेपद की निवृत्ति के लिए 'पूर्ववत्सनः' सूत्र आवश्यक है, अन्यथा सन्नन्त 'शद्' धातु तथा मृ धातु से प्राप्त आत्मने पद का स्वतन्त्र रूप से निषेध विधान करना होगा। 'पूर्ववत्सनः' सूत्र यदि किया जाता है तो 'पूर्ववत्' में 'वति प्रत्यय का निर्देश होने के कारण सन्नन्त से पूर्ववत् आत्मनेपद के भाव अथवा अभाव किसी का पक्ष का समर्थन किया जा सकता है। जैसे— इस कन्या की कलाएं माता की तरह है। ऐसा कहने से कन्या में कलाओं का भाव भी समझा जा सकता है अभाव भी वैसे ही यहां भी सन्नन्त से पूर्ववत् आत्मनेपद का विधान करने से भाव या अभाव दोनों ही को प्रतीति संभव होगी। यहां हम

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अभाव पक्ष का ही समर्थन करेंगे। जैसे पूर्ववर्ती दो सूत्रों 'नानोर्ज्ञः', 'प्रत्याङ्भ्यां श्रुवः पूर्वस्य कर्ता' के विषय में सन्नन्त से आत्मनेपद न ही होता उसी तरह 'शद्' एवं 'मृ' धातु से सन् प्रत्यय करने पर आत्मने पद नहीं होगा। अतः सन्नन्त 'शद्' एवं 'मृ' धातु से आत्मनेपद की व्यावृति ही 'पूर्ववत्सनः' सूत्र का मुख्य लक्ष्य है, एतदर्थ ही यह सूत्र आवश्यक है। यदि इस सूत्र को स्वतन्त्र आत्मनेपद का विधायक माना जायेगा, तो 'शद्' 'मृ' धातु से 'सन्' प्रत्यय करने पर आत्मनेपद का निषेध विधान आवश्यक हो जायेगा। शद् एवं मृ धातु से सन् प्रत्यय करने पर आत्मनेपद की व्यावृत्ति ही यदि 'पूर्ववत्सनः' सूत्र का मुख्य विषय है तो 'आसिसिषते', 'शिशयिषते' प्रयोगों में **'आस् उपवेशने' 'शङ् स्वप्ने'** धातु से सन्नन्त होने पर आत्मने पद का विधान कैसे सिद्ध होगा? इस प्रश्न के उत्तर में प्रकृत ज्ञापन का आश्रयण किया गया है— **'विधिश्च प्रक्लृप्तः।' कथम्? एतदेव ज्ञापयति—सन्नन्तादात्मनेपदं भवति,** इति। **यदयं शदिमृयतिभ्यां सन्नन्ताभ्यामात्मनेपदस्य प्रतिषेधं शास्ति।** 'अर्थात् 'पूर्ववत्सनः' सूत्र से सन्नन्त 'शद् तथा 'मृ' धातु से आत्मनेपद की व्यावृति के विधान से ही यह ज्ञापित होता है कि अन्यत्र सन्नन्त से पूर्ववत् आत्मनेपद होता है। इस तरह 'पूर्ववत्सनः' सूत्र में निषेध पक्ष स्वीकार करने में कोई बाधा नहीं है।

यदि 'ज्ञाश्रुस्मृदृशांसनः', 'नानोर्ज्ञः' सूत्र से **'सनः' 'न'** इन दो पदों की अनुवृत्ति 'शदेः शितः' 'म्रियतेर्लुङ्लिङोश्च' इन सूत्रों में करके 'शद्' धातु एवं मृ धातु सन्नन्त से आत्मनेपद का निषेध कर दिया जाय तो 'पूर्ववत्सनः' सूत्र में विधि पक्ष भी निर्दोष हो सकता है।

वस्तुतः विधि पक्ष में कोई दोष संभव नहीं है क्योंकि यदि 'शद्' 'मृ' धातु स्वतन्त्र आत्मनेपद के निमित्त होते तो 'पूर्ववत्सनः' सूत्र से सन्नन्त होने पर इनसे आत्मनेपद की प्राप्ति होती, किन्तु शद् धातु से आत्मनेपद की निमित्तता में शित्व भी निविष्ट है। मृ धातु से आत्मनेपद की निमित्तता में लुङ्, लिङ् विषयत्व भी निविष्ट है। अतः सन् परे रहते शद् एवं मृ धातु में आत्मनेपद-निमित्तता संभव न होने के कारण सन्नन्त से आत्मनेपद की प्राप्ति ही नहीं है। निषेध पक्ष की कल्पना केवल बुद्धिकौशल-मात्र ही है। विधिपक्ष ही सर्वथा निर्बाध है। प्रकृतज्ञापन केवल निषेध-पक्ष के समर्थनार्थ प्रासंगिक ही है।

१०. भवत्येवं जातीयकानामात्मनेपदम् इति।

'णेरणौ यत्कर्म णौ चेत्सकर्तानाध्याने' सूत्र के भाष्य में यह ज्ञापन स्पष्ट किया गया है। इस सूत्र की व्याख्या भाष्यकार ने सिद्धान्ततः इस प्रकार की है — **अण्यन्तावस्था के कर्म से अतिरिक्त कर्म के अभाव में यदि अण्यन्तावस्था का कर्मण्यन्तावस्था में कर्तृभाव को प्राप्त हो, तो ण्यन्त से आत्मनेपद संज्ञक प्रत्यय होता है। उदाहरण— 'आरोहन्ति हस्तिनं हस्तिपकाः'**, इस वाक्य में आरोह धातु का अर्थ न्यग्भवनानुकूल व्यापार का आश्रय हस्तिपक कर्ता है। जब हस्तिपक निष्ठ व्यापार की विवक्षा सौकर्यवशात् न की जाय तो केवल न्यग्भवन मात्र धात्वर्थ को लेकर हस्ती ही धात्वर्थ व्यापार का आश्रय होने पर कतृभाव को प्राप्त हो जायेगा। ऐसी अवस्था में 'हस्ती आरोहति' यह प्रयोग होगा। पुनः न्यग्भवन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में प्रयोजक व्यापार की विवक्षा होने पर 'हेतुमति' सूत्र से णिच् प्रत्यय द्वारा 'आरोहयन्ति हस्तिनं हस्तिपकाः' ? ऐसा प्रयोग होगा । इस अवस्था में पुनः यदि प्रयोजक व्यापार की अविवक्षा की जाय तो वही अण्यन्तावस्था का कर्म हस्ती ण्यन्तावस्था में कर्तृभाव को प्राप्त हो गया, इसी विवक्षा में ण्यन्त आरोहि+धातु से आत्मनेपदसंज्ञक ही प्रत्यय होगा, इस तरह 'आरोहयते हस्ती' इन सूत्र का उदाहरण संपन्न हुआ ।

इस तरह के प्रयोगों में आत्मनेपद के विधानार्थ इस सूत्र की आवश्यकता पर यह आक्षेप भाष्य में ही किया गया है कि ऐसे प्रयोगों में आत्मनेपद की सिद्धि 'कर्मवत्कर्मणातुल्यक्रियः कर्ता' सूत्र से कर्मवद्भाव द्वारा भी हो सकती है जैसे 'लुनाति केदारं देवदत्त.' इस वाक्य में द्विधाभवनानुकूल व्यापार ही लू–धात्वर्थ है, उसमें व्यापार की अविवक्षा कर द्विधाभवनमात्र धात्वर्थ की विवक्षा में केदार ही कर्तृभाव को प्राप्त हो गया, पुनः प्रयोजक व्यापार की विवक्षा में 'लावयति केदारं देवदत्तः' यह वाक्य भी लुनाति केदारं देवदत्तः के समानार्थक ही हुआ । इस अवस्था में सौकर्य की विवक्षा में पुनः देवदत्त के व्यापार की अविवक्षा होने पर कर्ता केदार के कर्मस्थक्रियातुल्य क्रियात्वेन कर्मवद्भाव द्वारा 'लावयते केदारः स्वयमेव' यह वाक्य निष्पन्न होता है, उसी तरह 'आरोहयते हस्ती स्वयमेव' वाक्य में भी कर्मवद्भाव द्वारा ही आत्मनेपद का प्रयोग संभव था । यह सूत्र अनावश्यक ही है । यदि कर्मवद्भाव द्वारा आत्मनेपद का विधान किया जायेगा तो यक्, चिण् की भी प्राप्ति भी होने लगेगी । 'लावयते केदारः', 'आरोहयते हस्ती' प्रयोग ही नहीं सिद्ध होंगे । अतः यक्, चिण् के विना भी आत्मनेपद के विधान के लिए इस सूत्र की आवश्यकता स्वीकार की जाय तो यह भी कहना ठीक नहीं होगा क्योंकि **'यक्चिणोः प्रतिषेधे णिश्रन्थिग्रन्थिब्रूमात्मनेपदाकर्मकाणामुपसंख्यानम्'** वार्तिक द्वारा ही यक् चिण् का निषेध हो जायेगा । केवल आत्मनेपद मात्र कर्मवद्भाव द्वारा सिद्ध ही है । इस सूत्र की कोई आवश्यकता नहीं है । 'यदि स्मरयति वनगुल्मः स्वयमेव' में आत्मनेपद के प्रतिषेधार्थ 'अनाध्याने' इस अंश के संबन्ध के लिए यह सूत्र आवश्यक है तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि कर्मस्थक्रिय तथा कर्मस्थभावक धातु के स्थल में ही कर्मवद्भाव की प्राप्ति स्वीकार की गई है । स्मृ धातु कर्तृस्थ भावक है अतः यहां कर्मवद्भाव द्वारा आत्मनेपद की प्राप्ति ही संभव नहीं है । यह सूत्र अनावश्यक ही है । इसी आक्षेप के निराकरणार्थ प्रकृत ज्ञापन का आश्रयण लिया गया है । एवं तर्हि **सिद्धे सति "यदाध्याने इति प्रतिषेधं शास्ति तज्ज्ञापयत्याचार्यः- भवत्येवं** जातीयकानामात्मनेपदम् इति" । अर्थात् जिस धातु का जो कर्म हो वही कर्म यदि हेतुमण्ण्यन्तावस्था में कर्तृभाव को प्राप्त हो तो उस तरह के कर्तृस्थ क्रिय कर्तृस्थभावक धातु से भी ण्यन्तावस्था में आत्मनेपद होता है । इस तरह यह सूत्र कर्मवद्भाव के अप्राप्तिस्थल में आत्मनेपद के विधानार्थ आवश्यक ही है 'आरोहयते हस्ती' इत्यादि प्रयोगों में भी इसी सूत्र से आत्मनेपद सिद्ध होता है आरूह धातु में भी कर्तृस्थक्रिय होने कारण कर्मवद्भाव की प्राप्ति संभव नहीं इसी तरह "दर्शयते भवः" इत्यादि प्रयोगो में आत्मने पद की सिद्धि इसी सूत्र द्वारा संभव है । अतः यह सूत्र आवश्यक ही है । यह भाष्य में स्पष्ट है ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

११. न परस्मैपदविषये आत्मनेपदं भवति

'अनुपराभ्यां कृञः' सूत्र में अनु-परा पूर्वक कृ धातु से परस्मैपद विधान की स्वरितेत् ञित्धातु से कर्तृगामी क्रियाफल की विवक्षा में प्राप्त आत्मनेपद के प्रतिषेधार्थ यह सूत्र यदि आवश्यक है तो यहां आत्मनेपद का निषेध भी करना चाहिए। क्योंकि 'अनुपराभ्यां कृञः' सूत्र से परस्मैपद का विधान किया है, न कि आत्मनेपद की व्यावृति भी की गई है, इसी आक्षेप के निराकरण के लिए यह प्रकृत ज्ञापन स्वीकार किया गया है **'यदयं द्युतादिभ्यो** वा वचनं करोति तज्ज्ञापयत्याचार्यो न **परस्मैपदविषये आत्मनेपदं भवतीति'** अर्थात् 'द्युद्भयो लुङि' सूत्र द्वारा द्युतादि धातु से परे लुङ् के स्थान में विकल्प से परस्मैपद का विधान किया गया है इससे यह ज्ञापित हो रहा है कि परस्मैपद के विषय में आत्मनेपद नहीं होता है। अन्यथा परस्मैपद विधान होने पर भी अनुदात्तेत् होने से आत्मनेपद भी होगा ही, विकल्प से पर' स्मैपद का विधान व्यर्थ ही हो जाता।

वस्तुतः स्वरितेत् ञित् धातु से कर्तृगामी क्रियाफल की विवक्षा में जैसे आत्मनेपद द्वारा परस्मैपद बाधित होने के कारण प्रवृत्त नहीं होता है, उसी तरह अनु-परा पूर्वक कृ धातु से परस्मैपद द्वारा आत्मनेपद भी बाधित होने से प्रवृत्त नहीं ही होगा। इस ज्ञापन के विना भी यहां निर्वाह संभव है। ज्ञापन केवल एकदेशी ही है। यह प्रकृत सूत्र के भाष्य में स्पष्ट है।

१२. न कर्मसंज्ञायां कर्तृज्ञा भवति।

'आकडारादेका संज्ञा' सूत्र के भाष्य में प्रकृत ज्ञापन को स्पष्ट किया गया है। 'आकडारादेका संज्ञा' सूत्र के विषय में **'कथं त्वेतत्सूत्रं पठितव्यम, किमाकडामादेका संज्ञेति, आहोस्वित् 'प्राक्कडारात्परं कार्यम, इति ?** दो प्रकार से आचार्य ने शिष्यों के प्रति सूत्र का प्रतिपादन किया है। इन दोनों पक्षों में विशेषता यह होगी कि यदि 'आकडारादेका संज्ञा' यह सूत्र स्वीकार किया जायेगा तो अनेक संज्ञाओं की प्रसक्ति होने पर उनमें एक ही संज्ञा के विधानार्थ यह सूत्र नियमार्थ होगा। इस पक्ष में किसी आवश्यक स्थल में संज्ञाओं के समावेशार्थ प्रयत्न विशेष आवश्यक होगा। यदि 'प्राक्कडारातपरं कार्यम्' यह सूत्र किया जायेगा तो जहां पर संज्ञा का पूर्व संज्ञा से बाध प्राप्त होगा, वहां पर संज्ञा भी इस सूत्र से की जा सकती है, अतः इस पक्ष में यह सूत्र विध्यर्थ होगा। इन दोनों पक्षों में गुण-दोष विचारार्थ अनेक प्रसंगों का उद्धरण किया गया है, किन्तु इन प्रसंगों में तुल्यता का निरूपण करते हुए दोनों पक्षों में दोषोद्धार का प्रयत्न किया गया है। उन्हीं प्रसंगों में वार्तिक द्वारा एक प्रसंग यह उठाया गया है— **'गतिबुद्ध्यादीयां ण्यन्तानां कर्म कर्तृसंज्ञम्'** अर्थात् 'प्राक्कडारातपरं कार्यम्' इस परकार्यत्व पक्ष में 'गतिबुद्धिप्रत्यवसानार्थ शब्दकर्माकर्मकाणामणि कर्ता स णौ' सूत्र द्वारा विहित गत्याद्यर्थक ण्यन्त धातु के प्रति कर्म संज्ञा के साथ कर्तृ संज्ञा का भी समावेश होने लगेगा। कर्मसंज्ञाविधायक सूत्रारम्भ सामर्थ्यात् कर्मसंज्ञा प्राप्त है। वहां ही पर कार्यत्वेन, कर्तृसंज्ञा भी प्राप्त होगी। किन्तु एक संज्ञाधिकार में समावेश संभव नहीं होगा। यद्यपि प्रयोज्य व्यापार के प्रति स्वातन्त्र्येण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रयोज्य में कर्तृत्व ही प्राप्त है तथापि प्रयोजन व्यापार प्रत्ययार्थत्वेन प्रधान है, उसके प्रति प्रयोज्य में कर्मसंज्ञा की भी प्राप्ति है, प्राधान्यात् प्रयोजक व्यापार निरूपित कर्मसंज्ञा ही यहां उचित होगी. इस तरह प्रयोज्य कर्ता में कर्मसंज्ञा की सिद्धि होने पर भी जो 'गतिबुद्धि० आदि सूत्र का आरम्भ किया गया, वह नियमार्थ होकर गत्यादि धातु के प्रयोग में ही प्रयोज्यकर्ता की कर्मसंज्ञा का नियम करता है। अतएव 'पाचयेत्योदनं देवदत्तेन यज्ञदत्त:' इत्यादि प्रयोगों में प्रयोजक व्यापार को लेकर प्रयोज्य में कर्मसंज्ञा नहीं होती है, परन्तु 'प्राक्कडारात्परं कार्यम्' इस पक्ष में पच्यादि धातुस्थल में गत्यादि नियम के बल से प्रयोज्य में कर्मसंज्ञा की व्यावृत्ति होने पर भी गत्यार्थक धातु के प्रयोग में प्रयोजक व्यापार के प्रति प्रयोज्य में 'कर्तुरीप्सिततमंकर्म', 'सूत्रके अण्यन्तधातु व्यापार को लेकर स्वातन्त्र्येण कर्तृ संज्ञा भी प्राप्त होगी। अत: यहां संज्ञाद्वय का समावेश परकार्यत्व पक्ष में अपरिहार्य ही होगा। जो एकासंज्ञा पक्ष में संभव नहीं था। इस वैषम्य के निवारण के लिए यहां भाष्य में प्रकृत ज्ञापन का आश्रयण किया गया है **'नैषदोष:' आचार्यवृत्तिर्ज्ञापयति— 'नकर्मसंज्ञायां कर्तृसंज्ञा भवति इति', यदयं हृक्रोरन्यतर याम्' इत्यन्यतरस्यां ग्रहणं करोति।** भाव यह है कि यदि गत्याद्यर्थक धातु के प्रयोज्य कर्ता में कर्म-कर्तृ दो संज्ञाएं समाविष्ट होकर प्रवृत्त हों तो 'गतिबुद्धि' सूत्र में हीं हृ, कृ धातुओं को भी पढ़ दिया गया होता, 'अन्यतरस्याम् 'ग्रहण से युक्त पृथक् किया गया 'हृकोरन्यतरस्याम्' सूत्र व्यर्थ होकर यह ज्ञापित कर रहा है कि-- कर्मसंज्ञा में कर्तृ संज्ञा नहीं होती है। अर्थात् कर्मसंज्ञा का समावेश नहीं होता है। इस तरह इस ज्ञापन के आश्रयण द्वारा 'गतिबुद्धि०' सूत्र के विषय में दोनों पक्षों के फलभेद का निराकरण किया गया है। उत्तर भाष्य में एकसंज्ञाधिकार पक्ष का समर्थन करते हुए इस पक्ष के समस्त आक्षेपों का समाधान कर दिया गया है जो कि प्रकृत सूत्र के भाष्य में स्पष्ट है।

१३. असिद्धं बहिरंगमन्तरङ्ग।

'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' सूत्र के भाष्य में परशास्त्र की अपेक्षा भी अन्तरंग शास्त्र के बलवत्व का निरूपण अनेक उदाहरणों में किया गया है। इस तरह यह सिद्ध किया गया है कि अन्तरङ्ग-बहिरङ्गयोर्युगपत्प्राप्तौ' बहिरङ्गादंतरङ्गस्य बलीयस्त्वमिति' अर्थात् अन्तरङ्ग बहिरङ्ग दोनों शास्त्रों की किसी लक्ष्य में युगपत् प्राप्ति होने पर बहिरङ्गपेक्षया अन्तरङ्गशास्त्र बलवान् होता है। संक्षेप में जैसे 'स्योन:' प्रयोग में सिव् धातु से औणादिक न प्रत्यय में सिव्+न इस अवस्था में 'पुगन्तलघूपधस्य च' सूत्र से गुण तथा 'च्छ्वो: शूङनुनासिके च' सूत्र से ऊठ दोनों की प्राप्ति होने पर भी नित्यत्वात् ऊठ् की प्रवृत्ति हुई। सिऊ+न इस स्थिति में पुन:' पुगन्तघूपधस्य च' सूत्र से 'सि' में उकार को गुण तथा ऊ परकत्वेन इकोयणऽचि से यण् भी प्राप्त हुआ। दोनों में पर भी गुणशास्त्र की अपेक्षा अन्तर्भूत निमित्तकत्वेन अन्तरङ्ग यण् की ही बलवत्ता स्वीकार कर यणादेश ही हुआ। तदनन्तर गुण किया गया 'स्योन:' प्रयोग की सिद्धि हुई। इसी तरह अनेक उदाहरणों में यह स्पष्ट किया गया है कि बहिरङ्गापेक्षया अन्तरङ्ग की बलवत्ता के विधानार्थ 'बहिरङ्गादंतरङ्गं बलवत्' यह परिभाषा करनी ही चाहिए। आगे इस परिभाषा की कर्तव्यता स्वीकार करते हुए एक दूसरी परिभाषा की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कर्तव्यता का भी अनुरोध भाष्य में किया गया है— ननुचेयमपि कर्तव्या असिद्धं बहिरङ्गलक्षणमन्तरङ्गलक्षणे' इति। किं प्रयोजनम् ? 'पचावेदम्, 'पचामेदम्'। भाव यह है कि पचाव+इदम् पचाम+इदम् प्रयोगों में पच् धातु से लोडुत्तम द्विवचनान्त-बहुवचनान्त रूपों के इदम् शब्द के साथ सन्धि प्रयोग में 'आद्‌गुणः' सूत्र से गुण हो जाने के बाद 'पचावेदम्, 'पचामेदम्' इस अवस्था में 'अन्तादिवच्च' सूत्र से पूर्वान्तवद्‌भावेन' गुण-कृत एकार को लोडुत्तम संबन्धी मानकर उसके स्थान में 'एत ऐ' सूत्र से ऐ आदेश की प्रसक्ति हो रही है। इसकी व्यावृत्ति के लिए **'असिद्धं बहिरंगलक्षणमन्तरङ्‌गलक्षणे'** यह परिभाषा भी आवश्यक है ताकि यहाँ बहिरङ्‌गलक्षण गुण के असिद्ध हो जाने के कारण अन्तरङ्‌गलक्षण 'एत ऐ' सूत्र की प्रवृत्ति न हो सके। यहां 'बहिरङ्‌ादन्तरङ्‌गं बलवत्' परिभाषा से निर्वाह संभव नहीं है क्योंकि बहिरङ्‌ग लक्षण गुण के प्रवृत्त होने के बाद ही अन्तरङ्‌ग लक्षण 'ऐ' आदेश प्रसक्त हो रहा है। इस तरह दोनों परिभाषाओं की कर्तव्यता प्राप्त होने पर— भाष्य में यह विचार किया गया कि 'उभेतर्हि कर्तव्ये ? नेत्याह अनयैव सिद्धम्' दोनों परिभाषाएं पृथक्-पृथक् कर्तव्य नहीं है। इसी **असिद्धं बहिरङ्‌गलक्षणमन्तरङ्‌गलक्षणे'** एक ही परिभाषा से 'स्योनः' आदि पूर्वोक्त स्थलों में भी निर्वाह हो सकता है। शास्त्रासिद्धत्व पक्ष का आश्रयण कर अन्तरङ्‌ग यणशास्त्र की दृष्टि में बहिरङ्‌ग गुण शास्त्र के असिद्ध हो जाने से ही उक्त 'स्योनः' प्रयोग में प्रथम यण् प्राप्त होगा। इसके लिए पृथक परिभाषान्तर आवश्यक नहीं है। व्यापक विषयक होने से इसी एक परिभाषा से निर्वाह हो जायेगा। इस तरह एक ही परिभाषा की आवश्यकता स्वीकार करते हुए पुनः भाष्य में यह प्रश्न किया गया कि क्या यह परिभाषा वचन रूप से पढ़ी जानी चाहिए ? इसी प्रश्न के समाधान में आगे कहा गया है कि— एषा च न कर्तव्या, आचार्य प्रवृत्तिर्ज्ञापयति भवत्येषा परिभाषेति, यदयं 'वाह ऊठ' इत्यूठं शास्ति'। भाव यह है कि 'विश्वौहः' प्रयोग में विश्व उपपद रहते हुए वह् धातु से 'वहश्च' सूत्र द्वारा ण्वि प्रत्यय करने पर 'विश्ववाह्' शब्द से शस् विभक्ति में विश्ववाह्+अस् इस अवस्था में 'वाह' मात्र सूत्र से संप्रसारण कर देने पर विश्व उह्+अस् की स्थिति में आर्धधातुकसंज्ञक 'ण्वि प्रत्यय' का आश्रयण कर लघूपध गुण हो जाने पर विश्व—ओह् अस् में वृद्धिरेचि से ही वृद्धि करके 'विश्वौहः' प्रयोग निष्पन्न हो जायेगा यहां 'एत्येधत्यूठ्सु' सूत्र से वृद्धि के विधान के लिए जो 'वाह ऊठ्' सूत्र 'ऊठ्' घटित किया गया, वह अनावश्यक ही था। यही उठ् ग्रहण व्यर्थ होकत ज्ञापित कर रहा है कि पूर्वोक्त परिभाषा है ही। इसको अपूर्व वचन स्वीकार करना उचित नहीं है। इसी भाष्य के प्रामाण्य से 'वहश्च' सूत्र द्वारा ण्वि प्रत्यय अकारान्त उपपद के रहने पर ही होता है। अनकारान्त उपपद में वह धातु से ण्वि प्रत्यय का प्रयोग अनभिहित ही है ऐसा प्रकृत सूत्र के कैयट में स्पष्ट है। यह परिभाषा विस्तारपूर्वक नागेश भट्ट ने भी परिभाषेन्दुशेखर में निरूपित किया है।

१४. नाजानन्तर्ये बहिष्ट्वप्रक्लृप्तिः

'विप्रतिषेधे परंकार्यम्' सूत्र में 'असिद्धं बहिरङ्‌गालक्षणमन्तरङ्‌गलक्षणे' इस परिभाषा की आवश्यकता का निरूपण करने के बाद आशङ्‌का की गई है कि यदि अन्तरङ्‌ग शास्त्र की कर्तव्यता में जात तथा तत्काल प्राप्त बहिरङ्‌ग असिद्ध होता है तो 'अक्षद्यूः' आदि प्रयोग

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निष्पन्न नहीं होंगे । क्योंकि अक्ष शब्द के उपपद रहते 'दिव्' धातु से 'क्विप् च्' सूत्र से 'क्विप्' प्रत्यय में अक्ष+दिव् की स्थिति में वकार के स्थान में 'च्छ्वोः शूडनुनासिके च' सूत्र से क्विप् निमित्तक 'ऊठ' आदेश होने पर अक्ष+दि+ऊ में बहिरङ्गलक्षण ऊठ् के असिद्ध होने के कारण अन्तरङ्ग लक्षण यण् की प्राप्ति ही नहीं होगी । इसी तरह 'हिरण्यद्यूः' यह प्रयोग भी सिद्ध नहीं होगा । इस आशङ्का के परिहारार्थ 'असिद्धं बहिरङ्गलक्षणमन्तरङ्गलक्षणे' इस परिभाषा का अपवाद यह दूसरी परिभाषा स्वीकार की गई है 'नाजानन्तर्ये बहिष्ट्वप्रक्लृप्तिः' अन्य के आनन्तर्य का आश्रयण कर अच् संबन्धी अन्तरङ्गलक्षण कार्य की कर्तव्यता में जात बहिरङ्ग की असिद्धि नहीं होती है । यही इस परिभाषा का अर्थ है जात बहिरङ्गासिद्धि का ही निषेध इस परिभाषा द्वारा होता है । अतएव 'धियति' इत्यादि प्रयोगों में 'धि' धातु से लडा देश-तिप् तथा 'तुदादिभ्य शः' सूत्र से 'श' प्रत्यय होने के बाद धि+अ+ति इस अवस्था में 'ति' को निमित्त मान कर 'पुगन्तलघूपधस्य च' 'सूत्र से 'धि' के इकार के स्थान में गुण प्राप्त हुआ, एवं 'अ' प्रत्यय को निमित्त मान कर 'इयङ्' आदेश भी प्राप्त हुआ । दोनों में बहिरङ्ग गुण के असिद्ध हो जाने के कारण अन्तरङ्ग 'इयङ्' आदेश हो गया । यहां इह परिभाषा द्वारा बहिरङ्गासिद्धि का निषेध नहीं हुआ । क्यों यह बहिरङ्ग समकाल प्राप्त है । जात नहीं है । इसी तरह 'पचावेदम्' प्रयोग में अन्तरङ्ग 'एत ऐ' से 'ऐ' आदेश की कर्तव्यता में जात बहिरङ्ग भी गुणादेश की असिद्धि का निषेध भी इस परिभाषा में नहीं हुआ । क्यों कि 'एत ऐ' सूत्र से होने वाला 'ऐ' आदेश अन्य के आनन्तर्य का आश्रयण कर प्रवृत्त नहीं है । इस तरह इस परिभाषा का उपर्युक्त अर्थ ही न्यायसंगत है । यह परिभाषा भी उपर्युक्त 'अक्षद्यूः' आदि प्रयोगों की सिद्धि के लिए आवश्यक है । ऐसी स्थिति में यह विचार किया गया कि क्या यह परिभाषा स्वतन्त्र वचन रूप से पढ़ी जानी चाहिए ? इसके समाधान में भाष्य में कहा गया है कि **'न कर्तव्या' आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति—भवत्येषा परिभाषेति,** यदयं 'षत्वतुकोरसिद्धः इत्याह' । भाव यह है कि 'षत्वतुकोरसिद्धः' सूत्र द्वारा 'तुक्' की कर्तव्यता में जो एकादेश शास्त्र की असिद्धि का विधान किया गया है, यही ज्ञापित कर रहा है कि 'नाजानन्तर्ये बहिष्ट्वप्रक्लृप्तिः' यह परिभाषा है । अन्यथा 'अधीत्य', 'प्रेत्य' इत्यादि प्रयोगों में अधि पूर्वक इण् धातु से प्रपूर्वकइण् धातु से क्त्वा में अधि इत्वा प्र+इत्वा इस अवस्था में समास होने के अनन्तर 'ल्यप्' प्रत्यय की प्रवृत्ति होने से तथा समास में संहिता के नित्य होने से अधि+इ में दीर्घकादेश प्र+इ में गुणैकादेश हो जाने के बाद अन्तरङ्ग तुक् की कर्तव्यता में पदद्वय संबन्धिवर्णद्वयोपेक्षत्वेन बहिरङ्ग दीर्घ असिद्ध हो ही जायेगा । 'षत्व तुकोरसिद्धः' सूत्र में तुग् ग्रहण सर्वथा व्यर्थ ही है । अतः यही तुग् ग्रहण इस परिभाषा का ज्ञापक है । स्वतन्त्र वचन रूप से इसका पाठ आवश्यक नहीं ही है । यह परिभाषा भी परिभाषेन्दुशेखर में नागेश भट्ट द्वारा विस्तारपूर्वक व्याख्यात है । 'षत्वतुकोरसिद्धः' सूत्र में षत्व ग्रहण को भी ज्ञापकत्वेन कैयट ने उपन्यस्त किया है । यह ठीक नहीं है-- क्यों कि 'कोऽसिचत्' प्रयोग में 'को' में 'ओ' से परे 'सिचत्' के सकार में षत्व की प्रसक्ति रोकने के लिए एकादेश शास्त्र की असिद्धि की गई है ताकि अकार का व्यवधान होने से षत्व की प्राप्ति न हो । को+सिचत् में प्राप्त षत्व विधायक 'आदेश प्रत्यययोः' शास्त्र भी पदद्वय संबन्धि वर्णद्वयापेक्षत्वेन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बहिरङ्ग ही है । यहां 'असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे' परिभाषा द्वारा एकादेश की असिद्धि संभव ही नहीं है अतः इस प्रयोग में षत्व की व्यावृत्ति के सूत्र में षत्व ग्रहण आवश्यक ही है । इसकी ज्ञापकता कथमपि संभव नहीं है ।

१५. पूर्वोत्तरपदयोस्तावत्कार्यं भवति नैकादेश, इति ।

'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' सूत्र के भाष्य में असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे' परिभाषा एवं तदपवादभूत 'नाजानन्तर्ये बहिष्ट्वप्रक्लृप्तिः' परिभाषा के निरूपण के अनन्तर 'असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे' परिभाषा में कतिपय दोषों की आशंका की गई है । उन्हीं दोषों में एक दोष यह दिखाया गया है—'तस्यैतस्य लक्षणस्य दोषः पूर्वोत्तरपदयोर्वृद्धिस्वरावेकादेशादन्तरङ्गतोऽभिनिर्वृत्तान्न प्राप्नुतः 'पूर्वैषुकामशमः' । 'अपरैषुकाशमः' । गुडौदकम्, तिलौदकम्' भाव यह हुआ कि 'पूर्वैषुकामशमः' आदि प्रयोगों में 'पूर्वा चासौ इषुकामशमी च' इस विग्रह में 'दिक्संख्येसंज्ञायाम्' से समास के बाद उससे भव अर्थ में 'तत्र भवः' सूत्र से अण् प्रत्यय करके पूर्व+इषु का मशमी+अ इस स्थिति में यदि पूर्व+इषु कामशमी में अन्तरङ्गत्वाद् गुण एकादश किया जाये तो पूर्व एवं उत्तर पदों के विभाग के अभाव में 'प्राचां ग्रामनगराणाम्' सूत्र से उत्तर पद के आद्यच् को वृद्धि नहीं प्राप्त होगी । उक्त प्रयोगों की सिद्धि नहीं होगी । इन्हीं प्रयोगों में 'उत्तरपदवद्धौ सर्वं च' सूत्र द्वारा दिग्वाची पूर्वपद का अन्तोदात्त भी पूर्वोत्तर पद में विभाग, न होने के कारण संभव नहीं होगा । इसी प्रकार गुडोदकम्, तिलोदकम् प्रयोगों में गुडेन मिश्रं गुडमिश्र । गुडमिश्रं च तदुदकम्, गुडोदकम् आदि प्रयोगों में 'उदके केवले' सूत्र से पूर्व पद का अन्तोदात्त भी नहीं है । क्यों कि गुड+उदक इस अवस्था में अन्तरङ्ग एकादेश के निष्पन्न हो जाने पर पूर्वोत्तर पद का विभाग ही विलुप्त हो जायेगा । इस तरह 'असिद्धं वहिरङ्गमन्तरङ्गे' परिभाषा स्वीकार करने में उक्त प्रयोगों में उत्तर पद वृद्धि तथा इष्ट स्वर की सिद्धि न होना दोष प्रसक्त हो रहा है । इसी दोष के परिहारार्थ उक्त ज्ञापन का आश्रयण किया गया है नैष दोषः । **आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति— पूर्वोत्तरपदयोस्तावत् कार्यं भवति, नैकादेश इति यदयं नेन्द्रस्य पदस्येति प्रतिषेधं शास्ति ।** भाव यह है कि देवतावाची शब्दों के द्वन्द्व में उत्तरपद के 'आतच्' की वृद्धि का विधान' देवता द्वन्द्वे च' सूत्र द्वारा किया जाता है, उसका निषेध—'नेन्द्रस्य परस्य' सूत्र द्वारा होता है । 'सौमेन्द्रः', 'आग्नेन्द्रः' इत्यादि प्रयोगों में सोमेन्द्रौ **देवता अस्य, अग्नेन्द्रौ देवता अस्य** इस विग्रह में द्वन्द्वोत्तर 'सोस्य देवता' सूत्र से अण् प्रत्यय होने पर सोमा+इन्द्र+अ, इस अवस्था में 'यस्येति च' सूत्र से अकार लोप होने के बाद यदि अन्तरङ्गत्वाद् पूर्वोत्तर पद के वर्णो के स्थान में गुण एकादेश किया जाये ता पूर्वोत्तर पद के विभाग के अभाव में 'देवता द्वन्द्वे च' सूत्र से उत्तर पद वृद्धि की प्राप्ति ही नहीं होगी । 'नेन्द्रस्य परस्य' सूत्र द्वारा निषेध करना व्यर्थ ही हो जायेगा । 'इन्द्र' शब्द में केवल दो ही अच् हैं । एक का 'यस्येति च' सूत्र से लोप हो चुका है । यदि दूसरे के स्थान में पूर्वपदस्थ वर्ण के साथ एकादेश हो गया तो वृद्धि की प्रसक्ति ही नहीं हो सकता है, यद्यपि 'अन्तादिवच्च' सूत्र द्वारा परादिवद्भावेन एकादेश गुण–विशिष्ट में उत्तरपदत्व आ सकता है तथापि एकादेश में उत्तरपदाद्यच्त्व नहीं आ सकता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। क्यों कि 'ताद्रूप्यानतिदेशात्' से निषिद्ध हो जायेगा । इस तरह 'नेन्द्रस्य परस्य' सूत्र व्यर्थ होकर ज्ञापित कर रहा है कि पूर्वोत्तर पद संबन्धी कार्य ही प्रथम होते हैं । अन्तरङ्ग भी एकादेश प्रथमतः नहीं हो सकता है। यह ज्ञापन स्वीकार करने पर ही 'नेन्द्रस्य परस्य' सूत्र सार्थक होगा। इस ज्ञापन का परिभाषेन्दुशेखर में भी **'पूर्वोत्तरपदनिमित्तकार्यात् पूर्वमन्तरङ्गोप्येकादेशो न'** इस रूप में नागेश भट्ट ने व्याख्यान किया है ।

१६. तदेकदेशभूतं तद्ग्रहणेन गृह्यते ।

'यस्मात्प्रत्ययविधिस्तदादिप्रत्ययेऽङ्गम्' सूत्र के भाष्य में तदादिग्रहण के प्रयोजन के विचार के प्रसंग में वार्तिककार ने 'मित्सुटोरुपसंख्यानम्' वार्तिक द्वारा मित् से युक्त एवं सुट् से युक्त की भी अङ्ग संज्ञा के उपसंख्यान का आक्षेप किया है । मित् से युक्त की अङ्ग संज्ञा के फल में 'अभिनत', अच्छिनत्' प्रयोग दिये गये हैं। यहां 'भिद् धातु से लङ् लकार में तिबादेश के अनन्तर नित्यत्वाद् मित्, श्नम् प्रत्यय करने पर श्नम् से विशिष्ट में तदादित्व के न होने से अङ्ग संज्ञा के अभाव में अडागम नहीं होगा । अतः मित् से युक्त का उपसंख्यान आवश्यक है। इसी तरह 'संचस्करतुः' में 'ऋतश्च' 'संयोगादेर्गुणः' सूत्र से गुण की सिद्धि के लिए सुट् युक्त की भी अङ्ग संज्ञा का उपसंख्यान करना चाहिए अन्यथा संपूर्वक कृ धातु से निष्पन्न इस प्रयोग में द्विर्वचनादि के अनन्तर 'अडभ्यासव्यवायेऽपि' से सुडागम करने पर 'चस्कृ' में तदादित्वाभावात् कृ धातु मात्र विहित प्रत्यय परे रहते अङ्ग संज्ञा नहीं होगी, अतः संयोगाद्यङ्गत्वाभावात् 'ऋतश्चसंयोगादेर्गुणः से गुण की प्रसक्ति भी नहीं होगी। 'संचस्करतुः' प्रयोग सिद्ध नहीं होगा । अतः सुट्–युक्त की भी अङ्ग संज्ञा का उपसंख्यान करना हो चाहिए । इस आक्षेप के समाधान में स्वयं वार्तिककार ने समाधान दिया है । —**'तदेकदेशविज्ञानात्सिद्धम्'** अर्थात् तदेकदेश भी तद्ग्रहण से गृहीत हो जाता है जैसे गङ्गा—नदी में प्रविष्ट यमुना आदि नदी भी गङ्गा ग्रहण से गृहीत हो जाती है जैसे देवदत्ता नामक स्त्री के शरीर में स्थित गर्भ भी देवदत्ता के ग्रहण से गृहीत हो जाता है उसी तरह भिद् के ग्रहण से भिनद् भी गृहीत हो सकता है । चकृ के ग्रहण से चस्कृ भी गृहीत हो सकता है । इस पर पुनः आशङ्का की गई कि अङ्ग संज्ञा नियत परिमाण शब्द की ही होती है, उससे अधिक की अङ्ग संज्ञा कैसे हो सकती है । पंच, सप्त आदि संख्या शब्द द्रोण खारी आदि परिमाण विशेष वाची शब्द संख्या विशेष नियत, परिमाण विशेष नियत अर्थ में ही प्रयुक्त हो सकता है, उससे अधिक तथा न्यून अर्थ में प्रयुक्त नहीं हो सकता है । उसी तरह अङ्ग संज्ञा भी स्वविहित प्रत्ययाव्यवहितपूर्वत्वविशिष्ट तदादिशब्दस्वरूपमात्र की ही हो सकती है, उससे अधिक तथा न्यून में प्रवृत्त नहीं होगी। इस तरह भिद् में प्रवृत्त अङ्ग संज्ञा भिनद् में नहीं स्वीकार की जा सकती है। 'चकृ' में प्रवृत्त अङ्ग संज्ञा भी चस्कृ में नहीं स्वीकार की जा सकती है। इस तरह **'तदेकदेशभूतं तद्ग्रहणेन गृह्यते'**। इस लोक न्याय से यहां निर्वाह संभव नहीं होगा । इस आशंका का निराकरण प्रकृत ज्ञापन द्वारा किया गया है **एवं तर्ह्याचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति—तदेकदेशभूतं तद्ग्रहणेन गृह्यते' इति । यदयं नेदमद सोरकोरितिसककारयोः प्रतिषेधं**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शास्ति। भाव यह है कि 'नेदमदसोरकोः' सूत्र से अकच्प्रत्ययविशिष्ट 'इदम्' 'अदस्' शब्द भिस् के के स्थान में 'ऐस्' आदेश की व्यावृत्ति के लिए 'अकोः' विशेषण द्वारा सककार का निषेध किया गया है। यहां निषेध ज्ञापित कर रहा हैं कि 'तदेकदेशभूतं तद्ग्रहणेन गृह्यते' अर्थात् तदेकदेश तद्ग्रहण से गृहीत होता है। अन्यथा इदम्, अदस् शब्द के संबन्ध में विधीयमान जो ऐस् आदेश है, उसकी 'अकच्' प्रत्यय विशिष्ट इदकम्, अदकस् शब्द के संबन्ध में प्रवृत्ति ही संभव नहीं हो सकती है। 'अकोः' द्वारा ककारविशिष्ट का निषेध सर्वथा व्यर्थ ही हो जायेगा तदेकदेश यदि तद्ग्रहण से गृहीत होता है। तभी सककार इदम् अदस् शब्द संबन्धी भिस के ऐसादेश का निषेध सार्थक हो सकता है। यही ज्ञापन परिभाषेन्दुशेखर में **'तन्मध्यपतित तद्ग्रहणेन गृह्यते'** इस रूप में नागेश भट्ट ने निर्दिष्ट किया है।

१७. कृद्ग्रहणे गतिकारकपूर्वस्यापि ग्रहणम्।

'यस्मात्प्रत्ययविधिस्तदादिप्रत्येयङ्गम्' सूत्र के भाष्य में **'प्रत्ययग्रहणे यस्मात्स प्रत्ययो विहितस्तदादेस्तदन्तस्य च ग्रहणं भवति'** परिभाषा के प्रयोजन के निरूपण के अनन्तर इस परिभाषा की सिद्धि 'यस्मात् प्रत्ययविधिस्तदादि प्रत्यये' इस तरह प्रकृत सूत्र के योगविभाग द्वारा की गई। इस परिभाषा की सिद्धि होने पर भाष्य में पुनः यह आक्षेप किया गया कि—यदि 'प्रत्ययग्रहण' से तदादि तदन्त के ग्रहण का ही विधान किया जायेगा तो 'अवतप्ते नकुलस्थितम्' इत्यादि प्रयोग सिद्ध नहीं होगा। अवतप्त+ङि+नकुलस्थित सु इस विग्रह में 'क्षेपे' सूत्र से सप्तम्यन्त का कृदन्त के साथ समास सिद्ध नहीं होगा। क्योंकि यहां जो स्थित शब्द है वह नकुल सहित कृदन्त तदादि नहीं कहा जा सकेगा। इसी तरह 'उदके विशीर्णम्' प्रयोग में उदक ङि–विशीर्ण सु इस विग्रह में सप्तम्यन्त का गति विशिष्ट कृदन्त विशीर्ण के साथ भी इस 'क्षेपे' सूत्र से समास सिद्ध नहीं होगा। गतिविशिष्ट विशीर्णकृदन्त-तदादि नहीं है। इसी तरह 'तत्पुरुषे कृति बहुलम्' सूत्र से कृदन्त तदादि मात्र परकत्व के अभाव में सप्तमी का अलुक् भी नहीं होगा। प्रकृत प्रयोग असिद्ध हो जायेंगे। इसी आक्षेप के निराकरण के लिए इसी परिभाषा की पूरक दूसरी परिभाषा 'कृद्ग्रहणे गतिकारकपूर्वस्यापि ग्रहणम्' की कर्तव्यता बताई गई है। इस परिभाषा के प्रयोजन में वार्तिक द्वारा समास तद्धित एवं स्वर को उपस्थित किया गया है। कृदन्त ग्रहण से गतिकारक-पूर्वक कृदन्त भी गृहीत होता है, अतएव 'अवतप्ते-नकुलस्थितम्' 'उदके विशीर्णम्' प्रयोगों में समास की सिद्धि हुई। सांकूटिनम्, 'व्यावक्रोशी' आदि प्रयोगों में कूटिन, कृदन्त से गतिविशिष्ट संकूटिन् के गृहीत हो जाने से 'अणिनुणः 'सूत्र द्वारा संकूटिन् से तद्धित अण् प्रत्यय की सिद्धि द्वारा सांकूटिनम् प्रयोग सिद्ध हुआ। यहां अण् परे रहते संकूटिन् की ही अङ्ग संज्ञा होने से उसी के आदि अच् की वृद्धि हुई। अन्यथा कृदन्त कूटिन् के ही आदि अच् की वृद्धि हो तो सांकूटिनम् प्रयोग सिद्ध नहीं होता। इसी तरह व्यावक्रोशी वि–अव–पूर्वक णजन्त क्रुश धातु से निष्पन्न व्यवक्रोश को भी णजन्तत्वेन गृहीत कर 'णचः स्त्रियामञ्' सूत्र से अ 'ञ' प्रत्यय द्वारा निष्पन्न व्यावक्रोश शब्द से स्त्रीत्व की विवक्षा में 'टिड्ढाणञ्' आदि सूत्र से ङीप् प्रत्यय सिद्ध हुआ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। 'दूरादागतः' प्रयोग पञ्चम्यन्त दूर अस् आगत सु विग्रह में 'स्तोकान्तिकदूरार्थकृच्छ्राणि क्तेन' सूत्र से पंचमी तत्पुरुष करने पर 'पंचम्याः स्तोकादिभ्यः' से पंचमी का अलुक् किया गया है । यहां आगत शब्द 'गतिरनन्तरः' सूत्र द्वारा गतिस्वर से आद्युदात्त है समास के अनन्तर भी समासान्तोदात्त को अपवादत्वेन बाँध कर गतिविशिष्ट आगत शब्द को ही क्तान्तत्वेन स्वीकार कर 'गतिकारकोपपदात्कृत्' सूत्र से कृदन्तोत्तरपदप्रकृति स्वर द्वारा आगत शब्द में आ को, ही पुनः उदात्त प्राप्त हुआ किन्तु तदपवादतया 'थाथघञ्क्ताजबित्रकाणाम्' सूत्र द्वारा इसी परिभाषा से आगत को ही क्तान्त मान कर इस प्रयोग में अन्तोदात्त सिद्ध हुआ । अतः 'दूरादागतः' प्रयोग में इष्ट स्वर की सिद्धि के लिए भी यह परिभाषा आवश्यक ही है। इस तरह परिभाषा की आवश्यकता सिद्ध होने पर भी यह परिभाषा वचन रूप से कर्तव्य है कि नहीं ? इस संदेह में भाष्य में कहा गया है– **'न कर्तव्या । आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति भवत्येषा परिभाषेति, यदयं गतिरनन्तरः, इत्यनन्तरग्रहणं करोति** । भाव यह है– 'गतिरनन्तरः' सूत्र में अनन्तर ग्रहण का प्रयोजन 'अभ्युद्धृतम्' प्रयोग में व्यवहित अभि के प्रकृतिस्वर की व्यावृत्ति है । कर्म क्तान्त उत्तर पद परे रहते अव्यवहित गति के प्रकृति स्वर का विधान यह सूत्र करता है । यदि यह परिभाषा नहीं होती तो प्रत्ययग्रहण परिभाषा से उद्धृत शब्द में क्तान्तत्व का अभाव होने से ही क्तान्त उत्तर पद परे रहते विधीयमान गतिस्वर की प्राप्ति अभि में नहीं होती, अनन्तर ग्रहण व्यर्थ ही हो जाता । इस तरह यही अनन्तर ग्रहण ज्ञापित कर रहा है कि कृदन्त के ग्रहण से गतिकारकपूर्वक भी गृहीत होता है। यद्यपि यह ज्ञापक गतिमात्र विषयक ही है तथापि एकदेश द्वारा समग्र परिभाषा 'स्थालीपुलाकन्यायेन' ज्ञापित समझनी चाहिए। इस परिभाषा के ज्ञापित हो जाने पर अनन्तर ग्रहण सामर्थ्यात् गत्याक्षिप्त धातु निरूपित ही अव्यवधान गृहीत होगा। अतः दोष की संभावना नहीं होगी । यह ज्ञापन नागेश भट्ट ने भी परिभाषेन्दु शेखर में विस्तारपूर्वक वर्णित किया है।

१८. संज्ञाविधौ प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणं न भवति

'सुप्तिङन्तं पदम्' सूत्र में अन्तग्रहण से यह परिभाषा ज्ञापित हुई है । 'सुप्तिङन्तंपदम्' मात्र सूत्र करने पर भी 'प्रत्ययग्रहणे यस्मात्स विहितस्तदादेः' परिभाषा से ही तदन्त का लाभ हो जायेगा । पुनः अन्तग्रहण जो आचार्य ने किया है, यह ज्ञापित कर रहा है कि अन्यत्र संज्ञाविधायक शास्त्रों में प्रत्यय ग्रहण में तदन्त विधि नहीं होती है । **'एतज्ज्ञापयत्याचार्योऽन्यत्र संज्ञाविधौ प्रत्ययग्रहणे तदन्तविधिर्न भवति इति'** । अतएव 'तरप्तमपौ घः' सूत्र से तरबाद्यन्त की 'घ' संज्ञा नहीं होती है । यदि तरबाद्यन्त की घ संज्ञा हो तो 'कुमारी' 'गौरितरा' विग्रह में कर्मधारय समास के अनन्तर 'घरूपकल्पचेलड्ब्रुवगोत्रमतहतेषु ङ्योऽनेकाचो ह्रस्वः' सूत्र से तरबन्त उत्तर पद परे रहते कुमारी शब्द में पुंवद्भाव को परत्वाद् बाध कर 'ह्रस्वत्वं' की आपत्ति होने लगेगी । ऐसी स्थिति में अभीष्ट 'कुमारगौरितरा' प्रयोग सिद्ध नहीं हो सकेगा । अतः एव 'सनाद्यन्ता धातवः' सूत्र में अन्त ग्रहण भी सार्थक हुआ । अन्यथा यहां भी सनादि प्रत्यय मात्र की ही धातुसंज्ञा होती । प्रत्यय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मात्र की धातु संज्ञा होने से 'अचिकीर्षीति' प्रयोग में सन् मात्र से ही प्रत्ययोत्पत्ति होने के कारण तदादि की ही अंग संज्ञा होकर 'सन्' से ही पूर्व अडागम होगा । अचिकीर्षीत् की सिद्धि नहीं होगी । इस परिभाषा के स्वीकार करने पर यद्यपि प्रातिपदिकसंज्ञा विधायक 'कृत्तद्धितसमासाश्च' सूत्र से भी कृत् कृदन्त तथा तद्धित से तद्धितान्त के लाभ के लिए अन्त ग्रहण आवश्यक होगा तथापि इस सूत्र में 'अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्' सूत्र से अर्थवत् पद की अनुवृत्ति कर के तत्सामर्थ्यात् कृदन्त तद्धितान्त का लाभ हो सकता है। यहां अन्त ग्रहण की कोई आवश्यकता नहीं है । कृत् तद्धित प्रत्यय होने से अर्थवान् है । पुनः अर्थवत् की अनुवृत्ति द्वारा अर्थवत्व का बोधन व्यर्थ हो कर लोकिकार्थ संनिकृष्ट अर्थ का ही बोधक कृत तद्धित होगा । एतादृश अर्थ प्रत्ययमात्र से संभव नहीं होगा । अतः इस सूत्र से कृत् से कृदन्त तथा तद्धित से तद्धितान्त की ही विवक्षा स्वीकार करनी होगी । अतएव भाष्य में कहा गया है—**अर्थवदिति वर्तते, कृत्तद्धितान्तं चैवार्थवत् न केवलाः कृतस्तद्धिता वा ।** कैयट ने स्पष्ट कहा है **लौकिकार्थप्रत्यासन्नेऽभिव्यक्तरो योऽर्थः प्रत्ययान्तेसु लक्ष्यते स आश्रीयते इत्यदोषः'** अर्थात् जो अर्थ लौकिक अर्थ का प्रत्यासन्न हो अर्थात् सुबन्तावस्था से पूर्व प्रतीयमान स्वादिप्रत्यय की प्रकृति का जो अर्थ है वही अर्थ यहां आश्रीयमाण है। अतः इस सूत्र में अन्तग्रहण के बिना भी कोई दोष नहीं है ।

यह भी परिभावेन्दुशेखर में नागेश भट्ट द्वारा व्याख्यात है ।

१६. नानाधिकरणवाचो यो बहुशब्दस्तस्येदं ग्रहणम्, न वैपुल्यवाचिन इति

"बहुषु बहुवचनम्" सूत्र के भाष्य में 'बहुषु' शब्द के अर्थ पर विचार करते हुए कहा गया है— **'येष्वर्थेषु स्वादयो विधीयन्ते तेषु बहुषु' केषु चार्थेषु स्वादयो विधीयन्ते ? कर्मादिषु** । अर्थात् 'बहुषु' शब्द द्वारा अर्थमात्र का बहुत होना विवक्षित नहीं है । किन्तु एकवचनादिसंज्ञक स्वादि प्रत्यय जिन अर्थों में विहित हैं उन्हीं अर्थों का बहुत होना विवक्षित है । स्वादि प्रत्यय कर्मादि अर्थो में विहित है, अतः कर्मादि अर्थो का बहुत होना ही 'बहुषु' शब्द से गृहीत होगा । यद्यपि कर्मादि अर्थ तिङादि प्रत्यय के ही अर्थ हैं । स्वादि प्रत्यय के अर्थ नहीं है स्वादि प्रत्यय के अर्थ तो केवल एकत्वादि संख्या ही हैं । अत एव भाष्य में कहा गया है—**न वै कर्मादयो विभक्त्यर्थाः । के तर्हि ? एकत्वादयः ।** तथापि एकत्वादि अर्थ आश्रयसांकाङ्क्ष होने के कारण प्रत्यासत्या कर्मादि में ही आश्रयत्वेन अन्वित होकर कर्मादि के भी संग्राहक हो सकते हैं ? अतएव भाष्य में कहा गया है— **एकत्वादिष्वपि विभक्त्यर्थेष्ववश्यं कर्मादयो निमित्तत्वेनोपादयोः— कर्मण एकत्वे, कर्मणो द्वित्वे, कर्मणो बहुत्वे** इति । इस तरह अर्थ करने पर यद्यपि भाव प्रत्ययान्त निर्देश की ही कर्तव्यता प्राप्त हो रही है तथापि गुणवाचक शब्द यदि सामानाधिकरण्येन गुण विशेषकतया उपन्यस्त हों तभी गुणमात्र की विवक्षा होने पर भाव प्रत्यय आवश्यक होता है । जैसे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'पर: शुक्ल:' ऐसे स्थल में भाव प्रत्यय के बिना गुण प्रधान निर्देश संभव नहीं होगा। ऐसे स्थल में 'परस्य शुक्लत्वम्' यही निर्देश आवश्यक होगा किन्तु जहां गुणी से गुण की ही विशेषित किया गया हो वहां 'पटस्य शुक्ल:' इस तरह का भी प्रयोग होगा ही । यहां भी कर्मादि के द्वारा ही एकत्वादि संख्या को विशेषित किया गया है । **कर्मण: एकस्मिन् एकवचनम् कर्मणोर्द्वयोर्द्विवचनम् कर्मणां बहुषु बहुवचनम्'** एवं प्रकारेण निर्देश होने पर कर्मादिगत बहुत्वादि की विवक्षा में भी भावप्रत्यय के बिना ही 'बहुषु बहुवचनम्' आदि निर्देश संभव है । इस तरह यद्यपि भाव प्रत्यय के बिना भी बहुत्व अर्थ की प्रतीत हो सकती है तथापि बहुत्व अर्थ के एक होने से 'बहो' ऐसा निर्देश होना चाहिए । 'बहुषु' यह निर्देश अनुपन्न ही है ? इस आक्षेप के समाधान में प्रकृत ज्ञापन का उपन्यास किया गया है— **एतदेव ज्ञापयत्याचार्यो—नानाधिकरणवाचो यो बहुशब्द स्तस्येदं ग्रहणं न वैपुल्यवाचिन:** इति' । भाव यह है कि यहां एकवचनान्त निर्देश की प्रसक्ति होने पर भी जो बहुवचनान्त निर्देश किया गया है, यही ज्ञापित कर रहा है कि आश्रय (द्रव्य) गत बहुत्व को ही बहुत्व संख्या (गुण) में आरोपित कर यहां निर्देश किया गया है । इसका प्रयोजन यह है कि नानावस्त्वाधारक बहुत्व संख्या का ही ग्रहण हो एकाश्रयवर्ती वैपुल्यरूप बहुत्व का ग्रहण न हो । अतएव 'बहुरोदन:' 'बहु: सूप:' इत्यादि प्रयोगों में बहुवचन की प्रसक्ति का दोष नहीं होगा ।

इसी तरह 'द्वयकयोर्द्विवचनैकवचने' सूत्र में भी द्वि तथा एक शब्द को भी संख्यापरक ही जानना चाहिए अन्यथा 'द्वयेकयो:' में द्विवचन प्रयोग ही अनुपन्न हो जायेगा । क्योंकि यदि 'द्वि' एक शब्द संख्येयपरक माना जाय तो 'द्वि' एक शब्द के द्वन्द्व में बहुवर्थक होने के कारण बहुवचनान्तत्व की प्रसक्ति होगी ।

२०. उत्पद्यन्तेऽव्ययेभ्य: स्वादय:

यह ज्ञापन भी 'बहुषु बहुवचनम्' सूत्र के भाष्य में उपन्यस्त हो 'बहुषु बहुवचनम्' सूत्र की आवश्यकता पर विचार करते हुए 'वार्तिककार ने कहा है—'सुप्तिङमविशेष विधानाद् दृष्ट विप्रयोगाच्च नियमार्थं वचनम्' अर्थात् प्रातिपदिकमात्र से सामान्यत: सुप् प्रत्यय विहित है । धातुमात्र से सामान्यत: 'तिङ् प्रत्यय' विहित है । बहुवचनादि विभक्ति के लिए कोई व्यवस्था नहीं है । लोक में भी विरुद्ध प्रयोग देखे जाते हैं, जैसे 'अंक्षीणि' में दर्शनीयानि, पादा में 'सुकुमारा:' इत्यादि । इस तरह सुप् तिङ का सामान्यत: विधान होने के कारण तथा लोक में विरुद्ध प्रयोग दर्शन के कारण वहुवचनादि में अव्यवस्था प्राप्त हो रही है, किन्तु व्यवस्था अपेक्षित है । यह यत्न बिना संभव नहीं है । अत: ये 'बहुषु बहुवचनम्' आदि वचन नियमार्थ आवश्यक है । इस तरह इन वचनों का नियमार्थत्व स्वीकार करने पर भी यह प्रत्यय नियम होगा या अर्थ नियम यह विचारणीय है । प्रत्यय नियम पक्ष में एकत्व में ही एक वचन हो, द्वित्व में ही द्विवचन ही, बहुत्व में ही बहुवचन हो, ऐसा व्याख्यान होगा । अर्थनियम पक्ष में एकत्व में एकवचन ही हो, द्वित्व में द्विवचन ही हो, बहुत्व में बहुवचन ही हो ऐसा व्याख्यान होगा । इस तरह यदि प्रत्ययनियम पक्ष माना जाये तो एकत्वादि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अर्थ में एक वचनादि होंगे। संख्यारहित अव्यय शब्दों से एकवचनादि कोई विभक्ति नहीं प्राप्त होगी अतः अव्यय में सुबन्तत्वाभावात् पदसंज्ञा के अभाव की प्रसक्ति हो जायेगी। अर्थ नियम पक्ष में यह दोष नहीं होगा क्योंकि इस पक्ष में अर्थ ही नियमित होंगे, तत्तदर्थों में वचनान्तर की प्राप्ति नहीं होगी। एकवचनादि प्रत्यय अनियमत ही हैं, अतः संख्याहीन अव्यय से भी प्राप्त हो ही सकते हैं। कोई दोष नहीं होगा। वस्तुतः कर्मादि एवं संख्या दोनों ही सुबादि प्रत्ययों के अर्थ है। अर्थद्वय के रहते 'एकत्व एव' द्वित्व 'एव' 'बहुत्व एव' इस तरह का प्रत्यय नियम संभव ही नहीं होगा। अतएव भाष्य में कहा गया है— **'सुपां कर्मादयोऽप्यर्थाः संख्या चैव तथा तिङाम् प्रसिद्धो नियमस्तत्र'** अर्थात् सुप् तथा तिङ् प्रत्यय के कर्मादि तथा संख्या दोनों ही अर्थ हैं। अतः अर्थनियम पक्ष ही संभव है। अर्थनियम पक्ष में संख्याहीन अव्यय से भी सुबुत्पत्ति में कोई बाधा नहीं होगी। **अथवा प्रकृतार्थापेक्ष प्रत्ययनियम** भी संभव होगा। इस पक्ष में प्रकृत एकत्वादि अर्थ को लेकर ही प्रत्यय नियम होगा, जैसे एकत्व में ही एक वचन हो, द्वित्व बहुत्व में न हो, द्वित्व में ही द्विवचन हो, एकत्व-बहुत्व में न हो, बहुत्व में ही बहुवचन हो, एकत्व द्वित्व में न हो। इस तरह का व्याख्यान होगा। ऐसी स्थिति में तुल्यजातीय की व्यावृत्ति-मात्र नियम से होगी यानी एकत्व से द्विवचनादि की व्यावृत्ति मात्र की गई है। न कि एकत्वादि के विना सुबुत्पत्ति का निराकरण किया गया। इसलिए भी संख्याहीन अव्यय से भी सुबुत्पत्ति में कोई बाधा नहीं होगी। यह पक्ष भी भाष्य में **'नियमः प्रकृतेषु च 'इस उक्ति के** अनुसार स्पष्ट किया गया है।

यदि सामान्यतः प्रत्यय नियम पक्ष ही माना जाये तब भी अव्यय से सुबुत्पत्ति की सिद्धि प्रकृत ज्ञापन के आश्रयण से ही हो सकती है। इसी अभिप्राय से कहा है—**अथवा आचार्यप्रवृत्तज्ञापयति—उत्पद्यन्तेऽव्ययेभ्यः स्वादयः इति, यदयमव्ययादाप्सुपः इत्यव्ययाल्लुकः शास्ति।** भाव यह है कि अव्यय से परे स्वादि प्रत्यय को जो लुक् विधान 'अव्ययादाप्सुपः' सूत्र द्वारा किया गया है, वही ज्ञापित कर रहा है कि अव्यय से सुबुत्पत्ति होती है। यदि अव्यय से सुप् प्रत्यय नहीं होते तो उनका लुग् विधान व्यर्थ ही हो जायेगा। इस ज्ञापन के आश्रय द्वारा प्रत्यय नियमपक्ष भी निर्दष्ट है। यही भाष्य का अभिप्राय है।

२१. कारकसंज्ञायां तरतमयोगो न भवति इति

'साधकतमं करणम्' सूत्र में **'तम ग्रहणं किमर्थं न साधकं करणमित्येवोच्येत'** इस भाष्य द्वारा 'तम' ग्रहण के प्रयोजन का विचार प्रस्तुत किया गया है। तात्पर्य यह है कि कारकाधिकार से ही **'करोति=साधयति' इति कारकः** इस व्युत्पत्ति में साधकत्व का लाभ होने पर भी साधक शब्द के प्रयोग के सामर्थ्य से ही तमबर्थ प्रकर्ष की प्राप्ति संभव थी, 'तम' ग्रहण सूत्र में आवश्यक नहीं है। लोक द्वारा भी यही सिद्ध है—जैसे किसी ने कहा 'अभिरूपाय कन्या देया' यानी सुन्दर पुरुष को कन्या देनी चाहिए। इससे असुन्दर में प्रवृत्ति के कारण द्वारा 'अभिरूपतमाय कन्या देया' यही प्रतीत होती है उसी तरह यहां भी **'साधकं करणम्'** कह देने से असाधक में प्रवृत्ति के कारण द्वारा ही 'साधकतम' की प्रतीति हो सकती है। इस तरह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'तम' ग्रहण के बिना भी अभीष्ट अर्थ की सिद्धि संभव है, 'तम' ग्रहण अनावश्यक ही है। इसी आक्षेप के समाधान में प्रस्तुत ज्ञापन का उपन्यास किया गया है **एवं तर्हि सिद्धे सति यत्तमग्रहणं करोति तज्ज्ञापयत्याचार्यः—कारक संज्ञायां तरतमयोगो न भवति इति।** — भाव यह है कि तम ग्रहण के बिना भी तमबर्थ का लाभ संभव होने पर भी जो आचार्य ने तमग्रहण किया है यही ज्ञापित कर रहा है कि कारक प्रकरण में तर तथा तम प्रत्यय का योग नहीं होता है। यहाँ प्रत्यय से प्रत्ययार्थ ही लक्षित है। इस तरह यही 'तम' ग्रहण इस प्रकरण में शब्द सामर्थ्य गम्य प्रकर्ष के आश्रयण के अभाव का ज्ञापन कर रहा है। इस ज्ञापन का प्रयोजन यह है कि तम ग्रहण के बिना इस प्रकरण में कहीं भी प्रकर्ष का आश्रयण नहीं किया जा सकता है। अन्यथा 'अपादानम्' इस महासंज्ञा द्वारा ही 'अपादीयते विभज्यते अस्माद्' इत्यपादानम्' इस अन्वर्थता के बल से अपायावधि का लाभ संभव होने पर भी ध्रुव ग्रहण ध्रुवतमार्थ का बोधक हो जायेगा। इस तरह मुख्य अपादान ही ग्रामदागच्छति, नगरदागच्छति इत्यादि स्थल: में अपादानत्वेन गृहीत होगा। बुद्धिपरिकल्पित अपादान 'सांकाश्यकेभ्यः पाटलिपूत्रका अभिरूपतरा:' इत्यादि स्थल में अपादानत्वेन गृहीत नहीं ही होगा। इसी तरह 'आधारोधिकरणम्' सूत्र में भी 'अधिकरणम्' महासंज्ञा से ही अन्र्थतावलेन आधार का लाभ संभव होने पर भी 'आधार ग्रहणं आधारतमार्थक ही होगा। ऐसी स्थिति में 'तिलेषुतैलम्' दध्निसर्पि: ऐसे स्थल में जो सर्वावयवव्याप्त्या मुख्य आधार है, वही अधिकरणत्वेन गृहीत होगा। सामीप्यादिना जो कल्पित आधार है—'गङ्गायां गाव:' कूपे गर्गकुलम् इत्यादि स्थल में वे अधिकरणत्वेन गृहीत नहीं हो सकेंगे। ये प्रयोग सिद्ध नहीं हो सकेंगे। इस ज्ञापन की स्थिति में सर्वत्र अधिकरणादिसंज्ञा सिद्ध हो सकेगी।

जहां तमग्रहण सूत्र में ही निर्दिष्ट है, वहां ही केवल प्रकर्ष आश्रित होगा। जैसे 'कर्तुरीप्सिततमं कर्म'। सूत्र 'ईप्सित' मात्र की कर्मसंज्ञा नहीं होगी। किन्तु 'ईप्सिततम' की ही कर्मसंज्ञा होगी। अतएव 'साधकतमं करणम्' सूत्र में तमग्रहण चरितार्थ हुआ।

२२. अनन्तरो य ईश्वरशब्दस्तस्य ग्रहणम्।

'प्राग्रीश्वरान्निपाता:' इस अधिकार सूत्र में 'प्राग्रीश्वरात्' ऐसा ही पाठ न कर के रेफ घटित 'रीश्वरात्' पाठ इसलिए किया गया है कि ईश्वर शब्द होने के कारण 'ईश्वरेतोसुन्कसुनौ' सूत्र घटक ईश्वर शब्द को अवधित्वेन गृहीत न किया जाये। किन्तु 'अधिरीश्वरे' सूत्र घटक ईश्वर शब्द ही गृहीत हो। अन्यथा निपात संज्ञा अतिव्याप्त हो जायेगी। अत एव भाष्य में कहा गया है 'रीश्वरात् वीश्वरान्माभूत्' अर्थात् यहां 'ऐश्वरात्' इसलिए कहा गया है ताकि 'वीश्वरात्' गृहीत न हो। ईश्वरे तोसुनुकसुनौ सूत्र में ईश्वर शब्द संहिता पाठ में 'शकिणमुल्कमुलौ' सूत्र के साथ मिलकर '**शकिणमुल्कमलावीश्वरेतोसुन्कसुनौ**' इस तरह--लकार सहित पढ़ा गया है। उसी का अनुसरण कर के 'वीश्वरान्माभूत्' ऐसा भाष्य में कहा गया है। इस प्रकार 'ईश्वरेतोसुन्कसुनौ' सूत्र घटक ईश्वर शब्द की व्यावृत्ति के लिए यहां रेफ घटित 'रीश्वरात्' ऐसा पढ़ा गया है। इस प्रयोजन के खण्डन में प्रकृत ज्ञापन भाष्य में उपन्यस्त हुआ है— **नैतदस्ति प्रयोजनम्। आचार्य प्रवृत्तिर्ज्ञापयति—अनन्तरो य ईश्वरशब्दस्तस्य ग्रहणम् इति।** यदयं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'कृन्मेजन्तः' इति कृतो मान्तस्यैजन्तस्य चाव्ययसंज्ञां शास्ति। भाव यह है कि यदि 'ईश्वरे तोसुन्कसुनौ' सूत्र घटक ईश्वर शब्द को अवधित्वेन स्वीकार किया गया होता तो मान्त एजन्त कृत् प्रत्यय भी इससे प्राग्वती होने के कारण, से ककसुन् णमुल् आदि में निपातत्वेनैव अव्यय संज्ञा सिद्ध हो जाती, 'कृन्मेजन्तः' सूत्र से मान्त एजन्त कृत्प्रत्यय की अव्यय संज्ञा का विधान व्यर्थ ही है। यही व्यर्थ होकर ज्ञापित कर रहा है— कि 'अधिरीश्वरे' सूत्र घटक अव्यवहित जो ईश्वर शब्द है, उसी का अवधित्वेन यहां ग्रहण है। 'ईश्वरेतोसुन्कसुनौ' सूत्र घटक 'ईश्वर' शब्द का ग्रहण नहीं।

यदि 'ईश्वरेतोसुन्कसुनौ' सूत्र से आगे जो 'कृत्वार्थे तवैकेनूकेन्यत्वनः' कर्मण्याक्रोशे कृञ: खमुञ्—इत्यादि सूत्रों से एजन्त मान्त प्रत्यय विहित है, उसके लिए 'कृन्मेजन्तः' सूत्र आवश्यक ही है। अतः प्रकृत ज्ञापन संभव नहीं हो सकता है तो ऐसी स्थिति में रेफ घटित रीश्वर शब्द का ही उपन्यास अतिप्रसक्ति परिहारार्थ यहां आवश्यक है। 'ईश्वरेतोसुनुकसुनौ' सूत्र से प्राग्वर्ती अव्ययीभाव समास की अव्ययसंज्ञा के विधान के सामर्थ्य से भी यह ज्ञापन संभव नहीं है। क्योंकि 'अव्ययीभावश्च' सूत्र द्वारा अव्ययीभाव की अव्ययसंज्ञा का विधान अव्ययीभाव संज्ञक समास को ही अव्यय संज्ञा ही, अन्य समास की अव्यय संज्ञा न हो, इस अर्थ के ज्ञापन द्वारा ही चरितार्थ है। प्रकृत ज्ञापन में उसका उपयोग संभव नहीं होगा। अनन्तर अवधि के ही ग्रहण में साधन कोई लोकव्यवहार भी नियमित नहीं करा जा सकता है। अतः यहां रेफघटित रीश्वर शब्द ही ग्राह्य है।

२३. नात्र गतेः प्राक् प्रयोगो भवति इति।

'ते प्राग् धातोः' सूत्र की आवश्यकता पर विचार करते हुए भाष्य में दो पक्षों का विकल्प किया गया है— 'प्रयोगनियमार्थम् आहोस्वित् संज्ञानियमार्थम्—इति। प्रयोग नियम पक्ष में 'ते' पद से गति-उपसर्ग संज्ञक गृहीत हो सकते हैं, धातु से पूर्व उनके प्रयोग मात्र का नियम इस सूत्र से किया गया है संज्ञा नियम पक्ष में संज्ञा की निष्पत्ति अब तक न होने के कारण 'ते' पद से प्र से लेकर उपनिषत् पर्यन्त शब्द ही स्वरूपतः गृहीत होंगे, अतः धातु से पूर्व प्रयुज्यमान होकर ही ये प्रादि—उपनिषदन्त शब्द गतिसंज्ञक हों, यह व्याख्यान होगा इन दोनों पक्षों में प्रयोगनियम पक्ष में यह विशेषता होगी कि 'अनुकरणं चानितिपरम्' सूत्र में अनिष्ट शब्द की प्रसक्ति के निवारणार्थ अनुकरण में इतिपरकत्व का प्रतिषेध कहना आवश्यक होगा। अन्यथा 'खाडिति कृत्वा' निरष्ठीवत्' इस प्रयोग में इतिपरक खाट् की भी अनुकरण होने से गति संज्ञा हो जायेगी। 'कुगतिप्रादयः' से समास तथा ल्यबादेश द्वारा 'खाडितिकृत्य' ऐसे अनिष्ट प्रयोग की आपत्ति होने लगेगी। संज्ञानियम पक्ष में 'खाडिति कृत्वा' प्रयोग में संज्ञा का निरास सुतरां सिद्ध है। 'अनुकरणं चानितिपरम्' सूत्र में 'अनितिपरम्' करना आवश्यक नहीं होगा। यह परम लाघव होगा। इस पक्ष में दूसरा यह भी लाघव होगा कि 'छन्दसि परेऽपि' 'व्यवहिताश्च' ये दोनों सूत्र भी कर्तव्य नहीं होंगे। क्योंकि पर एवं व्यवहित में संज्ञा मात्र का इस नियम से निरास होगा। पर तथा व्यवहित प्रयोग करने में कोई बाधा नहीं है। इस तरह लाघवात् संज्ञा नियम पक्ष का ही औचित्य सिद्ध हुआ। किन्तु आगे चलकर भाष्यकार ने दोनों पक्षों में अनिष्ट

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रयोगों की प्रसक्ति का सर्वथा अभाव दिखाते हुए इस सूत्र को अनावश्यक बता कर उपसर्जन-संन्निपात में पूर्व-पर की व्यवस्था के लिए इस सूत्र की सार्थकता दिखाई है। 'कूलमुद्वजम्' 'कूलमुद्वहम्' प्रयोगों में 'उदि कूले रूजिवहोः' सूत्र से कूल तथा उद् के उपपद रहते हुए रुज् धातु से 'खश्' प्रत्यय में 'उपपदमतिङ्' से समास होने पर 'उपसर्जनं पूर्वम्' सूत्र से दोनों उपपदों के पर्यायेण पूर्वनिपात की प्राप्ति में गति उपसर्ग संज्ञक के ही धातु से पूर्व-प्रयोग के नियमार्थ इस सूत्र की आवश्यकता है। इस तरह यहाँ प्रयोग नियमपक्ष ही भाष्य-सम्मत सिद्ध हुआ। आगे चलकर पुनः भाष्य में यह आशंका की गई कि यदि उपसर्जन के सन्निपात में पूर्व पर व्यवस्थार्थ ही इस सूत्र की आवश्यकता है तो 'सुकटंकराणि वीरणानि' इस प्रयोग में 'सुखेन कटाः क्रियन्ते' इस विग्रह में 'कर्तृकर्मणोश्च भूकृञोः सूत्र से सु तथा कट उपपद रहते कृ धातु से खल् प्रत्यय में गति-उपसर्ग के धातु से पूर्व ही प्रयोग का नियम होने से 'कटं सुकराणि' अनिष्ट प्रयोग होने लगेगा? इसी आक्षेप के निराकरण के लिए इस ज्ञापन का उपन्यास भाष्य में किया गया है— आचार्यप्रवृतिर्ज्ञापयति **नात्र गतेः प्राक्प्रयोगो भवति इति। यदयमीषद्दुः सुषु कृच्छाकृच्छार्थेषु खल् इति खकारमनुबन्धं करोति।** भाव यह है कि 'खल्' प्रत्यय में खल प्रत्यय के खित्व का प्रयोजन खित्यनव्ययस्य-असर्द्विषदजन्तस्व मुम्' सूत्र से उपपद को मुमागम करना ही है। यदि खलर्थ प्रत्यय के विषय में भी गतिसंज्ञक का धातु से पूर्व ही प्रयोग हो तो खित्करण व्यर्थ ही हो जायेगा। क्योंकि सु के मुमागम का 'अनव्ययस्य' से प्रतिषेध हो जायेगा। यहां मुमागमार्थ खित्करण व्यर्थ ही है। यहां व्यर्थ होकर ज्ञापित कर रहा है कि मुमागम के विषय में गतिसंज्ञक का धातु से पूर्वप्रयोग नहीं होता है। अत एव 'खल्' प्रत्यय में खकारानुबन्ध सार्थक होता है।

वस्तुतस्तु 'उदिकूले रूजिवहोः' सूत्र में उद् उपपदत्वेन विवक्षित नहीं है किन्तु विशेषणत्वेन विवक्षित है। **उत्पूर्वाभ्याँ रुजिवहिभ्यां कूले उपपदे खश् प्रत्ययः स्यात**, इस तरह सूत्र की व्याख्या करने पर कुलमुद्वहः प्रयोगों में उपसर्जन के संनिपात की प्रसक्ति ही नहीं होगी। ताकि व्यवस्थार्थ यह सूत्र आवश्यक हो। अतः यह सूत्र प्रयोगनियम संज्ञानियम दोनों पक्षों में व्यर्थ ही है। यही भाष्य का स्पष्ट तात्पर्य है।

२४. अनर्थकानामप्येषां भवत्यर्थवत्कृतम् इति।

'अधिपरी अनर्थकौ' सूत्र से अनर्थक अधि, परि की कर्मप्रवचनीय संज्ञा गति तथा उपसर्ग संज्ञा के बाधनार्थ की गई है। इसकी आवश्यकता को लेकर भाष्य में विचार किया गया कि अनर्थक अधि परि का क्रिया के साथ संबन्ध संभव न होने से गत्यादि संज्ञा की प्राप्ति नहीं हो सकती है। क्यों कि 'यत्क्रियायुक्ताः प्रादयस्तं प्रत्येवगत्युपसर्गसंज्ञाः भवन्ति' इस सिद्धान्त के अनुसार अधि, परि, जिस क्रिया से युक्त होगे तद्वाचक धातु के प्रति ही गत्यादि संज्ञा होगी। यदि अधि परी सर्वथा अनर्थक है, तो किसी क्रिया से संबद्ध नहीं होंगे। अतः गत्यादि संज्ञा की प्रसक्ति हो नहीं है। उसके बाधनार्थ इनकी कर्मप्रवचनीय संज्ञा भी अनावश्यक ही है? यदि परि शब्द के योग में कुतः पर्यागम्यते' इत्यादि प्रयोग में पंचम्यपाङ्परिभिः' से पंचमी विधानार्थ कर्मप्रवचनीय संज्ञा की गई है, तो यह भी कहना ठीक नहीं होगा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'कुतः पर्यागम्यते' इत्यादि प्रयोग में 'अपादाने पंचमी' से ही पंचमी हो जायेगी । इसके लिए कर्मप्रवचनीय संज्ञा अनावश्यक ही है। यहां अपादान में ही पंचमी स्वीकार करने से 'कुतोऽध्यागम्यते' यह प्रयोग भी उपपन्न होगा अन्यथा कर्मप्रवचनीय अधि के योग में पंचमी का विधान न होने से यहां पंचमी का प्रयोग कैसे उपपन्न होता । अतः अनर्थक 'अधि','परि' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा विधान सर्वथा अनावश्यक ही है ? इसी आक्षेप के परिहार में प्रकृत ज्ञापन उपन्यस्त हुआ है—'**एवं तर्हि सिद्धे सति यदनर्थकयोर्गत्युपसर्गसंज्ञाबाधिकां कर्मप्रवचनीयसंज्ञा शास्ति तज्ज्ञापयत्याचार्योऽनर्थकानाप्येषां भवत्यर्थवत्कृतमिति** ।' भाव यह है कि जो अनर्थकों में भी गत्यादि संज्ञा के बाधनार्थ कर्मप्रवचनीय संज्ञा का विधान किया गया है, यही ज्ञापित कर रहा है कि अनर्थक भी चादि, प्रादि शब्दों की अर्थवत्प्रयुक्त कार्य होते हैं । इस ज्ञापन का यह प्रयोजन होगा कि '**निपातस्यानर्थकस्य प्रातिपदिक संज्ञा वक्तव्या**' यह वार्तिक निपात की प्रातिपदिक संज्ञा के विधानार्थ जो अर्थवत्सूत्र में किया गया है, वह वचन पृथक् रूप में वक्तव्य नहीं होगा। अतः एतादृश अर्थ के ज्ञापनार्थ यह सूत्र सार्थक हुआ। वस्तुतः अधि परि सर्वथा अनर्थक नहीं ही है। अनर्थक शब्द का अर्थ यहां अर्थान्तर रहित मात्र है। अर्थात् धातु से प्रोक्त जो अर्थ है उसी अर्थ के प्रतिपादिक अधि, परि भी हैं। धात्वर्थ से अभिन्नत्वेन प्रतीयमान होने मात्र से अनर्थक कहे गए हैं । जैसे शङ्ख में रखा हुआ क्षीर भी शौक्ल्येन शङ्खाभिन्न ही प्रतीयमान होता है उसी तरह धात्वर्थ से अतिरिक्त किसी अर्थान्तर का द्योतक न होने के कारण ही यहां अधि, परि अनर्थक कहे गए हैं । ऐसी स्थिति में प्रस्तुत ज्ञापन एवं निपातों की प्रातिपदिक संज्ञा के विधायक वार्तिक की भी कोई आवश्यकता नहीं ही है ।

२५. न पुरुषसंज्ञा परस्मैपदसंज्ञां बाधते ।

'लःपरस्मैपदम्' सूत्र के भाष्य में परस्मैपद संज्ञा को लादेशों के प्रकरण में ही अर्थात् 'तिप्तसझि'० इत्यादि सूत्रों के प्रसंग में ही पढ़ा जाना चाहिए, ऐसा विचार प्रस्तुत किया गया है तात्पर्य यह है कि यदि परस्मैपद संज्ञा का विधान यहां किया जायेगा तो यह संज्ञा उत्तरभावी पुरुष संज्ञा द्वारा बाधित हो जायेगी । क्योंकि पुरुष संज्ञा अनवकाश है । अनवकाशत्वात् परस्मैपदसंज्ञा की बाधक बन जायेगी । यदि यह कहा जाये कि परस्मैपद संज्ञा भी निरवकाश है, अतः वचनसामर्थ्यात्परस्मैपद संज्ञा भी हो ही सकती है तो यह संभव नहीं है । क्योंकि परस्मैपदसंज्ञा लट् के स्थान में विधीयमान 'शतृ' प्रत्यय एवं लिट् के स्थान में विधीयमान् 'क्वसु' प्रत्यय में सावकाश है । अतः निरवकाश पुरुष संज्ञा द्वारा परस्मैपदसंज्ञा का बाध अवश्य हो जायेगा, अतः प्रकरणान्तर में ही पढ़ना आवश्यक है । इस आक्षेप के निराकरण के लिए प्रस्तुत ज्ञापन का आश्रयण किया गया है—**यदयं सिचिवृद्धिः परस्मैपदेषु इति परस्मैपदग्रहणं** करोति तज्ज्ञापयत्याचार्यो 'न पुरुष संज्ञा परस्मैपदसंज्ञां बाधते इति' । भाव यह है कि 'सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु' सूत्र द्वारा इगन्त अङ्ग को वृद्धि विधान किया जाता है परस्मैपदपरक सिच् परे रहते । यदि पुरुष संज्ञा द्वारा परस्मैपद संज्ञा का बाध हो जाता तो कहीं भी सिच् प्रत्यय में परस्मैपदपरकत्व की संभावना ही नहीं रहेगी । क्योंकि लुङ्

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के स्थान में तिङादेश होते ही पुरुष संज्ञा द्वारा परस्मैपद संज्ञा बाधित हो जायेगी। तिङन्तस्थल में परस्मैपदपदकत्व असम्भव ही है। इस तरह 'सिचिवृद्धिः परस्मैपदेषु सूत्र में जो परस्मैपदेषु द्वारा सिच् को विशेषित किया गया है, वह व्यर्थ ही हैं। यही 'परस्मैपदेषु' व्यर्थ होकर ज्ञापित कर रहा है कि— **न पुरुषसंज्ञा परस्मैपदसंज्ञां बाधते इति।** यह ज्ञापन आवश्यक ही है। यद्यपि लादेशों के प्रकरण तृतीयाध्याय में ही परस्मैपदसंज्ञा का विधान किया जा सकता है, ज्ञापन का आश्रयण अनावश्यक ही है, तथापि आत्मनेपदसंज्ञा द्वारा परस्मैपदसंज्ञा के बाधनार्थ आकडारीय प्रकरण में ही इन दोनों संज्ञाओं का विधान आवश्यक है। अतः प्रकृत ज्ञापन अत्यन्त आवश्यक ही है।

अष्टम अध्याय

१. समानार्थे केवलं विग्रहभेदाद्यत्र तत्पुरुषः प्राप्नोति बहुव्रीहिश्च, तत्र तत्पुरुष एव भवति, इति।

'द्वितीयाश्रितातीतपतितगतात्यस्तप्राप्तापन्नैः' सूत्र के भाष्य में 'श्रितादिभिरहीने द्वितीयासमासवचनानर्थक्यं, बहुव्रीहिकृतत्वात्' वार्तिक द्वारा यह आक्षेप किया गया है कि अहीनवाचक द्वितीयान्त के लिए समास वचन अनर्थक है, बहुव्रीहि समास से ही गतार्थ हो जाएगा। भाव यह है कि— इस सूत्र के द्वारा श्रित, पतित तथा गत शब्द के साथ द्वितीयान्त का समास विधान व्यर्थ ही है। इन शब्दों के साथ प्रयुज्यमान द्वितीयान्त अहीन वाची द्वितीयान्त होगा। क्यों कि **यः कष्टं श्रितः'**— इस वाक्य का अर्थ **कष्टं तेन न हीनम्** यही हो सकेगा। इसी तरह 'यः कष्ट पतितः, यः कष्टं गतः' इन वाक्यों का भी अर्थ 'कष्टं तेन न हीनम्' यही होगा। ऐसी स्थिति में 'कष्टं श्रितः अथवा 'श्रितं कष्टं अनेन' दोनों विग्रह वाक्यों का अर्थ समान होने से बहुव्रीहि समास से ही गतार्थ इन शब्दों के साथ द्वितीयान्तसमास में 'ग्रहीने द्वितीया' सूत्र से पूर्वपद प्रकृति स्वर होगा। वही बहुव्रीहि समास में भी संभव है। अतः स्वर में भी कोई भेद नहीं होगा। अतः इन शब्दों के साथ द्वितीया-तत्पुरुष समास का विधान अनावश्यक है। परन्तु अतीत, अत्यस्त, प्राप्त, आपन्न शब्दों के साथ द्वितीयान्त के समास का वचन स्वर सिद्धि के लिए आवश्यक होगा। क्योंकि अतीत, अत्यस्त के साथ जो समास होगा, वहाँ 'अहीने' द्वितीया' की प्राप्ति नहीं है क्योंकि जो ग्राम से अतीत या अत्यस्त होगा, वह ग्राम से हीन ही होगा। यहाँ अहीन वाची द्वितीया न होने के कारण' अहीने द्वितीया' की प्राप्ति नहीं होगी। अतः यहाँ अतीत अत्यस्त के साथ द्वितीया समास का फल 'थाघञ्क्तार्जबित्रकाणाम्' सूत्र से अन्तोदात्त रहेगा। यद्यपि प्राप्त आपन्न के साथ द्वितीया समास करने पर भी अहीने द्वितीया' की प्राप्ति हो सकती है तथापि 'अनुपसर्ग इति वक्तव्यम्' वार्तिक से निषेध हो जायेगा। अतः यहां भी थाथादिस्वर की सिद्धि के लिए द्वितीया ससास वचन आवश्यक ही है। यद्यपि ग्रामगतः, अरण्यगतः इत्यादि प्रयोगों में बहुव्रीहि समास करने पर **'जाति-**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

काल सुखादिभ्योऽनाच्छादनात् क्तोऽकृतमितप्रतिपन्नाः' सूत्र से अन्तोदात्त की प्रसक्ति वारण के लिए अहीनवाचीद्वितीयान्त समास आवश्यक होगा। तथापि 'वाजाते' सूत्र के स्थान में 'वाजातादिषु' पढ़ कर जातादि में गत, पतित, श्रित को भी पढ़ देने से वैकल्पिक अन्तोदात्त विधान द्वारा पक्ष में पूर्वपदप्रकृतिस्वर भीं सिद्ध हो ही जायेगा। यद्यपि बहुव्रीहि में, पूर्वपद प्रकृति स्वर तथा अन्तोदत्त दोनों स्वर पाक्षिक रूप में प्राप्त होंगे, तत्पुरुष में केवल 'अहीने द्वितीया' द्वारा पूर्वपद प्रकृति स्वर मात्र ही प्राप्त होगा।

इस तरह फल भेद स्पष्ट है तथापि तत्पुरुष वचन स्वीकार करने पर भी बहुव्रीहि समास को निवारण किया नहीं जा सकता है, जिससे कि पाक्षिक स्वर प्रसक्त न हो। इस तरह तत्पुरुष वादी को भी 'ग्रामगतः' अरण्यगतः' आदि ऐसे प्रयोगों में अन्तोदात्तत्व तथा पूर्वपरप्रकृति स्वरत्व अपरिहार्य ही होगा। इस तरह अहीनवाची द्वितीयान्त का समास-विधान बहुव्रीहि से गतार्थ हो जाने के कारण निष्प्रयोजन है। अतएव 'अहीने द्वितीया' से पूर्वपद प्रकृतिस्वर का विधान भी निष्प्रयोजन ही है। बहुव्रीहि प्रयुक्त पूर्वपद प्रकृति स्वरत्वेनैव गतार्थ हो गया। इसी आक्षेप के समाधान में प्रकृत ज्ञापन भाष्य में उपन्यस्त है—**एवं तर्हि सिद्धे सति यत्तत्पुरुषं शास्ति, तज्ज्ञापयत्याचार्यः 'समानार्थे केवलं विग्रहभेदाद्यत्र तत्पुरुषः प्राप्तोति बहुव्रीहिश्च तत्र तत्पुरुष एव भवति इति।'** अर्थात् समान अर्थ में जहां तत्पुरुष एवं बहुव्रीहि दोनों प्राप्त हो, वहां, तत्पुरुष ही समास होता है। इस ज्ञापन का यह प्रयोजन होगा कि :राजा का मित्र' इस अर्थ में राज्ञः सखा=राजसखः तत्पुरुष ही होगा। 'राजा सखा अस्य' इस प्रकार बहुव्रीहि समास नहीं होगा। इस तरह कष्टश्रितः इत्यादि प्रयोगों में बहुव्रीहि न होने से 'अहीने द्वितीया' से पूर्वपद प्रकृतिस्वर हुआ। पूर्वपद कष्ट शब्द है, वह 'निष्ठा च द्व्यजनात्' सूत्र से आद्युदात्त है। अतः 'कष्टं श्रितः' यह समास आद्युदात्त सिद्ध हुआ। 'कष्टंश्रितमनेन' विग्रह में वाक्य ही रहेगा। समास नहीं होगा। यही भाष्य का तात्पर्य है।

वस्तुतस्तु तत्पुरुष समास बहुव्रीहि से गतार्थ भी नहीं है। दोनों में शब्द भेद तथा अर्थभेद के होने से परस्पर गतार्थत्व संभव नहीं है। बहुब्रीहि में समासान्त 'कप्' प्रत्यय की प्रसक्ति संभव होने से 'कष्टश्रितकः' शब्द संभव है। तत्तुरुष में 'कष्टश्रितः' यही प्रयोग होगा। बहुव्रीहि तत्पुरुष में अथभेद भी है—जैसे 'ग्रामगतः' इस विग्रह में शब्दशक्ति वैचित्र्यात् गमनक्रियाविशिष्ट ही कर्ता प्रतीयमान हो रहा है जबकि बहु गतः ग्रामोऽनेन इस विग्रह में क्रिया की परिसमाप्ति लक्षित होती है। इस तरह तत्पुरुष की गतार्थता बहुव्रीहि से संभव ही नहीं है। अतः तत्पुरुषवचन की भी आवश्यकता है ही। इस तरह प्रकृत ज्ञापन भी अनावश्यक ही है।

२. विकृतिश्चतुर्थ्यन्ता प्रकृत्या सह समस्यते।

चतुर्थी तदर्थार्थबलिहितसुखरक्षितैः—सूत्र पर भाष्य में यह विचार किया गया कि तदर्थ शब्द से चतुर्थ्यन्त शब्दवाच्य के लिए जो हो, तद्वाची सुबन्त मात्र का ग्रहण किया जायेगा तो 'रन्धनाय स्थाली' 'अवहननाय उलूखलम्' इत्यादि विग्रहवाक्यस्थल में भी समास होना चाहिए। क्योंकि चतुर्थ्यन्त पद वाच्य रन्धनक्रिया के लिए ही स्थाली है, अवहनन क्रिया के लिए ही

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उलूखल भी है। उक्त रीति से **'चतुर्थ्यन्तं तदर्थवाचिना सुबन्तेन सह समस्यते'**, इस वाक्यार्थ को लेकर 'रन्धनाय स्थाली' इत्यादि स्थल में समास अवश्य ही प्राप्त है। इस तरह तदर्थ मात्र को लेकर सूत्र में अतिव्याप्ति दोष स्पष्ट है। यदि प्राचीन आचार्यों के अनुसार यहां 'विकृतिः प्रकृत्या' इस तरह का न्यासान्तर स्वीकार किया जाय तो 'अश्वाय घास' अश्वघासः इत्यादि प्रयोगों की सिद्धि के लिए पृथक् समास का उपसंख्यान आवश्यक होगा। इस तरह प्राचीनानुसारी न्यास में स्पष्ट अव्याप्ति दोष है इस प्रकार इस सूत्र में अतिव्याप्ति के निवारणार्थ 'विकृतिः प्रकृत्या' यह न्यासान्तर भी व्यक्तव्य है। **'अश्वघासादीनामुपसंख्यानम्'** यह उपसंख्यान भी अव्याप्ति परिहारार्थ अवश्य ही कर्तव्य है। अन्यथा इस सूत्र में अव्याप्ति अतिव्याप्ति का परिहार संभव नहीं होगा। इस आक्षेप के समाधान में इस ज्ञापन का उपयोग किया गया है। 'यत्तावदुच्यते **विकृतिः प्रकृत्येति वक्तव्यमिति। न वक्तव्यम्। आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति—विकृतिश्चतुर्थ्यन्ता प्रकृत्या सह समस्यते इति। यदयं बलिरक्षितग्रहणं करोति'**। अभिप्राय यह है कि यदि चतुर्थ्यन्त का तदर्थमात्र वाची सुबन्त के साथ समास किया जाये तो प्रकृत सूत्र में बलि तथा रक्षित शब्द का पाठ व्यर्थ हो जायेगा, क्योंकि 'यो महाराजाय बलि। स महाराजार्थो भवति—इस प्रकार तदर्थ को ही लेकर महाराजबलिः आदि प्रयोगों में चतुर्थी समास सिद्ध हो जायेगा। बलि तथा रक्षित शब्द का ग्रहण सर्वथा व्यर्थ ही हैं। यही व्यर्थ होकर ज्ञापित कर रहा है कि विकृति वाची चतुर्थन्त ही प्रकृतिवाची के साथ समस्यमान होता है। न कि तदर्थमात्रवाची के साथ समस्यमान हो सकता है। यदि विकृतिवाची चतुर्थ्यन्त का समास प्रकृति वाची के साथ होगा तभी बलि तथा रक्षित का ग्रहण सार्थक हो सकेगा। अन्यथा नहीं। जो अश्वघासादि में अव्याप्ति दिखाई है वह भी ठीक नहीं है। क्योंकि अश्वघासादि की 'अश्वस्यघासः=अश्वघासः' इस प्रकार षष्ठी समास द्वारा भी सिद्धि हो जायेगी। क्योंकि तादर्थ्य संबन्ध के विषय में भी संबन्ध सामान्य विवक्षा में षष्ठी अनुपपन्न नहीं ही है। यदि यह कहा जाये कि स्वरभेद होगा चतुर्थी समास से 'चतुर्थीतदर्थे' सूत्र से पूर्वपद प्रकृति स्वर प्राप्त होगा षष्ठी समास में अन्तोदात्त की प्रसक्ति होगी। तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि यहां चतुर्थी समास में भी अन्तोदात्तत्व ही प्राप्त होगा। यह भी आचार्य की प्रवृत्ति से ही ज्ञापित है। 'चतुर्थी तदर्थे' सूत्र से पृथक् जो अर्थे' 'क्ते च' सूत्रों द्वारा 'देवार्थम्' गोहितम्', प्रयोगों के लिए पुनः पूर्वपदप्रकृति स्वर का विधान किया गया है वह ज्ञापित कर रहा है कि **विकृतिश्चतुर्थ्यन्ता प्रकृतिस्वरा भवति न चतुर्थीमात्रम्** इति। अन्यथा 'चतुर्थीतदर्थे' से ही देवार्थम्, गोहितम् इन प्रयोगों में भी पूर्वपदप्रकृति स्वर की सिद्धि हो जाती, 'अर्थे' 'क्ते च' दोनों सूत्र व्यर्थ हो जाते अतः तदर्थ चतुर्थी समास तथा पूर्वपद प्रकृतिस्वरत्व दोनों ही प्रकृतिविकृतिभाव में ही प्रवृत्त होंगे। अन्यत्र चतुर्थी समास में भी अन्तोदात्त ही इष्ट है। अतः 'अश्वघासः' आदि प्रयोग में षष्ठी समास होने पर भी कोई अनुपपत्ति नहीं होगी। अतिव्याप्ति तथा अव्याप्ति दोष की असिद्धि होने से पाणिनिकृत न्यास सर्वथा निर्दोष ही है। यही भाष्यकार का तात्पर्य है।

३. भवति वै प्रधानस्य सापेक्षस्यापि समास इति।

'उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे' सूत्र के भाष्य में सामान्याप्रयोगे ग्रहण को लेकर विचार किया गया है कि 'पुरुषोऽयं व्याघ्र इव शूरः' प्रयोग में, उपमेय. उपमान के सामान्यधर्म

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शूरत्व का प्रयोग कर देने से पुरुष तथा व्याघ्र का समास नहीं होता है । यदि सामान्य धर्म का प्रयोग नहीं किया गया हो तभी 'पुरुषो व्याघ्र इव' विग्रह में 'पुरुषव्याघ्रः' समस्त प्रयोग होगा । ऐसी स्थिति में सामान्याप्रयोगे' ग्रहण की कर्तव्यता पर आक्षेप किया गया है— 'सामान्याप्रयोग इति शक्यमवक्तुम्' भाव यह है कि सामान्य धर्म का प्रयोग करने पर 'पुरुषो व्याघ्र इव शूरः' इत्यादि स्थल में पुरुष शब्दार्थ के शूर पदार्थान्वयी होने से सामर्थ्यहीन होने के कारण ही समास की प्राप्ति नहीं होगी । क्योंकि वृत्तिघटक पदार्थ से अतिरिक्त पदार्थ में अन्वयि होने के कारण पुरुषपदार्थ सापेक्ष हो गया । 'सापेक्षमसमर्थं भवति' इस सिद्धान्त के अनुसार सामान्य धर्म के प्रयोग की स्थिति में सामर्थ्याभावादेव समास प्राप्त नहीं हैं । फिर 'सामान्याप्रयोगे' ग्रहण सूत्र में व्यर्थ ही है-- इसी आक्षेप के समाधान में प्रकृत ज्ञापन का आश्रयण किया गया है **'एवं तर्हि सिद्धे सति यद् सामान्याप्रयोगे इति प्रतिषेधं शास्ति, तज्ज्ञापयत्याचार्यो—भवति वै प्रधानस्य सापेक्षस्यापि समास इति'** भाव यह है कि यही 'सामान्याप्रयोगे' ग्रहण व्यर्थ होकर यह ज्ञापित कर रहा है कि विशेष्यार्थ वाची शब्द के अर्थान्तरान्वयी होने पर भी समास होता ही है । अतएव राजपुरुषोभिरूपः, राजपुरुषोदर्शनीयः इत्यादि प्रयोग 'राज्ञः पुरुषोभिरूपः' राज्ञः पुरुषो दर्शनीयः' इस विग्रह में सिद्ध होते हैं । अन्यथा यहां भी पुरुष दर्शनीय पदार्थ के अभिरूपार्थ में सापेक्ष होने के कारण समास नहीं ही होगा । अतः उक्तार्थ का ज्ञापन परमावश्यक है जो प्रकृतसूत्रस्थ 'सामान्याप्रयोगे' ग्रहण से ज्ञापित हो गया है ।

वस्तुतस्तु विशेष्य के प्रधान होने के कारण अनेक विशेषण का योग होने पर भी उसके प्राधान्य में कोई विरोध न होने के असामर्थ्य की शंका ही संभव नहीं है । अतः समास में कोई बाधा नहीं है ।

अतः न्याय सिद्ध अर्थ में ही प्रकृत ज्ञापन द्वारा प्रमाण का प्रदर्शन मात्र किया गया है । यह कैयट में स्पष्ट है ।

४. यथाजातीयकं पूर्वपदं तथा तथा जातीयकेन पूर्वपदेन समासो भवति इति

'युवाखलतिपलितवलिनजरतीभिः सूत्र के भाष्य में 'अयुक्तोयं निर्देशः कह कर इस सूत्र में पुल्लिंग युवा का 'जरती' के साथ समानाधिकरण निर्देश अनुपपन्न बताया गया है । क्यों कि पुलिंग का स्त्रीलिंग के साथ समानार्थबोधकत्व लक्षण सामानाधिकरण उपपन्न नहीं हो सकता । अतः 'युवन्' का 'जरती' शब्द के साथ सामानाधिकरण्याभावात् समास विधान भी असंगत ही है । एवं, सूत्र में 'युवा खलतिपलितवलिन जरतीभिः' ऐसा निर्देश सर्वथा अयुक्त ही है ? इसी आक्षेप के परिहार में प्रकृत ज्ञापन का समाश्रयण किया गया है— **एवं तर्हि ज्ञापयत्याचार्यो —यथाजातीयकमुत्तरपदं तथा जातीयकेन पूर्वपदेन समासो भवति इति** । भाव यह है कि यही पुलिंग की स्त्रीलिंग के साथ सामानाधिकरण्यान्यथानुपपत्ति ही ज्ञापित कर रही है कि यालिङ्गक उत्तरपद होगा, तल्लिङ्गक ही पूर्वपद के साथ समास होता है । अतः 'युवतिश्चासौ जरती च' इसी विग्रह में समास द्वारा युवजरती प्रयोग निष्पन्न होगा । यद्यपि 'युवतिर्जरती',

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दोनों शब्दों के विरूद्धवयोवाचित्वेन सामानाधिकरण्य की पुनः अनुपपत्ति ही नहीं जा सकती है तथापि जरती (वृद्धा) में ही 'युवति' के धर्मो की उपलब्धि एवं 'युवति' में ही व्याघ्रादिवश 'जरती' के धर्मो के सद्भाववश सामानाधिकरण के उपपादन में कोई बाधा नहीं होगी। इस तरह प्रकृत ज्ञापन की उपपत्ति के लिए प्रकृत सूत्र से उक्त निर्देश की सार्थकता सिद्ध हो जाने के कारण **'प्रातिपदिकग्रहणे लिंगविशिष्टस्यापि ग्रहणम्'** यह परिभाषा भी प्रमाणित हो गई। अतः इसी परिभाषा द्वारा 'युव' शब्द से 'युवति' का ग्रहण कर सामानाधिकरण्य की उपपत्ति की जा सकती है। प्रकृत सूत्रस्थ भाष्य का विचार निःसार है ऐसी आशंका नहीं की जा सकती है। क्योंकि **'प्रातिपदिकग्रहणे लिंगविशिष्टस्यापि ग्रहणम्'**–यह परिभाषा भी एतज्ज्ञापकसिद्ध ही है। स्वतन्त्र वचन रूप से यह परिभाषा कर्तव्य नहीं है। अतएव भाष्य में कहा गया है— **किमेतस्य ज्ञापने प्रयोजनम्? प्रातिपदिक ग्रहणे लिंगविशिष्टस्यापिग्रहणं भवतीत्येषा परिभाषा न कर्तव्या भवति।** भाव यह है कि इसी परिभाषा से सिद्धि मान कर प्रकृत ज्ञापन के प्रयोजन पर आक्षेप किया गया **'किमेतस्य ज्ञापने प्रयोजनम्'**? उक्त परिभाषा की प्रकृत ज्ञापन से ही सिद्धि मानकर समाधान दिया गया कि **'एषा परिभाषा न कर्तव्या'** इति। उद्योत में नागेश भट्ट ने इसे स्पष्ट किया है।

५. अवयवविधौ सामान्यविधिर्न भवति।

'द्वितीयतृतीयचतुर्थतुर्याण्यन्यतरस्याम्' सूत्र में 'अन्यतरस्याम्' ग्रहण की सार्थकता पर विचार करते हुए भाष्य में कहा गया है कि 'अन्यतरस्याम्' ग्रहण समासाभावपक्ष में 'द्वितीयं भिक्षाया' इत्यादि वाक्य के प्रयोगार्थ तो हो नहीं सकता है क्यों कि अधिकार प्राप्त विभाषा से वाक्य भी होगा ही। यदि इस सूत्र से विहित एकदेशिसमास के अभावपक्ष के षष्ठीसमास द्वारा 'भिक्षा-द्वितीयम्' प्रयोग के लिए 'अन्यतरस्याम्' ग्रहण की आवश्यकता कही जाये तो यह भी संभव नहीं है क्योंकि यह एकदेशिसमास भी विकल्प–विहित है। षष्ठीसमास भी विकल्पविहित ही है। दोनों वचनबल से प्राप्त ही है। इस तरह 'अन्यतरस्याम्' ग्रहण की सार्थकता के आक्षेप पर भाष्य में यह उत्तर दिया गया है— **द्वितीयादीनां विभाषा प्रकरणे विभाषा वचनं ज्ञापकमवयवविधाने सामान्यविधानाभावस्य'** अर्थात् विभाषा प्रकरण में 'द्वितीयतृतीयचतुर्थतुर्याण्यन्यतरस्याम्' सूत्र, में पुनः जो विभाषा वचन किया गया है इसके द्वारा आचार्य ज्ञापित कर रहे हैं कि अवयव विधि यानी विशेष विधि की प्रवृत्ति होने पर सामान्य विधि प्रवृत्त नहीं होतीं है। अतएव 'भिनत्ति' 'छिनत्ति' में 'श्नम्' प्रत्यय के विधान के अनन्तर 'शप्' प्रत्यय प्रवृत्त नहीं हुआ। यद्यपि प्रकृत ज्ञापन के बिना भी 'येननाप्राप्ति' न्याय से सामान्य-विशेष विधि में बाध्य-बाधकभाव सिद्ध है तथापि दोनों विकरणों के भिन्नदेशस्थ होने से परस्पर विरोध के अभाव के कारण यहां बाध्यबाधक संभव नही है विरोध होने पर ही सामान्यविशेष में बाध्य-बाधकभाव होता है – यही वार्तिक का तात्पर्य है। अतः प्रकृत ज्ञापन वार्तिकानुसार आवश्यक ही है। यदि 'श्नम्' आदि विकरणों को शबादेशरूप मान कर 'शप्' का निवर्तक स्वीकार कर लिया जाये तो प्रकृत ज्ञापन की कोई आवश्यकता नहीं रह जायेगी। यह कहा जाये तो ऐसी स्थिति में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रकृत 'अन्यतरस्याम्' ग्रहण से आचार्य द्वारा यह ज्ञापित अर्थ का स्वरूप यह वक्ष्यमाण होगा :—

६. यत्रोत्सर्गापवादौ विभाषा तत्रापवादेन मुक्ते उत्सर्गो न भवति, इति ।

अर्थात् जहां उत्सर्ग तथा अपवाद दोनों वैकल्पिक हों वहां अपवाद के अभाव पक्ष में उत्सर्ग की प्रवृत्ति नहीं होती है । इस तरह के ज्ञापन का प्रयोजन यह होगा कि 'प्राङ्मुखी' प्रयोग में 'दिक्पूर्वपदान्ङीप्' सूत्र द्वारा— 'स्वाङ्गाच्चोपसर्जनादसंयोगोपधात्' सामान्य सूत्र द्वारा प्राप्त 'ङीष्' को बाध कर 'ङीप्' प्रत्यय की प्रवृत्ति होने पर इसके अभाव पक्ष में पुनः ङीप् की प्रवृत्ति नहीं होती है किन्तु 'अजाद्यतष्टाप्' से टाप् कर 'प्राङ्मुखा' प्रयोग होता है । यहां उत्सर्ग अपवाद दोनों सूत्रों में 'अस्वाङ्गपूर्वपदाद्वा' सूत्र से वा की अनुवृत्ति हुई है । इसी तरह 'अर्धपिप्पली' आदि प्रयोगों में 'अर्धं नपुंसकम्' सूत्र के अभाव पक्ष में षष्ठी समास की प्रवृत्ति नहीं होती है । 'उन्मत्तगङ्गम्', 'लोहितगङ्गम्' आदि प्रयोगों में अव्ययीभाव समास के अभावपक्ष बहुव्रीहि समास प्रवृत्ति नहीं होता है । 'दाक्षिः', 'प्लाक्षिः' प्रयोगों में 'अत् इञ्' से इञ् प्रत्यय के अभाव पक्ष में 'तस्यापत्यम्' से अण् प्रत्यय भी नही प्राप्त होता है, किन्तु सर्वत्र अपवाद के अभाव पक्ष में वाक्य का ही प्रयोग होता है ।

इस अवस्था में यह आशंका हो सकती है कि इस तरह ज्ञापित होने पर तो 'उपगोरपत्यम्' विग्रह में 'तस्यापत्यम्' सूत्र से तद्धित अण् प्रत्यय द्वारा 'औपगवः प्रयोग सिद्ध होने पर तद्धित के अभाव पक्ष में षष्ठी समास द्वारा 'उपग्वपत्यम्' प्रयोग भी नहीं हो सकेगा । इस शंका का समाधान भाष्य में 'तस्यापत्यम्' सूत्र में 'दैवयज्ञिशौचिवृक्षिसात्यमुग्नि काण्डेविद्धिभ्योऽन्यतरस्याम्' सूत्र से 'अन्यतरस्याम्' की अनुवृत्ति तथा 'समर्थानां प्रथमाद्वा से 'वा' की अनुवृत्ति कर दो विभाषा द्वारा किया है । एक विभाषा द्वारा एकार्थी भाव वृत्ति में ही विकल्प स्वीकार किया गया तथा दूसरी अन्यतरस्याम् से सिद्ध विभाषा द्वारा एकार्थी-भाव पक्ष में ही अपवादभूत तद्धितवृत्ति का विकल्प स्वीकार किया गया है । अतः एकार्थी-भावविवक्षा में तद्धित तथा समास दोनों प्रयोग हो सकते हैं । इसी प्रकार प्रकृत स्थल में भी दो विकल्प से एकार्थीभाव पक्ष में ही एकदेशिसमास तथा षष्ठी समास दोनों सिद्ध होने के लिए 'द्वितीय तृतीयचतुर्थतुर्याण्यन्यतरस्याम्' सूत्र में 'अन्यतरस्याम्' ग्रहण सार्थक ही है । अतएव यहाँ षष्ठीसमास पक्ष में 'भिक्षाद्वितीयम्' प्रयोग में 'पुरणगुण सुहितार्थसदव्ययतव्यसमानाधिकर-णेन' सूत्र द्वारा 'पूरणप्रत्ययान्त' के साथ समास का निषेध भी नहीं प्रवृत्त होता है । अन्यथा, 'अन्यतरस्याम्' ग्रहण ही व्यर्थ हो जायेगा । इस प्रकार 'अन्यतरस्याम्' ग्रहण सामर्थ्यात् पूरण निषेध की प्रवृत्ति के अभाव के लिए 'अन्यतरस्याम्' ग्रहण सूत्र में सर्वथा निरवद्य ही है ।

७. अनर्थोयोगयोर्निवृत्तं सुप् सुपेति ।

'उपपदमतिङ्' सूत्र से सुपा की अनुवृत्ति से ही तिङन्त के साथ समासाभाव की सिद्धि होने पर 'अतिङ्' ग्रहण की क्या आवश्यकता है ! ऐसा विचार भाष्य में प्रस्तुत किया गया है ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यदि 'अतिङ्' अर्थग्रहण द्वारा तिङर्थ भूत क्रिया वाचक शब्द के साथ समास के निषेध के लिए 'अतिङ्' ग्रहण आवश्यक माना जा सकता है तो यह भी कहना संभव नहीं है क्योंकि क्रिया-वाची धातु के साथ भी सुबन्तत्व के अभाव से ही समास प्राप्त नहीं होगा। कृदन्त शब्द स्थल में सुबन्तत्व की संभावना होने पर भी कृदन्त शब्द में क्रियावाचकत्व नहीं स्वीकार किया जा सकता है। शब्द स्वभावात् कृदन्तस्थल में क्रिया भी द्रव्यवत् ही भासमान होती है। 'कृदभिहितो भावोद्रव्यवद् भवति' यह सिद्धान्त है। इस तरह इस सूत्र में 'अतिङ्' ग्रहण अना-वश्यक ही है ? इसी विचार के प्रसंग में प्रकृतज्ञापन का उपन्यास किया गया है। **एवं तर्हि सिद्धे सति यदतिङिति प्रतिषेधं शास्ति तज्ज्ञापयत्याचार्योऽनयोर्योगयोर्निवृत्तं सुप्सुपेति' यहां 'अन-योर्योगयोः'** द्विवचनान्त निर्देश से योगविभाग द्वारा अतिङ् को सूत्रद्वय से संबद्ध समझना चाहिए। पूर्व सूत्र 'कुगतिप्रादयः' में 'गतिः' को विभक्त कर तथा 'उपपदमतिङ्'सूत्र में 'अतिङ्' को विभक्त करके 'अतिङ्' को दोनों सूत्रों 'गतिः' तथा 'उपपदम्' से संबद्ध कर दिया गया। इस तरह 'गति' तथा 'उपपद' के समास को अतिङन्तत्व विधान द्वारा इन दोनों सूत्रों से 'सुपा' को निवृत्त समझना चाहिए। गति तथा उपपद का समास केवल समर्थ के साथ ही किया जायेगा। इस तरह समर्थ तिङन्त के साथ समास की व्यावृति के लिए 'अतिङ्' ग्रहण साथक सिद्ध हुआ। इस ज्ञापन का प्रयोजन यह हुआ है कि **'गतिकारकोपपदानां कृद्भिः सहसमासवचनं प्राक् सुबुत्पत्तेः' यह** परिभाषा पृथक् से कर्तव्य नहीं होगी। इन दोनों सूत्रों मे 'सुपा' की निवृत्ति हो जाने से 'गति' तथा 'उपपद' का समास उत्तरपद से सुबुत्पत्ति से पहले ही सिद्ध होगा। कारक का समास 'कर्तृकरणेकृता वहुलम्' सूत्र से किया जाता है। तृतीयान्त का समास 'सुपा' की अनुवृत्ति से तिङन्त के साथ तो प्रसक्त ही नहीं है, कृदन्त के ही साथ समास की प्रस-क्ति होगी। ऐसी स्थिति में कृदन्त के साथ समास सिद्ध होने पर भी जो इस सूत्र में 'कृता' ग्रहण किया गया है वह तत्सामर्थ्यात् कृदन्तावस्था में सुबुत्पत्ति के बिना ही समास की सिद्धि के लिए ही है। इस प्रकार परिभाषा की पृथक् कर्तव्यता नहीं रह जाती है। इस परिभाषा का प्रयोजन 'व्याघ्री', अश्वक्रीती, 'कच्छपी' इत्यादि प्रयोगों में सुबुत्पत्ति से पहले समास करने पर क्रम से 'जातेरस्त्री विषयादयोपधात्' सूत्र से ही जातिवाचकत्वेनैव 'ङीष्' सिद्धि ही फल है। जो 'पुंयोगोदाख्यायाम्' सूत्र के भाष्य में तथा अन्यत्र परिभाषेन्दुशेखर आदि व्याकरग्रन्थों में भी स्पष्ट है। 'कर्तृकरणेकृता बहुलम्' सूत्र में वहुलग्रहणात् कहीं इष्टिवश कारक का कृदन्त के साथ समास सुबुत्पत्यनन्तर भी हो सकता है। तरह 'धनक्रीता' प्रयोग भी उपपन्न ही है।

८. बहूनामपि समस्ते भवति।

'अनेकमन्यपदार्थे' २/२/२४ सूत्र के भाष्य में सूत्र घटक पदों की आवश्यकता के विचार के प्रसंग में अनेकग्रहण की आवश्यकता का विचार भी किया गया है। उसी प्रसंग में कहा गया है कि यदि अनेक ग्रहण नहीं किया जायेगा तो केवल 'अन्यपदार्थे' इतना ही कहने पर अन्यपदार्थ में विद्यमान एक पद भी में बहुब्रीहि समास होने लगेगा। 'सर्पिषाऽपि स्यात्', इत्यादि वाक्यों में 'अपि' शब्द बिन्दु पद के अर्थ में विद्यमान होने से अपि शब्द की भी बहुब्रीहि संज्ञा प्रसक्त हो जायेगी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इससे समसे समासान्त 'कप्' प्रत्यय की प्रसक्ति होने लगेगी। अतः एकपद में बुहुव्रीहि की अति-प्रसक्ति के वारणार्थ 'अनेकम्' पद सूत्र में आवश्यक है। आगे इस प्रयोजन को इस सूत्र में 'सुप्सुपा' की अनुवृत्ति द्वारा निराकरण कर दिया गया है। 'सुप्सुपा' की अनुवृत्ति से सुवन्त सुवन्त का ही समास हो सकता है। एक पद का समास प्राप्त ही नहीं होगा। वस्तुतः एक पद के अर्थ को लेकर एकार्थीभाव ही संभव नहीं होगा। अतः अनेक ग्रहण का प्रयोजन एकपद-समास-व्यावृत्ति नहीं हो सकता है। इस तरह इस प्रयोजन के निराकृत होने पर बहुत पदों के समासार्थ अनेक ग्रहण की आवश्यकता भाष्य में बताई गई है **इदं तर्हि प्रयोजनम् बहूना-मपि समासो यथा स्यात्—सुसूक्ष्मजटकेशेन, सुनताजिनवाससा इत्यादि प्रयोग, शोभनाः सूक्ष्मा जटाः केशाश्च यस्य तेन, 'शोभनं नतम् अजिनं वासो यस्य तेन,** 'इत्यादि विग्रह में अनेक पदों के समास द्वारा करने के लिए अनेक ग्रहण की आवश्यकता है ही। इसी तरह 'चार्थे द्वन्द्वः' सूत्र द्वारा भी 'प्लक्षन्यग्रोधधव खदिरपलाशाः' इत्यादि प्रयोगों की सिद्धि के लिए अनेक पदों के द्वन्द्व समास पर भी अनेक ग्रहण आवश्यक ही है। इस अनेक ग्रहण के प्रयोजन को बताकर इस प्रयोजन की भी अन्यथासिद्धि के लिए प्रकृत ज्ञापन आश्रयण या भाष्य में लिया गया—**'एत-दपि नास्ति प्रयोजनम्—आचार्य प्रवृत्तिर्ज्ञापयति' बहूनामपि समासो भवतीति, यदयम् उत्तरपदे द्विगुँशा ित'** भाव यह है कि **'तद्धितार्थोत्तरपद समाहारे च'** सूत्र द्वारा जो उत्तर पद परे रहते 'पंचगवधनः' आदि प्रयोगों में द्विगु समास का विधान आचार्य ने किया है, यही ज्ञापित कर रहा है कि बहुत पदों का भी समास होता ही है। यद्यपि इस ज्ञापन में यह दोष है कि यदि सामान्यतः बहुत पदों का समास किया जायेगा तो तत्पुरुष समास भी बहुत पदों का होने लगेगा तथापि तत्पुरुष विधायक सूत्रों में विशेष पूर्वपदोत्तरपद का निर्देश होने से कोई दोष नहीं होगा। द्वितीयान्त श्रितादि के साथ ही समास का विधान किया गया है। द्वितीयान्त समुदाय में प्रत्यय ग्रहण परिभाषा द्वितीयान्तत्व संभव न होने से समास की प्रसक्ति नहीं हो सकती है। अनेक ग्रहण की कोई विशेष आवश्यकता नहीं है। स्पष्ट प्रतिपत्यर्थ ही अनेक ग्रहण सूत्र में किया गया है।

यद्यपि प्रथमान्त अनेकग्रहण से प्रथमान्त सुप् मात्र का अनुवर्तन, तद् द्वारा 'प्रथमानि-र्दिष्टं समास उपसर्जनं' सूत्र बहुव्रीहि घटक पदों की उपसर्जन संज्ञा के लिए अनेकग्रहण सार्थक हो सकता है ताकि 'चित्रगुः शबलगुः' आदि प्रयोगों में 'गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य' सूत्र द्वारा ह्रस्व की प्राप्ति हो सके तथापि 'चित्रगु.' आदि प्रयोगों में उपसर्जन संज्ञा की सिद्धि 'एकविभक्ति चापूर्व निपाते' सूत्र द्वारा ही हो जायेगी। एतदर्थ अनेक ग्रहण की कोई आवश्यकता नहीं है समासा-र्थापेक्षया बहुव्रीहि घटक पद नियतैकविभक्ति प्रथमान्त मात्र होने के कारण एकविभक्ति चापू-र्वनिपाते सूत्र से ही उनकी उपसर्जन संज्ञा सिद्ध हो सकती है। तद्द्वारा ही 'चित्रगुः' आदि प्रयोगों में ह्रस्व की सिद्धि हो जायेगी।

इस तरह 'अने मन्यपदार्थे' सूत्र में अनेकग्रहण मन्दप्रयोजन ही है। यही भाष्य का तात्पर्य है।

६. भवत्यर्थशब्देन योगे चतुर्थीति।

चतुर्थी संप्रदाने -२:३/१३—सूत्र के भाष्य में तादर्थ्य में भी चतुर्थी के उपसंख्यान की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आवश्यकता बताई गई, ताकि 'यूपाय दारु', 'कुण्डलाय हिरण्यम्' आदि प्रयोगों में चतुर्थी की सिद्धि हो सके। विचारणीय है कि तादर्थ्य निर्देश की उपपत्ति कैसे हो? यदि 'तस्मै इदम्' इस विग्रह में चतुर्थ्यन्त का अर्थ शब्द के साथ समास से निष्पन्न तदर्थ शब्द से 'तदर्थस्य भाव:' विग्रह में तादर्थ्य निर्देश की उपपत्ति की जाय तो अन्योन्याश्रयता का प्रसंग होगा। क्योंकि निर्देशोत्तर ही चतुर्थी का उपसंख्यान होगा। उपसंख्यानोत्तर ही चतुर्थ्यन्त के समास द्वारा निर्देश को उपपत्ति होगी। इस तरह तादर्थ्य में चतुर्थी विधान से पूर्व तादर्थ्य निर्देश की उपपत्ति के लिए चतुर्थी विधायक कोई अन्य वचन भी आवश्यक हो रहा है, उसी वचन की कर्तव्यता को लेकर भाष्य में प्रश्न किया गया—**तर्त्तहि वक्तव्यम्**? उत्तर में कहा गया कि - **'न वक्तव्यम् – आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति—भवति ह्यर्थशब्देन योगे चतुर्थीति, यदयं चतुर्थीतदर्थार्थेति चतुर्थ्यन्तस्यार्थशब्देन सह समासं शास्ति**। भाव यह है कि चतुर्थीतदर्थार्थबलिहितसुखरक्षितैः सूत्र से भी जो चतुर्थ्यन्त का अर्थ शब्द के साथ समास विधान किया गया है, यही ज्ञापित कर रहा है कि अर्थशब्द के योग में चतुर्थी विभक्ति होती है अन्यथा अर्थ शब्द के साथ चतुर्थ्यन्त का समास विधान ही अनुपपन्न हो जाता। यद्यपि अर्थ शब्द के योग में षष्ठयन्त का भी समास देखा गया है "गुरोरिदं गुर्वर्थम्" इत्यादि। इस प्रकार अर्थशब्द के योग में चतुर्थ्यन्त के समास का ही नियम नहीं होने से प्रकृत ज्ञापन सिद्ध नहीं हो सकता तथापि तादर्थ्य संबन्ध की विवक्षा में चतुर्थी ही होती है, ऐसा स्वीकार किया गया है। 'गुरोरिदं गुर्वर्थम्' प्रयोग में संबन्ध सामान्य को लेकर ही षष्ठी की गई है। अत: तादर्थ्य लक्षण संबन्ध विशेष की विवक्षा में अर्थशब्द के योग में चतुर्थी ही होगी। प्रकृत ज्ञापन सर्वथा निरवद्य ही है। इस प्रकार तादर्थ्य निर्देश की उपपत्ति हो जाने पर तादर्थ्य में चतुर्थी के उपसंख्यान की कर्तव्यता 'यूपाय दारु', 'कुण्डलाय हिरण्यम्' प्रयोग के लिए आवश्यक हो गई। यदि कहा जाये कि तादर्थ्य से चतुर्थी का उपसंख्यान किया जायेगा तो 'संप्रदाने चतुर्थी' व्यर्थ ही हो जायेगी क्योंकि 'यो ह्युपाध्यायाय गौर्दीयते उपाध्यायार्थ: स भवति' अर्थात् उपाध्याय को दी जाने वाली गौ भी उपाध्यायार्थ ही होगी। इस तरह तादर्थ्य की विवक्षा में ही यहां चतुर्थी सिद्ध हो सकती है। तो यह ठीक नहीं है क्योंकि 'रूच्यर्थानां प्रीयमाण:' आदि सूत्रों से विहित संप्रदान में में चतुर्थी की सिद्धि के लिए संप्रदान चतुर्थी भी आवश्यक ही है ताकि 'छात्राय रोचते' आदि प्रयोग निष्पन्न हो सकें। इस तरह उपसंख्यान की आवश्यकता होने पर वह कर्तव्य है या नहीं, इस विमर्श को लेकर प्रश्न हुआ कि **'तत्तह्र्युपसंख्यानं कर्तव्यम्**? उत्तर दिया गया, **'न कर्तव्यम्, आचार्य प्रवृत्तिर्ज्ञापयति—भवति हि तादर्थ्ये चतुर्थीति**। भाव यह है कि 'चतुर्थी तदर्थार्थ० 'सूत्र से जो चतुर्थ्यन्त का तदर्थ यानी चतुर्थ्यन्तार्थार्थ वाची सुबन्त के साथ समास का विधान कर 'यूपाय दारु' यूपदारु आदि प्रयोग सिद्ध किए गए हैं। यही ज्ञापित कर रहा है कि तादर्थ्य की विवक्षा में चतुर्थी विभक्ति होती है। अन्यथा 'यूपाय दारु' यह वाक्य ही संभव नहीं होता। समास विधान सर्वथा अनुपपन्न ही हो जायेगा।

इस तरह अर्थशब्द के योग में चतुर्थी विधानार्थ तथा तादर्थ्य संबन्ध की विवक्षा में चतुर्थी विधानार्थ प्रस्तुत दोनों ज्ञापन आवश्यक तथा निरवद्य ही हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१०. न कर्मादिविशिष्टे प्रथमा

'प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रे प्रथमा' सूत्र में मात्र ग्रहण की आवश्यकता के विचार के प्रसंग में यह बताया गया है कि 'कटं करोति' इत्यादि वाक्य स्थल में कर्मादि विशिष्ट अर्थ में प्रथमा न हो इसलिए मात्र ग्रहण किया गया है ताकि प्रातिपदिकार्थादि मात्र की विवक्षा में ही प्रथमा हो, तदधिक कर्मादि विशिष्ट अर्थ के रहने पर 'कटं करोति' वाक्य घटक कर शब्द से 'कृ' धातु निरूपित कर्मत्व से विशिष्ट अर्थ में प्रथमा न हो। इस प्रयोजन को लेकर पुनः विचार किया गया है कि कर्मादि अर्थ में द्वितीयादि विभक्तियां विहित है वे कर्मादि विशिष्ट अर्थ में प्रथमा का बाधक हो जायेंगी। भाव यह है कि 'कर्मणि द्वितीया' आदि सूत्रों के विषय में अर्थ नियम तथा प्रत्ययनियम दो तरह के नियम की व्याख्या होती हैं। उनमें अर्थ नियम पक्ष में 'कर्मणि द्वितीया एव' इस तरह की व्याख्या होगी अर्थात् कर्म अर्थ द्वियीया विभक्ति में ही नियता है कर्मादि अर्थ प्रथमा विभक्ति ही होगी। प्रथमा की अतिप्रसक्ति इन अर्थों में नहीं होगी। इस तरह अर्थ नियम पक्ष में मात्र ग्रहण अनावश्यक ही है। यद्यपि प्रत्यय नियम पक्ष में 'कर्मण्येव द्वितीया' ऐसी व्याख्या होने से द्वितीयादि प्रत्यय ही कर्मादि अर्थ में नियम होंगे। कर्मादि अर्थों में नियम नहीं होगा, उन अर्थों में प्रथमा भी प्रसक्त हो सकती है। । अतः कर्मादि अर्थों से प्रथमा की व्यावृत्त करने के लिए अवधारणार्थ मात्र ग्रहण आवश्यक है तथापि प्रस्तुत ज्ञापन से ही कर्मादिविशिष्ट अर्थ में प्रथमा की व्यावृत्ति की जा सकती है। मात्र ग्रहण प्रत्ययनियम पक्ष में भी आवश्यक नहीं है, इसी अभिप्राय से प्रकृत ज्ञापन का आश्रयण भाष्य में किया गया है— **'अथवाचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति न कर्मादिविशिष्टे प्रथमां भवति इति यदयं संबोधने प्रथमा शास्ति'**, अर्थात् 'संबोधने च' सूत्र द्वारा जो प्रातिपदिकार्थापेक्षया संबोधन अर्थ अधिक होने पर भी प्रथमा का विधान किया गया है, यही ज्ञापित कर रहा है कि प्रातिपदिकार्थमात्र में ही प्रथमा होती है। इससे अधिक कर्मादि अर्थ के सद्भाव में प्रथमा नहीं ही होती है। यदि प्रातिपदिकार्थ के सद्भाव मात्र को लेकर अधिकार्थ के सद्भाव में भी प्रथमा होती तो संबोधन में पुनः प्रथमाविधान व्यर्थ ही हो जाता। इस तरह प्रकृत ज्ञापन द्वारा प्रत्ययनियम पक्ष में भी कोई दोष नहीं होगा। मात्र ग्रहण अनावश्यक ही है। यद्यपि 'संबोधने च' सूत्र संबोधन प्रथमा को आमन्त्रित संज्ञा सिद्धि के लिए आवश्यक हो सकता है, अतः प्रकृत ज्ञापन संभव नहीं होगा तथापि 'संबोधने च' 'सामन्त्रितम्' सूत्रों में जो योग विभाग किया गया है उससे ही यह ज्ञापन हो जायेगा। अन्यथा 'संबोधने, आमन्त्रितम्' एक ही योग से आमन्त्रित संज्ञा सिद्ध हो जाती। 'संबोधने च' सूत्र को पृथक् करके जो प्रथमा का किया गया है, वह अनुपपन्न ही हो जायेगा। अतः मात्र ग्रहण के प्रयोजन के निराकरण के लिए प्रत्यय नियम पक्ष में प्रकृत ज्ञापन निरवद्य ही है।

११. सानुबन्धकस्यादेश इत्यकार्यं न भवति

'गाङ्लिटि' सूत्र से लिट् में इङ् धातु के स्थान में गाङ् आदेश का विधान किया गया है। इङ् धातु ङित् है, उसके स्थान में जो आदेश होगा, उसमें भी स्थानिवद्भावेन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ङित्व व्यवहार संभव है। पुनः 'गाङ्' आदेश में ङित्करण की क्या आवश्यकता है ? इस आक्षेप के समाधान के लिए भाष्य में ज्ञापन द्वारा सानुबन्धक स्थानों के आदेश में इत्संज्ञा प्रयुक्त-कार्याभाव का विधान किया गया है— **'ज्ञापकं वा सानुबन्धकस्यादेशवचने इत्कार्याभावस्य'** इति। अर्थात् सानुबन्धक के स्थान में जो आदेश होता है, उसमें इत्संज्ञा प्रयुक्त कार्य नहीं होता है, इसी अर्थ का ज्ञापक 'गाङ्' आदेश का ङित्करण है। यही इस भाष्य का तात्पर्य है। इस ज्ञापन का फल यह भाष्य में ही बताया है— 'चक्षिङः ख्याञ्' सूत्र से विधीयमान 'चक्षिङ्' के स्थान में जो 'ख्याञ्' आदेश है, उसमें ङित्व प्रयुक्त आत्मनेपद नहीं होता है। अतएव 'चख्यौ' 'ख्यास्यति' आदि प्रयोग सिद्ध हुआ है। इसी तरह लट् के स्थान में विहित 'शानच्' में 'टित आत्मनेपदानां टेरे' सूत्र से एत्व प्राप्त नहीं होता है। अतएव 'पचमानः', 'यजमानः' प्रयोग सिद्ध होते हैं। 'युवोरनाकौ सूत्र से 'यु' 'वु' के स्थान में विहित' अन, 'अक' में उगिल्लक्षण ङीप् की प्रसक्ति नहीं हुई। अतएव 'नन्दनः' नन्दना, कारकः कारिका, प्रयोग सिद्ध होते हैं। इस तरह यह ज्ञापन उपर्युक्त प्रयोगों की सिद्धि के लिए आवश्यक है।

वस्तुतः इन प्रयोगों में प्रकृत ज्ञापन का उपयोग होने पर भी कुछ प्रयोगों में दोष भी हो सकता है, जैसे, 'मिप्' के स्थान में विधीयमान 'तस्थस्थमिपां तांतंतामः' सूत्र से जो 'आमदेश' है उसमें मित्व प्रयुक्त कार्य नहीं होगा 'अकरवम्' 'असुनवम्' में मित्व के अभाव से 'सार्वधातुकमपित्' सूत्र से ङित्व व्यवहार द्वारा 'क्ङिति च' से गुण का निषेध होने लगेगा। इसी तरह 'वेद', 'वेत्थ' प्रयोगों में भी मित्वाभाव की प्राप्ति से ङित्वेन गुण का निषेध प्रसक्त होने लगेगा। इस प्रकार प्रकृत ज्ञापन में कुछ फल होने पर भी दोष की प्रसक्ति से यह ज्ञापन सर्वथा अकरणीय ही है। 'चक्षिङः ख्याञ् में ख्याञादेश के ञित्व' विधान सामर्थ्य से ही आत्मनेपद, परस्मैपद दोनों की सिद्धि हो जायेगी। **'प्रकृतानामात्मनेपदानां टेरेत्वं भवति'** इस वचन से 'शानच्' में एत्व की प्रसक्ति भी नही होगी क्यों कि 'तिङ्' विधायक सूत्र विहित प्रकृत आत्मनेपद के 'टि' को ही एत्व होगा 'युवोरनाकौ' के विषय में भी **'सिद्धंतु युवोरनुनासिकत्वात्'** यह वचन कहा ग ा हैं, इससे अनुनासिक यु, वु को ही स्थानी माना जाता है। उगित् स्थानी ही नहीं है। अतः 'नन्दना' आदि प्रयोगों में भी कोई दोष नहीं है। 'गाङ्' आदेश का ङित्करण भी 'गाङ्कुटादिभ्यो ञ्णिन्ङित्' सूत्र में विशेषणार्थ आवश्यक है। अन्यथा 'गाङ्' आदेश के न होने पर गाकुटादिभ्यो 'ञ्णिन्ङित्' सूत्र ही करना होगा। गा मात्र से 'इणो गा लुङि' सूत्र से विहित गादेश भी गृहीत होने लगेगा। इससे 'अगासाताम् ग्रामौ देवदत्तेन' इत्यादि प्रयोगों में सिच् के ङित्व की प्रसक्ति द्वारा 'घुमास्थागापाजहातिसां हलि' सूत्र से ईत्व की प्राप्ति होने लगेगी। अतः गाङ् आदेश ही गाङ् लिटि सूत्र में करना उचित है। ताकि ङित्वविधायक प्रकृत सूत्र में गाङ् का विशिष्ट प्रयोग हो सके। 'अगासाताम्' आदि प्रयोगों में अतिप्रसक्ति न हो। अतः प्रकृत ज्ञापन अनावश्यकत्वेन सदोषत्वेन च सर्वथा अकरणीय ही है।

१२. उत्पद्यन्ते अव्ययेभ्यः स्वादयः इति।

'अव्ययादाप्सुपः २.४.८२ सूत्र के भाष्य में अव्यय शब्दों से परे आप् सुप् के लुक् के प्रयोजन को लेकर विचार करते हुए स्वीकार किया गया है कि अव्यय शब्दों से लिङ् की प्रतीति न होने के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कारण स्त्री बोधक आप् प्रत्यय का लुग्-विधान अनावश्यक है। क्योंकि अलिङ्ग अव्यय शब्दों से लिङ्ग बोधक 'आप्' प्रत्यय प्राप्त ही नहीं हो सकता है। किन्तु अव्यय से सुप् का लुग् विधान अनावश्यक है। इस पर यह आशंका की गई कि जैसे अव्यय शब्द ही लिङ् बोधक नहीं है। उसी तरह संख्या बोधक भी नहीं है। अतः यदि अव्यय शब्दों से लिङ्बोधक आप् प्राप्त नहीं है तो संख्या बोधक सुप् प्रत्यय भी प्राप्त नहीं ही है। इस तरह सुप् का लुग् विधान भी अनावश्यक ही है। इस शंका के समाधान में यह कहा गया है कि सुप् लुग् विधान इसलिए आवश्यक है कि 'प्रत्यय लोपे प्रत्यय लक्षणम्' सूत्र से प्रत्यय लक्षण द्वारा अव्यय के सुबन्तत्व की सिद्धि हो। अतः सुप् प्रत्यय तथा उसका लुग् विधान आवश्यक है। अन्यथा सुबन्तत्वाभावात् अव्यय में पदत्व व्यवहार ही नहीं हो सकेगा। तदनन्तर अव्यय से सुबुत्पत्ति तथा उसका लुग् विधान आवश्यक होने पर भी पुनः यह शंका की गई है कि सु एकवचनादि सुप् प्रत्यय संख्या विशेष की विवक्षा में ही होते हैं। अव्यय में एकत्वादि संख्या के अभाव से एक वचनादि कैसे होंगे? इसी शंका के समाधान में इस ज्ञापन का उल्लेख किया गया है—**अथवाऽचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति उत्पद्यन्तेऽव्ययेभ्यः स्वादय इति यदयम् 'अव्ययादाप्सुप' इति, लुकं शास्ति।** अर्थात् अव्यय से सुप् प्रत्यय के लुग् विधान से ही ज्ञापित होता है कि अव्यय से सुबुत्पत्ति होती ही है। अव्यय से सुप् की प्रसक्ति के अभाव में सुप् प्रत्ययादर्शन लुक् ही नहीं कहा जा सकता है। अतः लुग् विधान सामर्थ्यात् अव्यय से सुबुत्पत्ति भी स्वीकार करना ही चाहिए।

एकवचनादि प्रत्यय के विषय में अर्थनियम पक्ष स्वीकार किए जाने पर **'एकत्वे एकवचनेमेव'** इस तरह का व्याख्यान होने से एकवचनादि प्रत्यय अनियमित ही हैं। संख्याहीन अव्यय से भी उनकी प्राप्ति में कोई बाधा नहीं हो सकती है। तथापि प्रत्यय नियम पक्ष स्वीकार किए जाने पर एक वचनादि प्रत्यय एकत्व संख्या ही नियत होंगे अतः वे संख्याहीन अव्यय से प्राप्त नहीं हो सकते हैं। इस प्रकार प्रत्ययनियम पक्ष में भी अव्यय से सुबुत्पत्ति के निर्वाहार्थ प्रकृत ज्ञापन आवश्यक एवं निरवद्य ही है।

१३. अत्यन्तापरदृष्टाः परभूतालुप्यन्ते।

'परञ्च' ३.१.२ सूत्र के भाष्य में प्रत्यय के पर में विधान की आवश्यकता पर आक्षेप किया गया है। तात्पर्य यह बताया गया है कि प्रत्यय के पर में होने के लिए 'परश्च' द्वारा प्रत्यय में परत्व का जो विधान किया गया है वह अनावश्यक है, क्योंकि प्रत्यय विधायक सूत्रों में पंचमी निर्देश होने से 'तस्मादित्युत्तरस्य' सूत्र से ही प्रत्यय के परत्व की सिद्धि हो जायेगी। पृथक् से 'परश्च' सूत्र से परत्वविधान अनावश्यक ही है। यद्यपि 'तस्मादित्युत्तरस्य' सूत्र 'द्व्यन्तरुपसर्गेभ्योऽप ईत्' इत्यादि स्थल में विद्यमान पर को ही कार्य विधानार्थ प्रवृत्त होता है। प्रत्ययविधिस्थल में प्रागविद्यमान प्रत्यय का ही विधान पर में होने के कारण है। 'तस्मादित्युत्तरस्य' सूत्र की प्राप्ति की विषयता यहां नहीं हो सकती है तथापि प्रत्यय के परत्व की सत्ता के विधान में 'तस्मादित्युत्तरस्य' सूत्र की प्रवृत्ति असंगत

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं कही जा सकती है । अत एव भाष्य में कहा गया है **'एतद्धि तत्परस्य कार्यं यदसौ परतः स्यात्'** अर्थात् प्रत्यय का पर में होना भी पर संवन्धी कार्य कहा जा सकता है । इस तरह 'परश्च' सूत्र द्वारा प्रत्यय के लिए परवचन सर्वथा निरर्थक है । प्रत्ययविधायक सूत्रों में पंचमी निर्देश से ही प्रत्यय परत्व की सिद्धि संभव है । इसके अनन्तर पुनः 'परश्च' सूत्र का प्रयोजन यह दिया गया कि जो प्रत्यय कहीं लक्ष्य में प्रत्यक्षदृष्ट नहीं है ऐसे 'क्विप्' आदि प्रत्ययों का परभूतत्वेन लोपविज्ञानार्थ यह 'परश्च' सूत्र है । इस सूत्र के रहने पर लक्ष्यों में प्रत्यक्षतः अत्यन्तादृष्ट क्विप् आदि प्रत्ययों के परत्व का निश्चय होता है । अतएव 'अग्निचित्' आदि प्रयोगों में प्रत्ययलक्षण द्वारा परभूत प्रत्यय का आश्रयण कर तुगागमादि कार्यों की निष्पत्ति होती है । यदि पूर्वभूतत्वेन क्विप् प्रत्यय का लोप मान लिया जाय तो अग्निचित् प्रयोग में तुगागम नहीं सिद्ध हो सकेगा । क्विप् आदि प्रत्यय के विषय में अत्यन्तादृष्ट होने के कारण 'तस्मादित्युत्तरस्य' परिभाषा की प्रवृत्ति सर्वथा ही नहीं होगी । **अतः पंचमीनिर्देश मात्र को लेकर पूर्व वर्तित्वेनापि** क्विप् प्रत्यय की कल्पना **हो सकती है** । अतः परभूत आदि प्रत्यय के लोप विज्ञानार्थ 'परश्च' सूत्र की आवश्यकता है ही, इसी आवश्यकता के निराकरण के लिए प्रकृत ज्ञापन का आश्रयण भाष्य में किया गया है— **'एतदपि नास्ति प्रयोजनम्–आचार्य प्रवृत्तिर्ज्ञापयति–अत्यन्ताऽपरदृष्टा परभूता लुप्यन्त इति—यदयं तेषु कादीननुबन्धानासजति'** इति । इसका भाव यह है क्विप् ण्वि, आदि प्रत्ययों में जो कित्व, णित्व आदि अनुबन्धों का योग किया गया है, वह कित्व णित्व प्रयुक्त गुणाभाववृद्ध्यादि कार्यों के लिए किया गया है । ये अनुबन्ध प्रयुक्त कार्य तभी संभव होंगे जब कि क्विप् आदि प्रत्ययों का परभूतत्वेन लोप किया जायेगा । कोई अनुबन्ध कार्य ऐसा नहीं है जो प्रत्यय के पूर्वभूत होने पर होता हो । अतः यह कित्वाद्यनुबन्धासञ्जन ही ज्ञापित करता है कि प्रत्यक्षतः सर्वथा अदृष्ट, शास्त्रमात्र बोधित क्विप् आदि प्रत्यय परभूत होकर ही लुप्त होते हैं । उन्हें पूर्वभूतत्वेन लुप्त नहीं जानना चाहिए । इस तरह 'परश्च' सूत्र का मुख्य प्रयोजन प्रत्यय का परत्वादि नहीं हो सकता है । किन्तु प्रयोग नियमार्थ इस सूत्र की आवश्यकता भाष्य में बताई गई है –**'प्रयोगनियमार्थमेव तर्हि परग्रहण कर्तव्यम्'** इसका भाव यह है कि परग्रहण सामर्थ्यात् यह प्रयोग नियम सिद्ध होता है कि—**'प्रकृतिपर एव प्रत्ययः प्रयोक्तव्यः' प्रत्ययः परैव च प्रकृतिरिति** । अतः केवल प्रत्यय तथा केवल प्रकृति के प्रयोग को सर्वथा असाधु जानना चाहिए । यही इस शास्त्र का रहस्य है । **'न केवला प्रकृतिः प्रयोक्तव्या, नापि केवलः प्रत्ययः इति** ।

१४. आगमा अनुदात्ता भवन्ति, इति ।
१५. आगमा अविद्यमानवद्भवन्ति इति ।

'आद्युदात्तश्च' ३.१.३.–सूत्र के भाष्य में यह ज्ञापन विस्तार पूर्वक वर्णित है । 'आद्युदात्तश्च' सूत्र द्वारा प्रत्यय के आद्युदात्तत्व का विधान किया जाता है । इस सूत्र के विषय में यह विचार आवश्यक है प्रत्यय संज्ञा के साथ ही तत्संनियोगेनैव आद्युदात्तत्वविधान क्यों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किया गया ? स्वर प्रकरण में जहां अन्य स्वरों का विधान होता है, वहीं षष्ठाध्याय में '**ञ्नित्यादिर्नित्यम्**' **प्रत्ययस्य च** '**तास्यनुदात्तेद्दुपदेशाल्लसार्वधातुकमनुदात्तमह्न्विङोः**' 'सुप्पितौ च' ऐसा ही क्यों नहीं पढ़ा गया। इससे दो बार उदात्तग्रहण तथा दो बार अनुदात्तग्रहण नहीं करना पड़ता। इस आक्षेप के समाधान में यह कहा गया कि यदि प्रत्ययसंनियोगेन आद्युदात्तत्व नहीं किया जायेगा तो '**प्रत्ययग्रहणे' यस्मात्सविहितस्तदादेस्तदन्तस्य ग्रहणम्**' परिभाषा द्वारा तदन्त विधि हो जाने के कारण प्रत्ययान्त का आद्युदात्त होने लगेगा। प्रत्यय-संनियोगेन आद्युदात्तविधान करने से प्रत्ययसंज्ञा के साथ प्रत्ययमात्र का ही आद्युदात्त होता है। क्योंकि प्रत्यय हो जाने के बाद ही 'प्रत्ययग्रहणे………' परिभाषा की प्रवृत्ति हो सकती है। प्रत्ययोत्पत्तिकाल में प्रत्यय ग्रहणे … परिभाषा की प्रवृत्ति संभव नहीं होगी। उत्पन्न होने के अनन्तर घट घट प्रयुक्त कार्य का निमित्त होता है। उत्पत्ति काल में ही घट घटप्रयुक्त कार्य का निमित्त नहीं बन सकता है। भाष्य में यह स्पष्ट किया गया है '**उत्पन्नः प्रत्ययः प्रत्ययाश्रयाणां कार्याणां निमित्तं भवति नोत्पद्यमानः**' इस तरह प्रत्ययोत्पत्तिकाल में प्रत्ययसंज्ञा के साथ इस तृतीयाध्याय में ही आद्युदात्त तथा सुप् एवं पित् प्रत्यय के अनुदात्तत्व का विधान कर दिया गया है ताकि प्रत्ययान्त में आद्युदात्तत्व प्रसक्ति नहीं। इसका एक मुख्य प्रयोजन आगम का अनुदात्तत्व भी होगा 'लवितव्यम्' प्रयोग में लू धातु से तव्य प्रत्यय की उत्पत्तिकाल में ही उदात्तत्व करने के पश्चात् होने वाला इट् आगम 'अनुदात्तं पदमेकवर्जम्' सूत्र से अनुदात्त होता है। अन्यथा प्रत्ययविधान के बाद उदात्तस्वर की अपेक्षा परत्वात् इडागम होने से '**यदागमास्तद्गुणीभूतास्तद्ग्रहणेन गृह्यन्ते**' परिभाषा द्वारा इडागम भी प्रत्यय का भाग होने से प्रत्ययग्रहण से गुहीत होता, तदनन्तर प्रत्ययस्वर द्वारा विधीयमान आद्यु-दात्तत्व इट् को ही प्रसक्त होने लगेगा। अतः आगमानुदात्व सिद्ध्यर्थ प्रत्ययोदात्तत्व का विधायक सूत्र प्रत्यय संज्ञा विधायक 'प्रत्ययश्च' सूत्र के साथ तृतीयाध्याय में ही उचित है। भाष्य में इस सिद्धान्त के निर्णीत होने के बाद एकदेशी ने प्रकृत ज्ञापन के समाश्रयण से आगमानुदात्तत्व की सिद्धि करता हुआ प्रत्ययाद्युदात्तत्व का विधान षष्ठाध्यायस्थ सूत्र से करने में भी दोषाभाव का प्रयास किया है—**आचार्य प्रवृत्तिर्ज्ञापयति–आगमा अनुदात्ता भवन्ति इति यदयं 'यासुट् परस्मैपदेषूदात्तोङिश्चेत्याह**। भाव यह है कि यदि प्रत्ययग्रहण से गृहीत होने के कारण आगम भी उदात्त हो सकता तो यासुट् आगम में उदात्तत्व का वचन व्यर्थ हो जाता, अतः यही यासुट् आगम का उदात्तत्व वचन ज्ञापित करता है कि आगम अनुदात्त ही होते हैं। अत एव ल विषीय आदि प्रयोगों में 'लू' धातु से लिङ् लकार के उत्तम पुरुष इट् प्रत्यय में सीयुट्' के अनुदात्त हो जाने के कारण इट् के स्थान में होने वाला अकार ही उदात्त सिद्ध हुआ। इस तरह आगम के अनुदात्तत्व का साधन करने के बाद यह आशंका होती है कि यदि उक्त ज्ञापन से आगम अनुदात्त है तो लाविषीय इत्यादि प्रयोगों में आगम होने के कारण प्रत्यय के आद्युदात्तत्व की सिद्धि नहीं होगी ? इस आशंका के निराकरणार्थ एकदेशी ने पुनः दूसरे ज्ञापन का आश्रयण किया है **आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति-आगमा अविद्यमानवद्भवन्ति इति, यदयं यासुट्परस्मैपदेषूदात्तोङिच्चेत्याह**। भाव यह है कि यदि प्रत्ययाद्युदात्तत्व करने में आगम प्रत्ययादित्व का विघात कर सकता तो 'चिनुयाताम्'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इत्यादि प्रयोगों में यामुट् की प्रत्ययादित्वेनैव उदात्तता सिद्ध हो जाती । पुनः उदात्तत्व वचन कर्तव्य नहीं होता । यही किया गया उदात्तत्ववचन आगमों के अविद्यमानत्व का ज्ञापन कर रहा है । आगम में अविद्यमानता स्वीकार करने पर आगमरहित प्रत्यय ही आद्युदात्त होगा । आगम में शेष निघातेन अनुदात्तता प्राप्त थी, तद्व्यावृत्यर्थ 'यासुट्' का उदात्तत्व-वचन चरितार्थ हुआ ।

वस्तुतः प्रत्ययसंज्ञासंनियोगेन आद्युदात्तत्वविधान कर देने से शेष निघात द्वारा ही आगमानुदात्तत्वादि सकलेष्टसिद्धि हो जाती है । 'यासुट्' में भी शेषनिघात द्वारा अनुदात्त-त्व की प्राप्ति होने पर उदात्तत्व वचन भी चरितार्थ हो जाता है । तद् द्वारा आगमानु-दात्तत्व तथा आगमाविद्यमानत्व के ज्ञापन का प्रयास एकदेश्युक्ति मात्र ही है । यह स्पष्ट रूप से प्रकृत सूत्र के भाष्य के प्रदीप तथा उद्योत में वर्णित है ।

१६. भवत्यघशब्दाच्छन्दसि परेच्छायां क्यच् इति ।

'सुप् आत्मनः क्यच्' सूत्र के भाष्य में आत्मग्रहण का प्रयोजन आत्मेच्छा में ही 'आत्मनः पुत्रमिच्छति' ऐसे स्थल में क्यच् प्रत्यय हो परेच्छा में 'राज्ञः पुत्रमिच्छति' इत्यादि स्थल में 'क्यच्' प्रत्यय न हो, यह बताया गया है । यद्यपि इच्छा का संबन्ध आत्मा से ही रहता है, इस तरह 'राज्ञः पुत्रमिच्छति' इस स्थल में भी इच्छा आत्मेच्छा ही कही जा सकती है । यहां भी क्यच् प्राप्त है ही ? ऐसी आशंका यहां हो सकती है, तथापि आत्मा का संबन्ध यहां इच्छा के साथ विवक्षित नहीं है किन्तु सुबन्त के साथ ही आत्मा का संबन्ध विवक्षित है अतः 'राज्ञः पुत्रमिच्छति' इस स्थल में 'क्यच्' नहीं होता है किन्तु 'आत्मनः पुत्रमिच्छति' यहां सुबन्त पुत्र शब्द के साथ आत्मा का संबन्ध होने से 'क्यच्' प्रत्यय होता है । इस पर पुनः यह विचार किया गया कि यदि इस सूत्र में आत्मग्रहण किया जाता है तो वैदिक प्रयोग में परेच्छा में जो अघ शब्द से 'क्यच्' प्रत्यय या 'त्वा वृका अघायवो विदन्' आदि प्रयोगों में होता है वह सिद्ध नहीं होगा अतः आत्म ग्रहण की सूत्र में कोई आवश्यकता नहीं है । 'राज्ञः पुत्रमिच्छति' इत्यादि परेच्छा में 'क्यच्' प्रत्यय सामर्थ्य के अभाव से ही नहीं होगा । क्योंकि यहां **'सापेक्षमसमर्थं भवति'** उक्ति के अनुसार इच्छान्वयी पुत्र शब्द राजपदार्थ के साथ भी अन्वय सापेक्ष होने के कारण असमर्थ हो गया है । इसके अनन्तर यह पुनः विचारणीय हो गया कि यदि परेच्छा में सामर्थ्या-भाव के कारण 'क्यच्' प्रत्यय नहीं होता है तो 'मात्वा वृका अघायवो विदन्' इस वैदिक प्रयोग में भी 'क्यच्' प्रत्यय नहीं हो सकेगा ? इस आशंका के समाधान में यह कहा गया कि यहां अन्य के प्रयोग के बिना ही परेच्छा गम्यमान हो जाती है । अतः यहां सामर्थ्य का विघात नहीं होगा । कोई भी व्यक्ति स्व के अघ (दुःख) की इच्छा नहीं कर सकता है । अतः ऐसे स्थल में अन्य शब्द के प्रयोग के बिना ही परेच्छा गम्यमान हो जाती है । परस्परान्वयलक्षण सामर्थ्य का अभाव नहीं कहा जा सकता है । अतः 'अघायवः' इस वैदिक प्रयोग में कोई अनुपपत्ति नहीं हो सकती है । इस पर पुनः यह शंका होती

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कि जैसे वेद मे 'अघ' शब्द से परेच्छा में भी 'क्यच्' प्रत्यय हो रहा है वैसे ही लोक में भी 'परस्य अघमिच्छति' विग्रह में 'क्यच्' प्रत्यय होना चाहिए ही ? इस शंका पर पुनः आत्मग्रहण की आवश्यकता प्रकृत सूत्र में स्वीकार कर ली गई । 'तस्यादात्मग्रहणं कर्तव्यम्' यदि आत्म ग्रहण करते हैं तो परेच्छा में वैदिक 'अघायवः' प्रयोग की सिद्धि कैसे हो सकेगी । इस तरह उभयतः अनुपपत्ति की प्रसक्ति देखकर प्रकृत ज्ञापन द्वारा वैदिक प्रयोग है कि जैसे वेद में 'अघ' शब्द से परेच्छा में भी 'क्यच्' प्रत्यय हो रहा है वैसे ही लोक में भी परस्य 'अघमिच्छति' विग्रह में 'क्यच्' प्रत्यय होना चाहिए ही ? इस शंका पर पुनः आत्मग्रहण की आवश्यकता प्रकृत सूत्र में स्वीकार कर ली गई । 'तस्यादात्मग्रहणं कर्तव्यम्' यदि आत्म ग्रहण करते हैं तो परेच्छा में वैदिक 'अघायवः' प्रयोग की सिद्धि कैसे हो सकेगी । इस तरह उभयतः अनुपपत्ति की प्रसक्ति देखकर प्रकृत ज्ञापन द्वारा वैदिक प्रयोग का साधन किया गया **'आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति— 'भवत्यघ** शब्दाच्छन्दसिपरेच्छायां क्यच् इति । यदयंअश्वघस्यादिति क्यचि प्रकृते **इत्वबाधनार्थमाकारं शास्ति** ।' भाव यह है कि **'अश्वाघस्यात्'** सूत्र द्वारा 'क्यच् प्रत्यय परे रहते 'अघ' शब्द के स्थान में 'अस्य च्वौ' सूत्र प्राप्त इत्व के बाधनार्थ जो आकार विधान किया गया है, वही ज्ञापित करता है कि 'छन्द में अघ शब्द से परेच्छा में भी क्यच् प्रत्यय होता है छन्द में अश्व तथा अघ शब्द के स्थान में 'क्यच्' परे रहते आकार अन्तादेश होता है । यही 'अश्वाघस्यात्' सूत्र का अर्थ है । यदि वेद में 'अघशब्द' से परेच्छा में 'क्यच्' नहीं होता तो आकार विधान व्यर्थ ही हो जायेगा ।

इस तरह यह ज्ञापन सर्वथा आवश्यक एवं निरवद्य है ।

१७. नापवादे उत्सर्गकृतं भवति इति ।

'सनाद्यन्ता धातवः' सूत्र के भाष्य में इस सूत्र की आवश्यकता को लेकर यह विचार किया गया है कि 'भूवादयोधातवः' सूत्र से ही सनाद्यन्त की भी धातु संज्ञा हो सकती है । क्योंकि 'भूवादयः' शब्द का क्रियावाची अर्थ होता है, सनाद्यन्त भी क्रियावाची ही हैं । उनकी भी धातु संज्ञा 'एध', 'पच्' की तरह क्रियावाचित्वेनैव हो सकती है । पुनः 'सनाद्यन्ताधातवः' सूत्र क्यों किया गया ? इसका समाधान यह दिया गया कि केवल क्रियावाचित्व से ही धातु संज्ञा नहीं होती है किन्तु भ्वादिगण में पाठ भी धातुसंज्ञा के लिए आवश्यक है, सनाद्यन्त का भ्वादिगण में पाठ नहीं है अतः उनकी धातुसंज्ञा 'भूवादयो 'धातवः' सूत्र से नहीं प्राप्त है । इस तरह 'सनाद्यन्ता धातवः' आवश्यक ही है । 'अस्तेर्भूः' ब्रुवोवचिः' चक्षिङः ख्याञ् इत्यादि सूत्रों से आदिश्यमान भू, क्यच्, ख्या आदि में 'स्थानिवदादेशोऽनाल्विधौ' सूत्र से स्थानिवद्भाव द्वारा धातुत्वव्यवहार किया गया है । यद्यपि **'आदिश्यते यः स आदेशः'** इस यौगिक व्युत्पत्ति के अनुसार सनाद्यन्त भी धात्वर्थ में आदिश्यमान होने के कारण धात्वादेश ही है । इस तरह इनमें भी स्थानिवद्भाव द्वारा धातुत्व व्यवहार हो ही सकता है तथापि 'स्थानिवद्सूत्र में 'षष्ठी स्थानेयोगा सूत्र से षष्ठी का संबन्ध का षष्ठी निर्दिष्ट के आदेश का ही स्थानिवद्भाव होता है । इस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तरह स्थानिवत् सूत्र की व्याख्या स्वीकार करने पर सनाद्यन्त षष्ठी निर्दिष्ट स्थानिक आदेश में होने के कारण स्थानिवद्भाव के विषय नहीं हो सकते हैं। इनकी धातु संज्ञा के लिए 'सनाद्यन्ता धातवः' सूत्र आवश्यक ही है।

यदि स्थानिवद्सूत्र में षष्ठी की निवृत्ति स्वीकार कर ली जाये तो सनाद्यन्त में भी यौगिकवृत्ति के अनुसार स्थानिवद्भाव द्वारा धातुत्वव्यवहार हो सकता है। यह भाष्यकार का आशय है। शंका होती है कि स्थानिवद् सूत्र में षष्ठी की निवृत्ति मान ली जाये तो अपवाद में भी उत्सर्गप्रयुक्त कार्य होने लगेंगे। अपवाद भी उत्सर्ग के ही अर्थ में आदिश्यमान है। इस तरह 'कर्मण्यण्', आतोऽनुपसर्गे कः' यहां 'क प्रत्यय में भी उत्सर्ग प्रयुक्त णित्वनिमित्तक वृद्धि की प्रसक्ति होने लगेगी। इसी शंका के समाधान में प्रकृत ज्ञापन का आश्रयण किया गया है – **नैष दोषः। आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति नापवादे उत्सर्गकृतं भवति इति यदयं श्यन्नादीत् कांश्चिच्छितः करोति श्यन्श्नम् श्नाश्नुरिति।** भाव यह है कि 'कर्तरिशप्' सूत्र विहित 'शप्' के अपवाद के रूप में जो 'दिवादिभ्यः श्यन्' आदिसूत्रों द्वारा 'श्यन्'— 'श्ना' आदि प्रत्यय किये गए है। उन्हें भी शित् पढ़ा गया है। यदि उत्सर्ग प्रयुक्त कार्य अपवाद में भी होते तो 'शप् के शित्व को ही लेकर 'श्यन्' आदि में भी शित्व प्रयुक्त कार्य संभव ही होता। श्नम् आदि में शित्करण व्यर्थ ही है। यही शित्करण ज्ञापित कर रहा है कि अपवाद में उत्सर्गकृत कार्य नहीं होते हैं।

वस्तुतः यौगिकवृत्ति से आदेश मानकर 'सनाद्यन्ता धातवः' सूत्र का प्रत्याख्यान केवल प्रौढ़िवाद मात्र ही है। रूढिवृत्ति से आदेश नहीं कहा जाता है जो 'स्थानि' को निवृत्त करता हुआ विहित हो। इस तरह 'सनाद्यन्त' एवं आदेशता संभव ही नहीं है।

स्थानिवद्भावेन सनाद्यन्त में धातुत्वव्यवहार का कथन एकदेश्युक्ति मात्र ही है।

१८. भवति कर्मकर्तरि यक् इति।

'सार्वधातुके यक्' सूत्र के भाष्य में यह विचार किया गया है कि 'सार्वधातुके यक्' सूत्र द्वारा जैसे भावकर्मवाची सार्वधातुक परे रहते धातु से 'यक्' प्रत्यय का विधान किया जाता है उसी तरह कर्मकर्तृवाची सार्वधातुक परे रहते भी यक् प्रत्यय का उपसंख्यान करना चाहिए। ताकि 'पच्यते ओदनः स्वयमेव' इत्यादि प्रयोग सिद्ध हो सकें। यदि कर्मकर्तृ में 'यक्' प्रत्यय का उपसंख्यान नहीं किया जायेगा तो कर्मकर्तृ सार्वधातुक परे रहते परत्वात् 'शप्' की ही प्राप्ति होगी। यहां 'यक्' यथा 'शप्' में परस्पर विप्रतिषेध प्राप्त है। पचति, पठति में शप् सावकाश है। 'पच्यते ओदनः', 'पठ्यते विद्या', यहां 'यक्' सावकाश है। पच्यते ओदनः स्वयमेव यहां दोनों युगपत्प्राप्त हैं। 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' सूत्र द्वारा परत्वेन शप् ही प्राप्त होगा। अतः कर्मकर्ता में 'यक्' का उपसंख्यान आवश्यक है। यदि 'सार्वधातुके यक्—कर्तरि— इस प्रकार योग विभाग कर प्रथम योग से भावकर्म में सार्वधातुक परे रहते 'यक्' होगा 'कर्तरि' द्वितीय योग से भावकर्म में कर्तृ सार्वधातुक परे रहते हुए भी 'यक्' हो, ऐसी व्याख्या

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

द्वारा 'पच्यते ओदनः स्वयमेव' प्रयोग में 'यक्' प्रत्यय हो सकता है तो यह विभाग ठीक नहीं होगा क्योंकि जिस तरह कर्मकर्ता में 'यक् प्राप्त होगा, उसी तरह जहां भावकर्ता होगा, वहां भी यक् प्रत्यय होने लगेगा। 'एति जीवन्तमानन्दो नरं वर्ष शतादपि।' 'नास्य किंचि-रुजति रोगः' इन प्रयोगों में भावरूप कर्ता होने से एति, रुजति', यहां यक् प्रत्यय की अति-प्रसक्ति होने लगेगी। **'यद्यपि' चिण्—भावे-कर्मणि च—सार्वधातुके यक्—कर्तरि—शप्** ऐसा योग विभाग करके 'कर्तरि' योग में 'कर्मणि' मात्र का अनुवर्तन करें तथा 'भावे' की निवृत्ति करें तो कर्मकर्ता में ही 'यक्' की सिद्धि होगी। भावात्मक कर्ता में 'यक्' अतिप्रसक्त नहीं होगा। इसी तरह 'शप्' योग में कर्तरि मात्र का अनुवर्तन करेंगे। 'कर्मणि' की निवृति तो केवल कर्ता में ही शप् होगा, कर्मकर्ता में शप् अतिप्रसक्त नहीं होगा। इस तरह कोई दोष नहीं हो सकता है तथापि श्यन् प्रत्यय के साथ विप्रतिषेध होने से 'यक्' प्रत्यय को परत्वेन बोध कर श्यन्' प्रत्यय की प्रसक्ति हो सकती है श्यन् प्रत्यय दीव्यति, सीव्यति में सावकाश है। 'पच्यते ओदनः' इत्यादि में यक् प्रत्यय सावकाश है। दीव्यते 'सीव्यते स्वयमेव' यहां परत्वेन श्यन् प्रत्यय ही होगा। उक्त योगविभाग शप् मात्र का ही बाध कर सकता है। श्यन् का बाध कर सकता है। क्योंकि **'अनन्तरस्य विधिर्वा' भवति प्रतिषेधो वा' इस न्याय** से शप् ही प्रतिषिद्ध होगा। श्यन् प्रतिषिद्ध नहीं हो सकेगा। अतः कर्मकर्ता में यक् का उपसंख्यान होना ही चाहिए। इसी आक्षेप के समाधान के प्रकृत में ज्ञापन का उपन्यास किया गया है—**अथवाचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञा-पयति भवति कर्मकर्तरि यगिति। यदयं न दुहस्नुनमां यक्चिणाविति यक्चिणोः प्रतिषेधं शास्ति।** भाव यह है कि 'दुग्धे स्वयमेव गौः, प्रश्नुते स्वयमेव गौः नमते स्वयमेव दण्डः' **कर्मकर्तृ प्रयोगों में जो यगादि का निषेध किया गया है,** यही ज्ञापित कर रहा है कि कर्मकर्ता में भी यक् होता ही है। यदि कर्मकर्ता में यक् नहीं प्राप्त होता तो निषेध करना ही व्यर्थ हो जाता। वस्तुतः कर्मकर्ता में कर्मवद्भाव विधान सामर्थ्य से भी कर्मकर्ता में यक् प्राप्त होता है। आत्मनेपदादि की सिद्धि वचन द्वारा भी संभव है। कर्मवद्भाव के विधान का मूल्य फल यक् ही हो सकता है। यदि कर्माकर्ता में यक् न हो तो कर्मवद्भाव ही व्यर्थ हो जायेगा। अतः कर्मवद्भाव सामर्थ्य से ही कर्मकर्ता में यक् सिद्ध है। ज्ञापन केवल उपायान्तर मात्र है अतएव भाष्यकार ने 'अथवा' शब्द का प्रयोग करके ज्ञापन का उपन्यास किया है।

१९. न लादेशेषु वा सरूपो भवति इति।

'वा सरूपोऽस्त्रियाम्' ३.१.९४, सूत्र बाधक के विषय में उत्सर्ग की भी प्रवृत्ति के लिए किया गया है। जैसा कि भाष्य में कहा गया है—**असरुपस्य वा वचनं क्रियते, उत्सर्गस्य बाध-कविषये निवृत्तिर्यथा स्यात्'** अर्थात् असरूप कृत्प्रत्यय का विकल्प विधान किया जाता है, ताकि बाधक प्रत्यय के विषय में उत्सर्ग प्रत्यय की निवृत्ति न हो उदादहरण के रूप 'तव्यत्तव्यानी-यरः' ये प्रत्यय उत्सर्ग है। उसका अपवाद 'अचोयत्' आदि सूत्रों से विहित यत् आदि प्रत्यय प्रत्यय हैं। इन अपवाद प्रत्यय के विषय अजन्तादि धातुओं से भी तव्यदादि प्रत्यय होते हैं। जिससे चि धातु से चेयम, चेतव्यम् ये प्रयोग बनते हैं। इसी के अनुसार श्रीभट्टोजिदी-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्षित ने भी **वै० सि० कौमुदी** में 'वा सरूपोऽस्त्रियाम्' सूत्र की व्याख्या की है— '**अस्मिन् धात्वधिकारेऽसरूपोऽपवादप्रत्यय उत्सर्गस्य बाधको वा स्यात् स्त्र्यधिकारोक्तं विना**' इति ।

आगे चल कर भाष्य में यह विचार प्रस्तुत किया गया कि अपवाद का ही विकल्प विधान क्यों किया जा रहा है । उत्सर्ग का विकल्प विधान क्यों नहीं किया गया ? उत्तर में यह कहा गया है कि यद्यपि अपवाद या उत्सर्ग के विकल्प में फलतः कोई विशेषता नहीं है तथापि '**वा सरूपः' यह** सापेक्ष निर्देश किया गया है । तात्पर्य यह है कि असरूप शब्द का अर्थ भिन्न रूप है । भिन्न रूप कहने पर 'किससे भिन्न' यह अपेक्षा होती है । इस अपेक्षा में स्वविषय में प्राप्त उत्सर्ग बुद्धिस्थ होने के कारण तदपेक्षया भिन्नरूपत्व अपवाद में ही संभव होने के कारण उसी में वा का अन्वय किया जाता है । उत्सर्ग प्रत्यय सर्वथा अन्यानपेक्ष विहित होने से असरूप पद से अन्वित नहीं हो सकता हैं । इस तरह असरूपपदार्थान्वयी अपवाद का ही विकल्प विधान योग्यतावशात् किया गया । इस पर पुनः यह विचारणीय है कि भिन्नरूप अपवाद कहने से रूपवान् अपवाद में ही विकल्प एवं सर्वापहारिलोपी 'क्विप्' के उत्सर्ग का समावेश नहीं होगा । ग्रामणीः, ग्रामणायः प्रयोग सिद्ध नहीं होंगे । यदि प्रयोगकालिक सारूप्याभाव लेने से 'क्विप्' में दोष की व्यावृत्ति हो सकती है क्योंकि प्रयोगावस्था में 'क्विप्' का रूप न होने से ही सारूप्याभाव सिद्ध है । असरूप पद से समानरूपाभाववान् का ग्रहण करने से कोई दोष नहीं हो सकता है, यदि यह कहा जाये तो लादेश में वाऽसरूपन्याय के प्रतिषेध का विधान करना पड़ेगा अन्यथा 'ह्योऽपचत्' यहाँ अनद्यतनभूत की विवक्षा में अपवाद 'लङ् के विषय में उत्सर्ग लुङ् भी प्राप्त होने लगेगा । इसी तरह 'श्वः पक्ता' यहां अपवाद लुट् के विषय लृट् भी प्राप्त होने लगेगा । इसी आक्षेप के निराकरण के लिए प्रकृत ज्ञापन का उपन्यास भाष्य में किया गया है-- **आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति 'न लादेषु वा सरूपो भवति इति यदयं हशश्वतोर्लङि चेत्याह** । भाव यह है कि हशश्वतोर्लङ्चि' सूत्र द्वारा लिट् के विषय में उत्सर्गभूत लङ् तथा लिट् दोनों का विधान जो आचार्य ने किया है यही ज्ञापित कर रहा है कि लादेश के विषय में वाऽसरूपन्याय की प्रवृत्ति नहीं होती है । अन्यथा लङ् के अपवादभूत लिट् के विषय में प्रायोगिक असरूपता को लेकर वा सरूप न्याय से ही लङ् की भी प्रवृत्ति हो सकती है । 'इति हाकरोत् चक र वा' शश्वदकरोत् चकार वा' वे प्रयोग हो ही जाते । हशश्वतोर्लङ् च' सूत्र व्यर्थ ही हो जाता ।

इस तरह प्रायोगिक असरूपता को वाऽसरूपन्याय का विषय स्वीकार करने में कोई दोष नहीं होगा । यही भाष्य का तात्पर्य है ।

२०. समाने अर्थे केवलं विग्रहभेदाद्यत्र कर्मोपपदश्च प्राप्नोति बहुव्रीहिश्च, कर्मोपपदश्च तत्र भवति ।

'कर्मण्यण' सूत्र के भाष्य में 'शीलिकामिभक्ष्याचरिभ्यो णः पूर्वपद प्रकृतिस्वरं च 'वार्तिक पढ़ा गया है । इसका अर्थ यह है कि शील, कामि, भक्षि आङ्पूर्वक चर धातुओं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से कर्म उपपद रहते हुए 'ण' प्रत्यय होता है, तथा पूर्वपद का प्रकृतिस्वर होता है । 'मांसं शीलयति', मांसशील:' मांसशीला, मांसं कामयते मांसकाम:, मांसकामा, मांसं भक्षयति, मांसभक्ष:, मांसभक्षा, कल्याणमाचरति, कल्याणाचार:, कल्याणाचारा ये उदहरण हैं। इस वार्तिक का प्रयोजक पूर्वपद प्रकृतिस्वर तथा स्त्रीत्व की विवक्षा में ङीप् की निवृत्ति बताई गई। वार्तिक के प्रयोजन का खण्डन करते हुए भाष्य में कहा गया, कि **नैतदस्ति प्रयोजनम्, इह यो मांसं भक्षयति, मांस तस्य भक्षो भवति। तत्र योऽसौ भक्षयतेरच् तदन्तेन बहुव्रीहिः** अर्थात् भक्षि धातु से 'एरच्' सूत्र द्वारा कर्म में अच् प्रत्यय कर के निष्पन्न भक्ष शब्द के साथ 'मांसं भक्षो यस्य इस विग्रह में यदि बहुव्रीहि समास किया जाये तो भी 'बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम्' सूत्र द्वारा पूर्वपदप्रकृतिस्वर सिद्ध हो जायेगा । इसी तरह मांसशील: मांसकाम: में भी शीलि तथा 'कामि' धातु से कम में अच् प्रत्यय द्वारा निष्पन्न शील तथा 'काम' शब्द के साथ बहुव्रीहि समास द्वारा पूर्वपद प्रकृति स्वर सिद्ध हो जायेगा । इसी प्रकार 'कल्याणाचार:' में आङ् पूर्वक 'चर' धातु से कर्म मे 'घञ्' प्रत्यय द्वारा निष्पन्न आचार शब्द के साथ 'कल्याण आचारो यस्य' विग्रह में बहुव्रीहि समास करने पर पूर्वपद प्रकृति स्वर सिद्ध हो जायेगा। मांसभक्ष: आदि में पूर्वपद मांस शब्द सप्रत्ययान्त होने से अन्तोदात्त है । 'कल्याणाचार:' में पूर्वपद शब्द **'लघावन्ते द्वयोश्च बह्वषो गुरुः'** इस फिट्-सूत्र से मध्योदात्त है । इस तरह पूर्वपद प्रकृति स्वर की बहुव्रीहि समास के आश्रयण सिद्ध हो सकती है। एतदर्थ प्रकृतवार्तिक निष्प्रयोजन ही है। यद्यपि मांसं भक्षयति' आदि विग्रह में 'कर्मण्यण्' से अण् प्रत्यय होने पर अणन्तत्वात् जो ङीप् प्रत्यय प्राप्त होगा, उसके वारणार्थ यह वार्तिक आवश्यक हो सकता है । तथापि इन प्रयोगों में कर्मण्यण् सूत्र से अण् प्रत्यय का अनभिधान स्वीकार करने पर कोई दोष नहीं होगा । इस प्रकार अन्यथासिद्ध होने पर भी जो यह वार्तिक किया गया है वही प्रकृतार्थ का ज्ञापक भाष्य में स्वीकृत हुआ है एवं **तर्हि सिद्धे सति यत्कर्मोपपदे णं शास्ति— नज्ज्ञापयत्याचार्य: समाने र्थे केवलं विग्रहभेदाद् यत्र कर्मोपपदश्च प्राप्नोति बहुव्रीहिश्च, कर्मोपपदस्तत्र भवति ।** अर्थात् अर्थ की समानता में केवल विग्रह भेद से जहाँ कर्मोपपदक प्रत्यय तथा बहुव्रीहि दोनों प्राप्त हों, वहां कर्मोपपदक प्रत्यय ही करना चाहिए । बहुव्रीहि नहीं करना चाहिए । अतएव 'काण्डं लुनाति' इत्यादि विग्रह में 'काण्डलाव:' इत्यादि प्रयोग के प्रसंग में 'काण्ड' लावो यस्य स 'काण्डलाव:' 'विग्रह में बहुव्रीहि समास नहीं होता है। अन्यथा यहां भी पूर्वपद प्रकृतिस्वर की प्रसक्ति हो जाती।

वस्तुतस्तु 'मांसेकामोऽस्य' इत्यादि विग्रह में बहुव्रीहि भी हो ही सकती है । बहुव्रीहि समास होने पर पूर्वपद प्रकृतिस्वर भी होगा ही। प्रकृत वार्तिक केवल अण् प्रत्यय के बाधनार्थ स्वीकार करना चाहिए । न कि ज्ञापनार्थ अनभिधान मानकर 'कर्मण्यण्' सूत्र द्वारा प्राप्त अण् का अभाव करना युक्तिसंगत नही है । 'काण्डलाव:. शरलाव:' इत्यादि स्थल में बहुव्रीहि का विग्रह भी प्राप्त नहीं हो रहा है। क्यों कि 'लू' धातु से ऋदोरप् सूत्र से अप्' प्रत्यय होने पर 'लव:' प्रयोग बनेगा । उसके साथ बहुव्रीहि समास करने पर 'काण्डलव:' प्रयोग हो सकता है । काण्डलाव: इस अणन्त प्रयोग की समानता बहुव्रीहि में संभव नहीं है । अत: प्रकृत ज्ञापन प्रासगिक होने से एकादेशीय ही है ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

२१. यत्तदन्तः थाथघञ्क्ताजबित्रकाणमिति तन्निष्पूर्वाच्चिनोतेर्न भवति ।

ग्रहवृदृनिश्चिगमश्च' सूत्र में 'निश्चि' अर्थात् निस पूर्वक 'चि' धातु के ग्रहण पर भाष्य में विचार किया गया है— **किमर्थं निष्पूर्वाच्चिनोतेरब्विधीयते नाचैव सिद्धं, नह्यस्ति विशेषो निष्पूर्वाच्चिनोतेरपो वा, अचो वा, तदेव रूपं स एव च स्वरः' अर्थात्**—निस् पूर्वक चि धातु से 'अप्' प्रत्यय का विधान क्यों किया जा रहा रहा है ? अच् प्रत्यय से ही सिद्धि क्यों नहीं होगी। रूप दोनों प्रत्ययों में निश्चयः एक ही होगा। स्वर भी 'थाथघञक्ताजबित्रकाणाम्' सूत्र द्वारा इन दोनों प्रत्ययों में अन्तोदात्त ही होगा । यदि यह कहा जाये कि 'हस्तादाने चेरस्तेये' सूत्र द्वारा प्राप्त 'घञ्' प्रत्यय के बाधनार्थ इस सूत्र से 'अप्' प्रत्यय का विधान किया गया है तो 'स्तेय (चौर्य)' की विवक्षा में स्वयं 'घञ्' प्रत्यय प्रतिषिद्ध है । चौर्य की विवक्षा में तो 'पुष्पाणां निश्चयः' 'चौर्येण' यही होगा । यदि अस्तेय की विवक्षा में प्राप्त 'घञ्' के बाधनार्थ इस सूत्र से 'अप्' प्रत्यय का विधान माना जाय तो यह भी ठीक नहीं है क्यों कि 'अस्तेय' की विवक्षा में निस् पूर्वक चि धातु से 'घञ्' प्रत्यय हीं इष्ट माना गया है। अण् प्रत्यय करना अनिष्ट होगा । अतः भाष्य में स्पष्ट कहा गया है— **'न हि निष्पूर्वाच्चिनोतेरस्तेयेऽबिष्यते । किं तर्हि घञेवेष्यते ।'** इस प्रकार 'ग्रह वृदृनिश्चिगमश्च' सूत्र में निस् पूर्वक चिधातु का ग्रहण अन्यथासिद्ध होने पर भी जो किया गया है, वह प्रस्तुत ज्ञापन के लिए स्वीकृत हुआ— **एवं तर्हि सिद्धे सति यन्नष्पूर्वाच्चिनोते रपं शास्ति तज्ज्ञापयत्याचोर्यो 'यत्तदन्तः थाथघञ् क्ताजबित्रकाणामिति तन्निष्पूर्वाच्चिनोतेर्न भवति इति।** अर्थात् 'अच्' प्रत्यय द्वारा सिद्ध होने पर भी जो निस् पूर्वक चि धातु से आचार्य के 'अप्' प्रत्यय का विधान किया है, यही ज्ञापित कर रहा है कि निस् पूर्वक चिधातु के विषय में 'थाथघञ्क्ताजबित्रकाणाम्' सूत्र से अन्तोदात्त नहीं होता है । अतएव 'निश्चयः' में धातुस्वर द्वारा मध्योदात्त ही इष्ट स्वर सिद्ध हुआ है । अतः इस प्रयोग में इष्ट स्वर की सिद्धि के लिए प्रकृत ज्ञापन आवश्यक तथा निरवद्य है ।

२२. भवति क्रियासमभिहारे लोट् इति ।

'क्रियासमभिहारेलोट् लोटो हिस्वौ वा च तध्वमोः' ३.४.२ सूत्र द्वारा क्रिया समभिहार अर्थात् पौनः पुन्य एवं भृशार्थत्व की विषयता में धातु से लोट् लकार का विधान होता है । उसके स्थान में तिङ् के अपवाद में 'हि' एवं 'स्व' का विधान किया गया है। वे हि तथा स्व क्रम से परस्मैपद संज्ञक होते हुए तिङ् संज्ञक भी माने जाते हैं । यह अर्थ भाष्यकार ने योग विभाग द्वारा साधित किया है—**योगविभागः करिष्यते** । 'क्रिया समभिहारे लोट्' क्रिया समभिहार में लोट् हो तदनन्तर 'लोटो हि स्वौ' अर्थात् लोट् के स्थान में हि एवं स्व आदेश होते हैं । इस योग में पूर्वयोग से लोट् का अनुवर्तन कर तत्सामर्थ्यात् लोट् स्थानिक जो 'हि' 'स्व' देखे गए हैं, तदर्थक हा ये हि तथा स्व होंगे । ऐसी व्यवस्था

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करने से लोट् स्थानिक हि, स्व गत कार्यों का अतिदेश होने के कारण इस हि, स्व में क्रम से परस्मैपद आत्मनेपदसंज्ञा सिद्ध होती है। अतः परस्मैपदि धातु से हि तथा आत्मनेपदि धातु से स्व आदेश होगा। उनमें तिङ्त्व व्यवहार भी होगा। अतएव 'स भवात् लुनीहि लुनीहीत्येवार्यं लुनाति' इत्यादि प्रयोगों में 'तिङतिङः' सूत्र से अनुदात्तत्व भी सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'वा च तध्वमोः' इस तृतीय योग से लोट् स्थानिक त-ध्वम् के विषय में ये हि, स्व आदेश विकल्प से होंगे। ऐसे ही इस सूत्र की व्याख्या भट्टोजिदीक्षित ने वै. सि. कौमुदी में भी की है। इस व्याख्या के विषय में ही भाष्य में आशंका की गई है कि लोट्-मध्यमपुरुषैकवचन प्रयोगों को ही क्रियासमभिहार की विवक्षा में द्वित्व विधान कर प्रकृत प्रयोगों का निर्वाह किया जा सकता है। यह सूत्र क्यों किया गया ? इस सूत्र के स्थान में **'लोटमध्यमपुरुषैकवचनस्यक्रियासमभिहारे द्वे भवतः'** यही पढ़ना चाहिए। इस आशंका पर यह आक्षेप किया गया कि लोट्-मध्यमपुरुषैकवचन का क्रियासमभिहार में विधान ही किस वचन से हुआ है कि उसका द्वित्वविधान किया जायेगा ? इसी आक्षेप के समाधान में प्रकृत ज्ञापन का उपन्यास भाष्य में किया गया—**एतदेव ज्ञापयत्याचार्यो— 'भवति क्रियासमभिहारे लोट्'** इति। भाव यह हुआ है कि जो क्रियासमभिहार में लोट्-मध्यमपुरुषैकवचन का द्वित्व विधान किया जा रहा है यही वृद्धकुमारीवरन्यायेन क्रियासमभिहार के विषय में लोट् का ज्ञापन कर रहा है वृद्धाकुमर्या वरः 'वृद्धकुमारी का वर है' यही वाक्य वृद्धा में भी कुमारी का ज्ञापन कर रहा है। उसी तरह 'लोट्-मध्यमपुरुषैकवचन का क्रियासमभिहार में द्वित्व होता है, यही वाक्य क्रियासमभिहार में भी लोट् का ज्ञापन कर सकता है'। इस तरह इस ज्ञापन के द्वारा क्रियासमभिहार में भी लोट् का साधन भाष्य में किया गया है। परन्तु इस वचन से क्रियासमभिहार में अपूर्व लोट् के विधान का ज्ञापन न कर विध्याद्यर्थ में 'लोट् च' सूत्र द्वारा विहित लोट् के मध्यमपुरुषैकवचन प्रयोग का ही क्रियासमभिहार की विवक्षा में द्वित्व विधानमात्र क्यों न किया जाय, यह निश्चय नहीं किया जा सकता है। दूसरी बात यह है कि इस ज्ञापन को मान भी लें तो भी इस ज्ञापन से लोट् मध्यम पुरुषैकवचन मात्र ज्ञापित हो सकता है। समस्त पुरुष, समस्त वचन विषयक अपूर्व हि, स्व ज्ञापित नहीं ही किया जा सकता है। सूत्र भेद की आपत्ति एक अलग ही होगी। अतः यह ज्ञापन केवल प्रासंगिक उक्तिमात्र है। सूत्र की जो व्याख्या योगविभाग द्वारा दर्शाई गई है वही व्याख्या उचित है। यही भाष्य का तात्पर्य है।

२३. अस्त्यन्यः कर्तुस्तुमनोऽर्थ इति।

'तुमर्थेसेसेनसेअसेन्कसेकसेनध्यै अध्यैन् कध्यै कध्यैन् शध्यै शध्यैन् तवैतवेङ्तवेनः' ३.४.९ सूत्र से से सेन् आदि प्रत्यय तुमर्थ में अर्थात् 'तुमुन्' प्रत्यय के अर्थ में बताए गए ने इस पर यह विचार भाष्य में किया गया है कि यदि 'तुमुन्' प्रत्यय का अर्थ 'कर्तृरिकृत्' सूत्र के अनुसार कर्ता है तो 'तत्तुल्यन्यायेन' से सेन् आदि प्रत्यय का अर्थ भी कर्ता ही होगा। 'तुमर्थे' ग्रहण सूत्र में क्यों किया गया। इसी आक्षेप पर प्रकृत ज्ञापन का उपन्यास किया

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गया— **एवं तर्हि सिद्धे सति यत्तुमर्थग्रहणं करोति तज्ज्ञापयत्याचार्योऽस्त्यन्यः कर्तुस्तुमनोऽर्थ इति** । अर्थात्—यही तुमुर्थ ग्रहण ज्ञापित कर रहा है कि तुमन् प्रत्यय का अर्थ कर्ता से अन्य ही है । वह अर्थ भाव ही हो सकता है क्योंकि प्रकृत ज्ञापन द्वारा कर्ता अर्थ का व्यवच्छेद ही हो गया है । इससे अतिरिक्त कर्मादि विशेष अर्थ का निर्देश नहीं है । **'अनिर्दिष्टार्थाः प्रत्ययाः स्वार्थे भवन्ति'** इस न्याय से जैसे 'गुप्तिज्किद्भ्यः सन्' 'यावादिभ्यः कन्' इत्यादि विहित प्रत्यय स्वार्थ में ही होते हैं उसी तरह तुमन्' प्रत्यय भी अनिर्दिष्टार्थ होने के कारण स्वार्थ में अर्थात् धात्वर्थमात्र में ही तुमन् प्रत्यय भी होगा । धात्वर्थ ही भाव शब्द से कहा जाता है । प्रकृत ज्ञापन द्वारा कर्ता अर्थ की व्यावृत्ति हो जाने का फल यह होगा कि अलग से **'अव्ययकृतो भावे'** वचन नहीं करना होगा । कर्ता से व्यावृत होकर अनिर्दिष्टार्थ होने के कारण ही भाव में होंगे । यह भाव धात्वर्थ रूप होने से साध्यत्वेनैव प्रतीयमान होंगे । न कि 'घञ्' आदि प्रत्ययार्थ भाव की तरह सिद्धत्वेन प्रतीयमान होंगे ,

इस तरह यह ज्ञापन निर्दिष्ट तथा आवश्यक है ।

२४. नानुबन्धकृतमनेजन्तत्वम् इति ।

'उदीचां माङो व्यतीहारे' ३.४.१६ सूत्र द्वारा 'मेङ् प्रणिदाने' धातु से त्वा प्रत्यय का विधान किया गया है । **'अयमित्य याचते'** इसका उदाहरण है । यद्यपि 'समानकर्तृकयोः पूर्वकाले' सूत्र से इस प्रयोग में भी क्त्वा प्रत्यय हो सकता है । तथापि यह सूत्र पूर्वकाल के अभाव में भी क्त्वा प्रत्ययार्थ किया गया है, जैसे 'पूर्व ह्यसौ याचते पश्चादपमयते' इस अवस्था में भी **अपमित्य याचते** यह प्रयोग होता है । इस सूत्र में विचार किया गया है कि यहां सानुबन्धक मेङ् धातु का कृतात्वेन 'माङ्' ऐसा निर्देश क्यों किया गया । मेङ् यही निर्देश क्यों नहीं किया गया । इससे यह एक लाभ था कि इस सूत्र में 'व्यतिहारे' ग्रहण नहीं करना पड़ता । क्योंकि मेङ् धातु अर्थतः व्यतिहारविषयक ही है । इससे स्वतः ही व्यतिहार के विषय मे क्त्वा प्रत्यय हो सकता है । इसी आक्षेप के समाधान में प्रकृत ज्ञापन का उपन्यास किया गया है— **'एवं तर्हि सिद्धे सति यन्मेङः सानुबन्धकस्यात्वभूतस्य ग्रहणं करोति तज्ज्ञापयत्याचार्यो नानुबन्धकृतमनेजन्तत्वं भवति इति ।'** भाव यह है कि यहां 'माङ्' निर्देश करते हुए आचार्य ने यह ज्ञापित किया है कि अनुबन्ध को लेकर धातु अनेजन्त नहीं माना जा सकता है । अतः मेङ् इसी सानुबन्धावस्था में ही एजन्त मान कर **'आदेच उपदेशे शिति'** सूत्र से आकार अन्तादेश किया गया है । यह ज्ञापन 'एकान्ता अनुबन्धाः' इस सिद्धान्त पक्ष के लिए आवश्यक है ।

अतएव 'दाधाध्वदाप्' सूत्र में दैप् धातु के लिए पृथक् से निषेधवचन आवश्यक नहीं होगा । दैप् धातु को सानुबन्धावस्था में भी एजन्त मानकर आकार अन्तादेश द्वारा दाप् रूप माना जा सकता है । अतः 'दाधाध्वदाप्' सूत्र में 'अदाप्' द्वारा दैप् धातु की तरह प्रतिषिद्ध हो जायेगा । एतदर्थ वचनान्तर कर्तव्य नहीं होगा । यह ज्ञापन 'परिभाषा' रूप में परिभाषेन्दुशेखर ग्रन्थ में भी व्याख्यात है ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

२५. न भवति समावेश, इति ।

'कर्तरिकृत्' ३.४.६७ सूत्र कृत्प्रत्यय के अर्थ का प्रतिपादन करता है । जिन प्रत्ययों के अर्थ विशेष का निर्देश नहीं किया गया है, कृत्प्रत्यय कर्ता अर्थ में जानना चाहिए । यही इस सूत्र का तात्पर्य है । इस सूत्र के भाष्य में यह विचार किया गया है कि 'आढ्यसुभगस्थूलपलितनग्नान्धप्रियेषुच्व्यर्थेष्वच्वौ कृञः करणे ख्युन्' आदि सूत्र द्वारा विहित 'ख्युन्' आदि प्रत्ययों का पर्या में प्रतिषेध विधान करना चाहिए, ताकि 'ख्यु' आदि प्रत्यय कर्ता में नहीं । यदि यह कहा जाय कि करणादि अर्थ में विहित 'ख्युन्' आदि प्रत्यय अपवादत्वेन 'कर्तरिकृत्' के बाधक हैं तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि 'कर्तरिकृत्' पृथग् वाक्य है । करण अर्थ में 'ख्युन् प्रत्यय का विधायक पृथग् वाक्य है । पृथग् वाक्य होने से दोनों वाक्यों में कालभेद है । विभिन्न कालिक वाक्यों में बाध्यबाधकभाव संभव नहीं होता है। पूर्वाह्ण में प्रयुक्त **'ब्राह्मणेभ्यो दधि दीयताम्'** वाक्य का अपराह्ण में प्रयुक्त 'तक्रं कौण्डिन्याय' वाक्य से बाध नहीं देखा जाता है । अतः यहां नानावाक्य होने के कारण 'कर्तरिकृत्' का बाध करणार्थक 'ख्युन्' आदि द्वारा नहीं हो सकता है । इस तरह 'ख्युन्' आदि प्रत्यय के विषय में भी कर्तरिकृत् का समावेश न्यायतः होना ही चाहिए । अतएव 'तयोरेव कृत्यक्तखलर्थाः' सूत्र में एवकार ग्रहण भी संगत होता है । अन्यथा भाव कर्म द्वारा कर्ता का बाध हो ही जाता कर्ता के व्यावृत्यर्थ एवकार ग्रहण असंगत हो जायेगा । अतः इस एवकार ग्रहण से यह ज्ञात किया जा सकता है कि अन्यत्र अर्थों में बाध्यबाधक भाव न होकर समावेश ही होता है । इसका एक यह भी लाभ होगा कि 'भव्यगेयप्रवचनीयोपस्थानीयजन्याप्लाव्यापात्या वा' सूत्र में वा ग्रहण भी नहीं कर्तव्य होगा । भाव कर्म के साथ कर्ता का भी समावेश स्वयं ही इस तरह सिद्ध हो जायेगा । **'गेयो माणवकः साम्नाम्' गेयानि सामानि** माणवकेन दोनों तरह के प्रयोग निर्बाध होंगे । इस तरह करणार्थक 'ख्युन्' आदि प्रत्यय के विषय में भी कर्ता का समावेश प्राप्त होने पर कर्ता में 'ख्युन्' आदि प्रत्ययों का प्रतिषेध आवश्यक है । तदर्थ प्रतिषेध वचन करना ही चाहिए । इस आक्षेप का प्रतिषेध आवश्यक है । तदर्थ प्रतिषेध वचन करना ही चाहिए । इस आक्षेप का समाधान प्रकृत ज्ञापन द्वारा किया गया है **यदयं कर्तरि चर्षिदेवतयोरिति सिद्धे सति समावेशे समावेशार्थं चकारं शास्ति तज्ज्ञापयत्याचार्यो न भवति** समावेश इति । भाव यह है कि 'कर्तरि चर्षिदेवतयोः' सूत्र द्वारा ऋषि (वेद) एवं देवता अर्थ में पू धातु से इत्र प्रत्यय के विधानार्थ, कर्ता अर्थ के साथ करण अर्थ के समावेश के लिए जो कर्तरि च इस तरह च शब्द का कथन आचार्य ने किया है यही ज्ञापित कर रहा है कि अर्थों का परस्पर समावेश नहीं होता है । अन्यथा कर्ता अर्थ के साथ प्रकृत करण अर्थ का भी समावेश हो ही जाता । चकार ग्रहण व्यर्थ हो जाता । ऐसी स्थिति में 'तयोरेव कृत्यक्तखलर्थाः'' सूत्र में एवकार च शब्द के अर्थ में जानना चाहिए कृत्यप्रत्यय भावकर्म में होंगे, तथा कर्ता में भी होंगे। इस प्रकार "भव्य गेय" आदि सूत्र भी नहीं कर्तव्य होगा। क्योंकि 'भव्य गेय' आदि के विषय में कृत्य प्रत्यय कर्त्रर्थक भी होगा ।शेष कृत्य प्रत्यय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनभिधानात कर्ता में नहीं होंगे। केवल भाव कर्म में ही होंगे। इस तरह प्रकृत ज्ञापन से कृत् प्रत्ययार्थों में परस्पर समावेश न होने से 'ख्युन्' आदि प्रत्ययों का कर्ता आदि में प्रतिषेध करने की कोई आवश्यकता नहीं है।

वस्तुतस्तु वाध्यवाधक भाव द्वारा ही असमावेश का साधन हो सकता है। ज्ञापन देना व्यर्थ है। जो यह कहा गया है। वि वाक्य भेद होने के कारण उत्सर्गापवाद भाव नहीं हो सकता है, इसलिए उत्सर्ग का बाध संभव नहीं होगा। यह ठीक नहीं है क्योंकि भिन्न देश होने मात्र से वाक्यभेद नहीं कहा जा सकता है। भिन्नदेशस्थों में भी आकाङ्क्षावशात् एकवाक्यत्व संभव है। जैसे द्वितीयाध्यायस्थ 'सुपोधातुप्रातिपदिकयोः' सूत्र द्वारा उत्सर्ग लुग् विधान किया गया तथा षष्ठाध्यायस्थ 'पंचम्याः स्तोकादिभ्यः' आदि सूत्रों से अपवादतया अलुक् विधान किया गया है। 'तयोरेव कृत्यक्तखलर्थाः' सूत्र में एवकार को चकार के अर्थ में स्वीकार करना भी नियुक्तिक ही है। अन्य शब्द का अन्य अर्थ करने में कोई कारण नहीं है। अतः यह एवकार अवधारणार्थक ही ठीक है। इस एवकार से ही ज्ञापित करेंगे कि— **'इत उत्तरं समावेशो भवति—इति**। अर्थात् कर्तरिकृत' सूत्र के उत्तर सूत्रों के विषय में समावेश होता है। इसका यह लाभ होगा कि 'भव्य गेय' इत्यादि सूत्र के विषय में समावेश सिद्ध हो जायेगा। इस सूत्र में वा ग्रहण नहीं करना पड़ेगा। 'गेयो माणवकः साम्नाम्,' **गेयानि सामानि माणवकेन**' इत्यादि प्रयोग सिद्ध हो जायेंगे। 'कर्तरि चर्षिदेवतयोः सूत्र में समावेशार्थ चकार को जो असमावेश का ज्ञापक कहा गया है यह भी ठीक नहीं है क्योंकि 'कर्तरि चर्षिदेवतयोः' सूत्र में यथा संख्यान्वय के लिए करणपरामर्शक तदर्थक चकार ग्रहण सार्थक होने से उसमें ज्ञापकत्व ही संभव नहीं है। इस सूत्र में 'ऋषौ' करणे देवतायां कर्तरि पू धातो रित्र प्रत्ययः स्यात् ऐसा अन्वय' अभीष्ट होने से समावेश है ही नहीं है। प्रकृत ज्ञापन केवल एकदेशीयोक्ति मात्र है।

नवम अध्याय

महाभाष्योक्त ज्ञापक और उनके मूल स्रोतों का अध्ययन

१: प्रागमुतः समावेशो भवति

असमावेश साधकत्वेन उक्त ज्ञापन वार्तिक द्वारा उपन्यस्त था। उसको भाष्यकार ने उत्सर्गापवादभाव का समर्थन करते हुए दूषित कर दिया। 'तयोरेवकृत्यक्तखलर्थाः' सूत्र में एवकारग्रहण से **'इत उत्तरं समावेशो भवति'**, इस अर्थ का ज्ञापन कर 'भव्यगेय' सूत्र में 'वा' ग्रहण का प्रत्याख्यान भी कर दिया। इसके अनन्तर यह शंका होती है कि यदि इससे उत्तर समावेश स्वीकार किया जायेगा तो 'दाशगोघ्नौ संप्रदाने'—'भीभादयोऽपादने' के विषय में भी समावेश होने लगेगा? इसी आक्षेप के समाधान में प्रकृत ज्ञापन का उपन्यास भाष्य में किया गया है— **'यदयंमादि कर्मणिक्तः कर्तरि चेति सिद्धे समावेशे समावेशार्थ चकारं शास्ति तज्ज्ञापयत्या-**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चार्यः— प्रागमुतः समावेशो भवति इति। अर्थात् इत उत्तरं समावेशो भवति ज्ञापन द्वारा कर्तरि-कृत्' ३-४-६७ सूत्रों के विषय में समावेश सिद्ध होते हुए भी पुनः जो 'आदिकर्मणि क्तः कर्तरि च' सूत्र में समावेशार्थ जो पुनः 'च' शब्द का ग्रहण किया गया, यही ज्ञापित कर रहा है कि 'आदिकर्मणि क्तः कर्तरि च' ३-४-७१ सूत्र से पहले ही समावेश होता है अर्थात् इस सूत्र से उत्तर सूत्रों के विषय में समावेश नहीं होता है। अतः इससे उत्तर 'दाशगोघ्नौ संप्रदाने' ३-४-७३ भीमादयोऽपादाने ३-४-७४ आदि के विषय में समावेश का दोष नहीं होगा। प्रकृत ज्ञापन निखरवद्य ही है।

२. न तिङन्तादणादयो भवन्ति इति।

ङ्याप्प्रातिपदिकात् ४-१-१ सूत्र की आवश्यकता को लेकर यह विचार होता है कि 'परश्च' सूत्र द्वारा पर में होने वाले प्रत्यय प्रत्ययार्थसंबन्ध **योग्यार्थाभिधायी ङ्यन्त आबन्तप्रातिपदिक रूप प्रकृति का आक्षेप स्वयं कर लेंगे।** तत्प्रकृतित्वेन ङ्याप् प्रातिपदिकग्रहण क्यों किया गया? इसके समाधान में यह कहा गया कि स्वादि प्रत्यय ङ्यन्त—आबन्त—प्रातिपदिक लक्षण प्रकृति से ही हो। धात्वादिलक्षण प्रकृति से न हो इसलिए ङ्याप्प्रातिपदिकग्रहण आवश्यक है। इस प्रयोजन का खण्डन करते हुए भाष्य में कहा गया है कि धातु से जो तव्यदादि प्रत्यय पृथग् विहित है, वे स्वादि के बाधक हो जायेंगे। अतः धातु से स्वादि प्रत्यय की प्रसक्ति नहीं होगी। यदि तिङन्त से स्वादि प्रत्यय की व्यावृत्ति के लिए ङयाप्रातिपदिक ग्रहण को आवश्यक कहा जाये तो तिङन्त से भी स्वादि प्रत्यय प्रसक्त नहीं हो सकते क्योंकि तिङ के द्वारा ही एकत्वादि संख्या उक्त हो जाने से— **'उक्तार्थानामप्रयोगः'** न्याय के अनुसार सुप् प्रत्यय उक्तार्थत्वादेव नहीं प्रसक्त होंगे। टाप् आदि स्त्री प्रत्यय भी तिङन्त से प्रसक्त नहीं होंगे। क्योंकि तिङन्त शब्द क्रिया प्रधानार्थक होने से उसके साथ स्त्रीत्व का संबन्ध ही असंभव है। इसी तरह क्रिया प्रधानार्थक का तिङन्त का अपत्यादि अर्थ के साथ संबन्ध न होने से अणादि तद्धित प्रत्यय भी प्रसक्त नहीं होंगे। यदि कथंचित् विवक्षावश अपत्यार्थ का संबन्ध स्वीकार भी कर लिया जाये तो भी तिङन्त से अणादि तद्धित प्रत्यय प्रकृत ज्ञापन से ही नहीं हो सकेंगे। कोई दोष नहीं होगा **'आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति' 'न तिङन्तादणादयो भवन्ति' इति यदयं क्वचित्तद्धितविधौ तिङ् ग्रहणं करोति' 'अतिशायने तमबिष्ठनौ' तिङश्चेति।** भाव यह है कि यदि तिङन्त से तद्धित स्वभावतः प्राप्त होते तो 'तमप'-प्रत्यय विधानार्थ 'तिङश्च' सूत्र पृथक् नहीं किया गया होता। सिद्ध होते हुए भी किया गया यही 'तिङश्च' सूत्र ज्ञापित कर रहा है कि तिङन्त से अणादि तद्धित प्रत्यय नहीं होते हैं। इस तरह कहीं अति प्रसक्ति नहीं होगी अतः 'ङ्यापप्रातिपदिकात्' सूत्र क्यों किया गया? यह शंका स्थिर हो गई। यद्यपि ङ्याप् प्रातिपदिक' ग्रहण की आवश्यकता का समर्थन **,वृद्धावृद्धावर्णस्वरद्वयज्लक्षणे च प्रत्ययविधौ तत्संप्रत्ययार्थम्' वार्तिक तथा** उसके भाष्य द्वारा विस्तारपूर्वक किया गया है तथापि प्रकृत ज्ञापन का आश्रय लेकर तिङन्त से स्वादिप्रत्यय की व्यावृत्ति की जा सकती है। अतः पूर्वपक्ष का साधक होता हुआ भी यह ज्ञापन निरवद्य है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

३. भवतीह तदन्तविधिरिति ।

'अजाद्यतष्टाप्' ४-१-४ सूत्र के भाष्य में **'शूद्राचामहत्पूर्वेति वक्तव्यम्'** यह वचन पढ़ा गया है। इसका तात्पर्य यह है कि अजादिगण में अजा, एडका, मूषिका, शूद्रा, इस तरह स्त्री प्रत्ययान्त शब्द पढ़े गए हैं। 'शूद्रा' शब्द जाति की विवक्षा में शूद्रत्वजाति विशिष्टा स्त्री, इसी विग्रह में शूद्र से 'टाप्' प्रत्यय के विधानार्थ इस गण में पढ़ा गया है। ताकि 'जातेरस्त्रीविषयादयोपधात्' सूत्र से जातिलक्षण ङीप् का बाध हो। अर्थात् जाति की विवक्षा में शूद्री प्रयोग न हो सके। **'गौणमुख्ययोर्मुख्ये कार्यसंप्रत्ययः'** इस न्याय से मुख्यार्थत्वेन जातिवाचक ही शूद्र शब्द का ग्रहण इस गण में जानना चाहिए। 'शूद्रस्य स्त्री' इस विग्रह में 'पुंयोगादाख्यायाम्' सूत्र से होकर शूद्री प्रयोग ही बनेगा। इस तरह जाति की विवक्षा में जाति लक्षण ङीष् के बाधनार्थ 'शूद्रा' शब्द अजादिगण में पढ़ा गया है। गणपठित इस शूद्र शब्द को 'अमहत्पूर्वा' ऐसा पढ़ना चाहिए। यही **'शूद्राचामहत्पूर्वा'** वचन का तात्पर्य है। इसका प्रयोजन यह बताया गया कि महत् शब्द के पूर्व में होने पर शूद्र शब्द से जाति की विवक्षा में टाप् नहीं होना चाहिए ताकि 'महाशूद्री' जाति प्रयोग हो। जाति की विवक्षा में महाशूद्रा प्रयोग न हो सके। इस पर भाष्य में पुनः आशंका की गई कि जब अजादि गण में शूद्रा शब्द से पठित है तो महाशूद्र से 'टाप्' की प्रसक्ति कैसे हो सकती है ? जिसके लिए 'अमहत्पूर्वा' यह प्रतिषेधवचन किया जाये। यदि यह कहो कि तदन्तविधि द्वारा शूद्र शब्द से शूद्र शब्दान्त का भी ग्रहण करेंगे तो यह ठीक नहीं है क्योंकि **ग्रहणवान्प्रातिपदिक से तदन्तविधि का निषेध 'समासप्रत्ययविधौ प्रतिषेधः** से किया गया है। अतः अमहत्पूर्व निषेध व्यर्थ ही है इस आक्षेप के समाधान में प्रकृत ज्ञापन का आश्रयण किया गया है— **एवं तर्हि ज्ञापयत्याचार्यः—भवतीह तदन्तविधिः इति।** अर्थात् इसी अमहत्पूर्व निषेध से आचार्य ने ज्ञापित किया है कि यहां स्त्रीप्रत्यय में तदन्तविधि होती है। अतएव 'भवन्तमतिक्रान्ता महान्तमतिकान्ता' इस विग्रह में समास करने पर अतिभवत, अतिमहत् शब्द से 'उगितश्च' सूत्र द्वारा ङीप् करके अतिभवती, अतिमहती, प्रयोग सिद्ध होते हैं। इस प्रकार तदन्त विधि सिद्ध होने पर जाति की विवक्षा में महाशूद्र शब्द से भी टाप् की प्रसक्ति हो जाती। इस की व्यावृत्ति के लिए अमहत्पूर्व निषेध करना आवश्यक ही है। यद्यपि शूद्र शब्द से सर्वथा भिन्न जातिवाचक महाशूद्र को मान लेने पर महाशूद्र घटक शूद्र शब्द के निरर्थक होने से महाशूद्र शब्द ही टाप् की प्रसक्ति ही संभव नहीं हो सकती है, तथापि शूद्र जाति निष्ठ महत्व की विवक्षा में अन्तरङ्गत्वात् शूद्र शब्द के ही साथ महत् शब्द का समास करने के बाद स्त्रीत्व की विवक्षा में टाप् निषेधार्थ अमहत्पूर्व निषेध आवश्यक ही है। इस तरह महाशूद्र शब्द में शूद्र शब्द अर्थवान् ही है। यही भाष्य का आशय है।

पूर्वत्र तदन्तविधिप्रतिषेधो न भवति, इति ।

'अनुपसर्जनात्' ४-१-१४ सूत्र अधिकार शास्त्र है। 'यूनस्तिः' सूत्रपर्यन्त स्त्रीप्रत्ययमात्र में यह अधिकृत होता है। इस सूत्र के प्रयोजन में 'बहुकुरूचरा' 'प्रियकुरूचरा, प्रयोगों में ङीप्

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की अप्रवृत्ति बताई गई है। भाव यह है कि **'बहवः कुरुचरा यस्या प्रियाः कुरुचरा यस्याम्'** इस विग्रह में बहुव्रीहि समास करने पर बहुकुरूचर, प्रियकुरूचर शब्द से ङीप् न हो, इसलिए अनुपसर्जनाधिकार आवश्यक है। अनुपसर्जनाधिकार करने पर टित् प्रातिपदिक कुरूचर है। वह बहुव्रीहि समास में उपसर्जन संज्ञक हो जाने से ङीप् का प्रतिषेध हो जायेगा। बहुकुरूचरी, प्रियकुरूचरी अनिष्ट प्रयोग नहीं होगा। इस पर भाष्य में यह विचार पुनः हुआ कि जब कि टित्प्रातिपदिक से ही ङीप् विहित है तो टित् कुरूचर शब्द से ही ङीप् प्राप्त होगा। बहुकुरूचर से ङीप् की प्राप्ति ही नहीं होगी। पुनः अनुपसर्जनाधिकार से ङीप् प्रतिषेध की क्या आवश्यकता है? यदि कहा जाये कि तदन्त विधि द्वारा प्राप्त टिदन्त बहुकुरूचर से प्राप्त हो सकता है, तन्निषेधार्थ अनुपसर्जनाधिकार आवश्यक है तो यह भी ठीक नहीं है प्रत्ययविधि में तदन्तविधि का समास प्रत्ययविधौ' प्रतिषेधः' वार्तिक से तदन्तविधि का निषेध होता है अतः टित् से टिदन्त का ग्रहण नहीं ही होगा। अनुपसर्जनाधिकार व्यर्थ ही है। इसी आक्षेप के समाधान में प्रकृत ज्ञापन का आश्रयण किया गया है— **'एवं तर्हि ज्ञापयत्याचार्यः— पूर्वत्र तदन्तविधिप्रतिषेधो न भवति इति'** अर्थात् यही अनुपसर्जनाधिकार इस तरह व्यर्थ होकर ज्ञापित करता है कि इससे पूर्व स्त्री प्रत्यय में तदन्तविधि होती है। अतएव 'अतिधीवरी', 'अतिपीवरी' प्रयोगों में धीवानमतिक्रान्ता, पीवानमतिक्रान्ता विग्रह में अतिधीवन्, अतिपीवन् वन्नन्तान्त प्रतिपदिक से भी 'वनोरच' सूत्र द्वारा ङीप् आदि कार्य सिद्ध होते हैं। यद्यपि 'शूद्राचामहत्पूर्वा में अमहत्पूर्व निषेध से तदन्तविधि का ज्ञापन किया गया है। उसी ज्ञापन को लेकर 'अतिधीवरी' 'अतिपीवरी' प्रयोगों की सिद्धि हो सकती है। यह अनुपसर्जनाधिकार एतदर्थ अनावश्यक ही हो सकता है तथापि शूद्राचामहत्पूर्वा में अमहत्पूर्वा से तदन्त विधि का ज्ञापन होने पर भी उपसर्जन के साथ तदन्तविधिज्ञापनार्थ अनुपसर्जनाधिकार भी सप्रयोजन ही है।

अथवा अनुपसर्जनाधिकार सामर्थ्यात् लौकिक अप्रधानलक्षण उपसर्जन की व्यावृति के लिए अनुपसर्जनविधिकार आवश्यक है। अतएव 'आपिशलिना प्रोक्तमधीते ब्राह्मणी 'आपिशला' यह प्रयोग निष्पन्न हुआ। **आपिशलिना प्रोक्तम्** विग्रह में आपिशलि से अण् करके पुनः अध्वेत् अर्थ में अण् किया गया उसका लुक् 'प्रोक्ताल्लुक्' से हो गया। यहां प्रोक्त प्रत्यय अण् के अध्येतृ के प्रति विशेषणतया अप्रधान हो जाने से अणन्तत्वात् ङीप् नहीं हुआ। किन्तु टाप् ही हुआ। एतदर्थ भी अनुपसर्जनाधिकार आवश्यक ही है।

४. भवत एते परिभाषे

'टिड्ढाणञ्द्वयसज्दघ्नञ् मात्रच्तयप्ठक्ठञ्क्वञक्वरपः ?' ४-१-१५ सूत्र के भाष्य में यह विचार किया है कि इस सूत्र में 'ढ' ग्रहण जो किया गया है, उसे सानुबन्धक होना चाहिए ताकि कारिकाया अपत्यं कारिकेयी, हारिकाया अपत्यं हारिकेयी इन प्रयोगों में कारिका, हारिका, शब्दों से अपत्य अर्थ में किया गया जो 'स्त्रीभ्यो ढक्' सूत्र से ढक्' प्रत्यय तदन्त से स्त्रीत्व की विवक्षा में इस सूत्र से ङीप् प्रत्यय हो सके। अन्यथा **'अनुनबन्धकप्रहणे हि न सानुबन्धकस्य'**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परिभाषा से 'ढ' के ग्रहण से 'ढक्' का ग्रहण नहीं होगा । यह परिभाषा अवश्य कर्तव्य है। अतएव 'पूरणगुण सुहितार्थसदव्यतव्यसमानाधिकरणेन' सूत्र में 'तव्य' का ग्रहण होने से 'तव्यत्' प्रत्ययान्त के साथ 'ब्राह्मणस्य कर्तव्यम्' यह षष्ठीसमास का निषेध नहीं होता है । यहां तव्यत् प्रत्यय के तित् होने के स्वरित होने के कारण **'गतिकारकोपपदात्कृत'** सूत्र से 'ब्राह्मणकर्तव्यम्' यह समस्त प्रयोग अन्तस्वरित होता है । यदि तव्यप्रत्ययान्त के साथ समास का निषेध नहीं किया गया होता तो षष्ठी समास होने पर कृत्स्वरप्रयुक्त यही प्रयोग अन्तोदात्त होता । इसी तरह अनुबन्ध के विषय में **तदनुबन्धग्रह णेऽतदनुबन्धकस्य ग्रहणम्'** तदनुबन्धक के ग्रहण में तद्भिन्नानुबन्धक का ग्रहण नहीं होता है यह परिभाषा भी अवश्य ही कर्तव्य है । इसका फल यह है कि अङ् **के ग्रहण से 'चङ्' का ग्रहण नहीं होता है,** अतएव 'श्वि' धातु से लुङ् में 'विभाषा घेट्व्योः' **सूत्र से प्राप्त 'चङ् के अभाव** पक्ष में 'जृस्तम्भु म्रुचुम्लुचुग्रुचुग्लुचुग्लुञ्चुश्विभ्य० ३-१-५८ सूत्र से 'च्लि' के स्थान में 'अङ्' प्रत्यय परे रहते 'श्वयतेरः ७-४-१८' सूत्र से 'श्वि' के स्थान में अकार आदेश होता है । 'अश्वत्' प्रयोग सिद्ध होता है। 'चङ्' पक्ष में अकार आदेश न होने से 'अशिश्वित्' यह प्रयोग सिद्ध होता है । इस प्रकार ये दोनों परिभाषाएं अनुबन्ध के विषय में अवश्य कर्तव्य हैं। अतः यही 'टिड्ढाणञ्'० सूत्र में सानुबन्धक 'ढ' का ग्रहण ही उचित है । यही विचार का विषय है । ऐसी स्थिति में क्या ये दोनों परिभाषाएं अवश्य कर्तव्य हैं या नहीं, इस विकल्प को लेकर भाष्य में कहा गया है कि न कर्तव्ये । **आचार्य प्रवृत्तिर्ज्ञापयति भवत एते परिभाषे इति—यदयं वामदेवा डयड्यौविति ययतौ डितौ करोति ।** भाव यह है कि 'वामदेवेन दृष्टं साम' विग्रह में वामदेव शब्द से ड्य तथा 'ड्यत्' प्रत्यय द्वारा 'वामदेव्यम्' प्रयोग बताया गया है। वामदेव्यम् की सिद्धि वामदेव शब्द य तथा 'यत्' प्रत्यय करने पर भी 'यस्येति च' से लोप कर के हो सकती थी पुनः 'डय' तथा 'डयत् इन दोनों परिभाषाओं का ज्ञापन करते हैं । डित्करण का प्रयोजन तभी ही है जबकि ये दोनों परिभाषाएं स्वीकार की जायें। अतएव 'अवामदेव्यम्' प्रयोग में नञ् समास करने पर 'ययतोऽचातदर्थे' सूत्र से अन्तोदात्त नहीं होता है । किन्तु **'तत्पुरुषेतुल्यार्थतृतीयासप्तम्युपमानाव्ययद्वितीयाकृत्याः'** ६-२-२ सूत्र से अव्ययपूर्वपद प्रकृति स्वर ही होता है । इसीलिए वामदेव शब्द से 'ड्य' 'ड्यत्' प्रत्यय किया गया । ताकि 'य' 'यत्' से गृहीत न हो । अन्यथा 'अवामदेव्यम्' में यह स्वर सिद्ध नहीं होता । यदि ये परिभाषाएं न हों तो 'डय' 'डयत्' में डित्करण व्यर्थ ही होगा । यही डित्करण व्यर्थ होकर उक्त दोनों परिभाषाओं का निरवद्य ज्ञापक है ।

यद्यपि ऐसी स्थिति में 'टिड्ढाण' सूत्र में टका सानुबन्धक निर्देश करना आवश्यक हो रहा है तथापि अननुबन्धक ढ प्रत्यय कहीं स्त्री प्रत्यय का विषय नहीं होता है केवल 'स्त्रीभ्योढक्' से विहित ही 'ढक्' प्रत्यय स्त्री प्रत्यय का विषय है । अतः यही इस सूत्र में गृहीत होगा । पुनः सानुबन्धक के उपसंख्यान की कोई आवश्यकता नहीं है। यही भाष्य का तात्पर्य है ।

५. लौकिकं परं गोत्रग्रहणम् ।

'यूनिलुक्' ४-१-९ सूत्र द्वारा अजादि प्राग्दीव्यतोय प्रत्यय० की विवक्षा में युवापत्यार्थ प्रत्यय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का लुक् किया जाता है। इस सूत्र के प्रयोजन में एक वार्तिक है— 'इञ्ण्यौ सर्वत्र' इस वार्तिक द्वारा इञ् प्रत्यय तथा 'ण्य' प्रत्यय को इस सूत्र का प्रयोजन बताया गया है । इञ् प्रत्यय का उदाहरण 'औपगवेर्यूनश्छात्रा 'औपगवीया', प्रयोग दिया गया है 'उपगोगोत्रापत्यम्' इस विग्रह में उपगु शब्द ले अण् प्रत्यय में औपगव शब्द से युवापत्य अर्थ में 'अत इञ्' से इञ् प्रत्यय किया हुआ उसका 'वृद्धाच्छः से छात्र अर्थ में 'छ' प्रत्यय की विवक्षा में इस सूत्र से लुक् हो गया। अतः 'औपगव' से ही वृद्धत्वात् छ प्रत्यय द्वारा औपगवीयाः छात्राः प्रयोग सिद्ध हुआ । यद्यपि इस प्रयोग में इञ् प्रत्यय के लुक् की आवश्यकता नहीं है। इञ् प्रत्यय का लुक् न होने पर भी 'च' प्रत्यय सिद्ध हो सकता है ? तथापि 'प्राग्दीव्यतीयाधिकारे यून**वृद्धवदतिदेशः कर्तव्यः**' 'वार्तिक से युवप्रत्यय इञ् में भी गोत्रवद्भाव का अतिदेश कर 'इञश्च' ४-२-१२ सूत्र से अण् प्रत्यय प्रसक्त हो जाता। अतः 'इञ्' का लुक् करना आवश्यक है । यह अभिप्राय है यदि 'इञश्च' ४-२-१२ सूत्र की 'गोत्रे य इञ्' तदन्तादण्स्यात्' गोत्रापत्य में विहित जो 'इञ्' तदन्त से अण् प्रत्यय हो ऐसी व्याख्या की जाये तो यहां इञ् के लुक् के विना भी '**औपगवेर्युनश्छात्रा औप-गवीया**' प्रयोग सिद्ध हो सकता है। यह 'यूनिलुक्' ४-२-१२ सूत्र का उदाहरण नहीं है। अतएव आगे 'अणण्यौ सर्वत्र प्रयोजनम्' ऐसा वार्तिक रूप स्वीकार किया गया है । '**ग्लुचुकायनेरपत्यं माणवकोग्लौचुकायनः, ग्लौचुकायनस्य यूनछात्राः ग्लौचुकायनाः' उदाहरण** दिया गया है। ग्लुचुकुस्य गोत्रापत्यम् विग्रह में ग्लुचुक शब्द से प्राचामवृद्धात् फिन् वहुलम्' ४-१-१६ से फिन् प्रत्यय में ग्लुचुकायनि से युवापत्य अर्थ में 'तस्यापत्यम्' ४-१-९२ से विधीयमान अण् प्रत्यय का छात्र अर्थ में अजादि प्रत्यय की विवक्षा में ही लुक् हो जाने से छात्र अर्थ में भी 'तस्येदम्' ४-३-१२० **सूत्र** से अण् प्रत्यय ही हुआ । यदि अण् का लुक् नहीं होता तो 'छ' प्रत्यय होने लगता। ण्य प्रत्यय का उदाहरण 'कापिञ्जलादेरपत्यं माणवकः कापिञ्जलाद्यः कापिञ्जलाद्यस्य छात्राः कापिञ्ज-लादाः' दिया गया है। कपिन्जलादस्य गोत्रापत्यम् विग्रह में 'अत इञ्' ४-१-९५ सूत्र से इञ् प्रत्यय में कापिज्जलादि शब्द से युवापत्य में 'कुर्वादिभ्यो ण्यः' १-५१ सूत्र से विधीयमान ण्य प्रत्यय का छात्रार्थक अजादि प्रत्यय की विवक्षा में लुक् हो जाने से कापिज्जलादि शब्द से इञश्च' ४-२-१२ सूत्र से अण् प्रत्यय हुआ । अन्यथा 'वृद्धाच्छः' ५-२-११४ सूत्र से 'छ' प्रत्यय हो जाता इस सूत्र की सार्थकता सिद्ध होने पर भी प्राग्दीव्यतीयार्थ विषय में युवापत्य में गोत्रवद्भाव का अतिदेश करना चाहिए। ताकि '**गार्ग्यायणानां समूहो गार्ग्यायणकः**' प्रयोग में गार्ग्यायण युवपत्यान्त शब्द से समूह अर्थ में '**गोत्रोक्षोष्ट्रोरभ्रराजराजन्यराजपुत्रवत्समनुष्यजाद्वुञ्**' ४-२-३९ सूत्र से 'वुञ्' प्रत्यय हो सके। **गार्ग्यायणानामिदम् गार्ग्यायणकम्** प्रयोग इस गार्ग्यायण शब्द से 'गोत्रचरणाद्-वुञ्' ४-३-१२६ सूत्र से 'वुञ्' प्रत्यय हो सके । इसी प्रकार गार्ग्यायणोभक्तिरस्य गार्ग्यायणकः' इस विग्रह में **गोत्रक्षत्रियारव्येभ्यो** बहुलं वुञ् ४-३-९९ सूत्र से 'वुञ्' प्रत्यय हो सके । यदि यह कहा जाये कि यह अतिदेश करने में गौरव होगा ता अतिदेश स्वीकार करने में 'यूनिलुक्' सूत्र नहीं करना होगा । क्योंकि युवापत्यार्थ में गोत्रभाव का अतिदेश करने पर 'युव' प्रत्यय की उत्पत्ति न होने से ही लुक् का विधान नहीं करना होगा । इस तरह कोई गोरव भी नहीं होगा। इस पर यह आशंका पुनः होती है कि 'यूनिलुक्' ४-१'९० सूत्र नहीं किया जायेगा जो 'फक्फिञोरन्यतरस्याम्' ४-१-९१ सूत्र भी विधेय के अभाव में अकर्तव्य हो जायेगा ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इससे **गार्ग्यायणस्य छात्राः गार्गीयाः** गार्ग्यायणीया ये दो रूप सिद्ध नहीं होंगे ? यदि यह कहो कि फक्, फिञ् संबन्धी युवापत्यार्थ में गोत्रवद्भाव ही विकल्प से करेंगे तो गोत्रवद्भाव पक्ष में युवार्थत्व प्रयुक्त 'फक्' प्रत्यय की अनुत्पत्ति होने से गार्ग्यायणानां समूह इत्यादि विग्रहों में भी **'गार्ग्यकम्' यह** प्रगोग प्रसक्त होगा। गोत्रवद्भाव के अभाव पक्ष में गार्ग्यायण युवापत्यान्त शब्द से गार्ग्यायणानां समूह इत्यादि विग्रहों में गोत्रप्रयुक्त 'वुञ्' प्रत्यय की ही सिद्धि नहीं होगी। इस तरह 'यूनिलुक्' ४-१-९० सूत्र करना आवश्यक है। अतिदेश विधान में गौरव अवश्य ही होगा। यदि युवार्थ में गोत्रवद्भाव का अतिदेश नहीं किया जायेगा। तो **'गार्ग्यायणानां समूहः'** इत्यादि विग्रहों में गोत्र प्रयुक्त ,वुञ्' प्रत्यय नहीं होंगे। इस तरह उभयतः दोष की संभावना में उक्त ज्ञापन का आश्रय लिया गया **'एवं तर्हि— यदयं वुञ् विधौ राजन्यमनुष्ययोर्ग्रहणम् करोति तज्ज्ञापयत्याचार्यो—लौकिकं परं गोत्रग्रहणमिति।** भाव यह है कि गोत्रे कुञ्जादिभ्यश्च्फञ्' ४-१-९८ सूत्र से गोत्रसंज्ञा विधायक सूत्र से पूर्ववर्ती सभी सूत्रों में गोत्र का अनुवर्तन होने से 'राजश्वशुराद्यत्' ४-१-१३७ 'मनोर्जातावञ्यतौषुक्च' ४-१-१६१ सूत्र द्वारा गोत्रापत्य में विहित प्रत्यय से सिद्ध राजन्य मनुष्य शब्द भी गोत्राभिधायी है। अतः गोत्रग्रहण से ही राजन्य, मनुष्य शब्द से भी समूहार्थ में 'वुञ्' प्रत्यय सिद्ध हो जाता **'गोत्रोक्षोष्ट्रोरभ्रराजराजन्यराजपुत्रवत्समनुष्याणाद्वुञ्'** ४-२-३९ में राजन्य मनुष्य शब्द का ग्रहण अनावश्यक था। किन्तु ये दोनों शब्द सूत्र में गृहीत किए गए हैं। यही ज्ञापित कर रहे हैं कि अपत्याधिकार से अन्यत्र गोत्रग्रहणलौकिकगोत्रपरक होता है। लोक में युवा का भी गोत्रत्वेन व्यवहार देखा जाता है —कि गोत्रोऽसि माणवक ? युवक तुम्हारा क्या गोत्र है ? युवापत्य से ऐसा प्रश्न किया गया है, उत्तर में वह युवक बोलता है 'गार्ग्यायणः। इस प्रस्तुत ज्ञापन द्वारा समस्त प्रयोग निष्पन्न होंगे। कोई दोष संभावित नहीं होगा। अतः सामान्यतः यह ज्ञापन स्वीकृत किया जाना चाहिये। अपत्याधिकार से अन्यत्र गोत्रग्रहण लौकिकगोत्रपरक ही हैं। लौकिक गौत्र मे अपत्यमात्र गृहीत होता है। अपत्याधिकार में युवत्वानाक्रान्त पौत्रप्रभृति अपत्य ही गोत्रग्रहण से गृहीत होगा। यद्यपि इस तरह सामान्य ज्ञापन से **'औपगवेयूनश्छात्राः'** इस विग्रह में औपगवि शब्द से 'इञश्च' सूत्र द्वारा अण् प्रत्यय प्रसक्त होता है। क्योंकि 'कण्वादिभ्यो गोत्रे' ४-२-११ 'इञश्च' ४-२-१२ यह सूत्र भी अपत्याधिकार से अन्यत्र ही है तथापि 'इञश्च' सूत्र की व्याख्या **'गोत्रे य इञ् तदन्तादण् स्यात्'** ऐसी व्याख्या की गई है। इस व्याख्या में कोई दोष नहीं होगा। यहां 'इञ् प्रत्यय गोत्र में विहित नहीं है। इस तरह यह ज्ञापन सर्वथा निरवद्य तथा आवश्यक ही है।

६. नाणि विषये घादयो भवन्ति इति।

शेषे ४-२-९२ सूत्र के प्रयोजन में वार्तिककार ने कहा है—**शेष वचनं घादीनामपत्यादिष्वप्रसंगार्थम् इसका** अर्थ यह है कि शेष ग्रहण करने से **:राष्ट्रावारपाराद्घखञौ'** ४-२-९३ प्रभृति सूत्रों से विहित जो घादि प्रत्यय है, उन प्रत्ययों की अपत्यादिचतुरर्थीपर्यन्त अर्थो में प्रवृत्ति नहीं होगी। किन्तु इनसे शेष जो उत्तरवर्ती जातादि अर्थ है, उन्हीं अर्थों में प्रवृत्ति होगी। यद्यपि घादि प्रत्ययों में अर्थ का निर्देश न होने से तथा जातादि अर्थ विशेष में प्रत्ययविधान

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करने वाले 'तत्र जातः' आदि सूत्रों में अर्थ का निर्देश न होने से परस्पर आकाङ्क्षा वशात् एकवाक्यता होने पर जातादि अर्थों में हीं घादि प्रत्यय होंगे । अपत्यादि अर्थों में विशेष प्रत्यय विहित होने से उन अर्थो में घादि प्रत्यय प्रवृत्त ही नहीं होंगे । अतः शेष ग्रहण अनावश्यक ही है तथापि 'तस्येदम्' ४-३-१२७ सूत्र से निर्दिष्टे इदमर्थ में सभी विशेष अर्थ अपत्य, समूह, निवास तथा विकार निविष्ट होने से अपत्याद्यर्थ में भी घादि की प्रसक्ति हो ही सकती है । अतः शेष ग्रहण आवश्यक है । शेष ग्रहण करने पर शेष अर्थो में ही घादि प्रवृत्त होंगे । तपत्याद्यर्थ में अतिप्रसक्त नहीं होंगे। अन्यथा अपत्यादि अर्थों में सामान्यतः प्राप्त अण् प्रत्यय को अपवादत्वाद्वाध कर घादि प्रत्यय ही प्राप्त होंगे । भानोरपत्यम् भानवः—इस विग्रह में 'तस्यापत्यम्' सूत्र ४-१-९२ से प्राप्त अण् का 'वृद्धाच्छः' सूत्र से विहित 'छ' प्रत्यय द्वारा बाध हो जायेगा । इससे भानवः इष्ट प्रयोग नहीं सिद्ध होगा । किन्तु भानवीयः यह अनिष्ट प्रयोग प्रसक्त होने लगेगा । अतः 'शेषे' ४-२-९२ सूत्र 'तत्रजातः' ४-३-३५ आदि सूत्रों में अधिकारार्थ आवश्यक ही है । इस तरह वार्तिक द्वारा इस सूत्र की सार्थकता बताये जाने पर भाष्यकार ने प्रकृत ज्ञापन द्वारा घादि प्रत्ययों को 'अण्' के विषय में अपवादता का विघटन कर सूत्र की सार्थकता निराकृत की है— **नैष दोषः आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति 'नाण्विषये घादयः प्राप्नुवन्ति' यदयं 'फेश्छचेति' ४-१-१४९ 'फिञन्ताच्छं शास्ति'**। भाव यह है कि ४-१-१४९ सूत्र द्वारा फिञन्त से 'छ' प्रत्यय का विधान किया गया है—**यमुन्दस्य गोत्रात्पत्यम् यामुन्दायनिः'** 'तिकादिभ्यः फिञ्' ४-१-१५४ सूत्र से 'फिञ्' प्रत्यय करने पर तदन्त से अपत्यार्थ में 'छ' तथा 'ठक्' प्रत्यय का विधान कर यामुन्दायनीयः, यामुन्दायनिकः प्रयोग बनाया जाता है। यदि अपत्याद्यर्थ में भी घादि प्रवृत्त होते तो 'फेश्छ च' सूत्र में फेर्वा मात्र सूत्र कर के केवल 'ठक्' प्रत्यय का विकल्प विधान करते 'ठक्' प्रत्यय के अभाव में वृद्धाच्छः' सूत्र से ही 'छ' प्रत्यय हो जाता । अतः इस सूत्र से विधान व्यर्थ होकर यह ज्ञापन करता है कि अपत्याद्यर्थरूप अण् प्रत्यय के विषय में घादि प्रत्यय नहीं प्रवृत्त होते हैं । यदि कहा जाये कि फेश्छ च' ४-१'१४९ सूत्र 'फिञ्' प्रत्ययान्त से 'छ' प्रत्यय विधानार्थ है तो कहना ठीक नहीं होगा; क्योंकि फेश्छ च' ४-१-१४९ सूत्र में 'वृद्धाट्ठक्, सौवीरेषु बहुलम्' ४-१-१४८ सूत्र से सौवीरेषु का अनुवर्तन होता है । कोई फिञ् प्रत्ययान्त शब्द सौवीरगोत्र नहीं है । फिञन्त से ही 'छ' प्रत्यय का विधान किया गया है। अतः यह ज्ञापन सर्वथा निर्दोष ही है । यद्यपि ज्ञापन का आश्रय लेकर 'शेषे सूत्र का खण्डन भाष्यकार ने किया है तथापि ज्ञापक से अनुमानिक वचन कल्पनापेक्षया सूत्र करना ही ज्यायान् है । यह उद्योत में नागेश भट्ट ने स्पष्ट किया ।

७. भवत्यत्र सप्तमी इति ।

विभाषा पूर्वाह्णापराह्णाभ्याम्' ४-३-२४ सूत्र पर वार्तिककार ने वार्तिक किया है । **'पूर्वाह्णापराह्णाभ्यां सुबन्तवचनं सप्तमी श्रवणार्थम्'** अर्थात् सुबन्त पूर्वाह्ण तथा अपराह्णशब्द का वचन इस सूत्र में करना चाहिये ताकि पूर्वाह्णेतनम्, अपराह्णेतनम् प्रयोगों में सप्तमी श्रूयमाण हो । भाव है कि 'ङ्याप्प्रातिपदिकात्' ४-१-१ सूत्र का अधिकार होने के कारण प्रातिपदिक से ही

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तद्धितोत्पत्ति होगी । इसलिए 'पूर्वाह्णेतनम्' इत्यादि प्रयोगों में सप्तमी का श्रवण संभव नहीं होगा । इसलिए पूर्वाह्ण, अपराह्ण के सुबन्तत्व का विधान करना चाहिए । इसी वार्तिक के आक्षेप के समाधान में प्रकृत ज्ञापन उपन्यस्त है **'न वक्तव्यम् । आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति–भवत्यत्र सप्तमीति— यदयं घ कालतनेषु कालनाम्नः इति सप्तम्या अलुकं शास्ति,** । भाव यह है कि 'घकालतनेषु कालनाम्नः ६-३ २७' सूत्र से जो घसंज्ञकप्रत्यय काल तथा तन, 'ट्यु ट्युल्' प्रत्यय परे रहते जो कालवाची शब्द से सप्तमी विभक्ति का अलुक् विधान किया गया है, यही ज्ञापित कर रहा है कि कालवाचक शब्द में सप्तमी होती है । इस पर यह शंका होती है कि कालवाचक शब्द से सप्तमी ज्ञापित होती है जो 'दोषातनम्' दिवातनम्' प्रयोगों में अव्यय से भी सप्तमी श्रुत होनी चाहिए । यदि यह कहा कि 'अव्ययादाप्सुपः' २-४-८२ सूत्र प्राप्त लुक् तो अव्ययमात्र सापेक्षत्वेन अन्तरङ्ग होने के कारण तद्धितोत्पत्ति से पूर्व ही हो जाता है । उसका बाध अलुक् द्वारा नहीं हो सकता है तो 'दोषा' तनम् दिवातनम्'—आदि प्रयोगों में प्रातिपदिकावस्था में तद्धित उत्पन्न होने के अनन्तर ज्ञापकबलात् सप्तमी की प्राप्ति होने पर ही अव्ययत्वप्रयुक्त लुक् भी तद्धितोत्पत्युत्तरकालभाविसुपस्थानिकत्वेन अलुक् का समानाश्रय होने से बाध्य हो सकता है। इस तरह जैसे 'पूर्वाह्णेतनम्' आदि प्रयोगों में सप्तमी श्रुत है उसी तरह दोषातनम्' 'दिवातनम्' आदि प्रयोगो में भी सुप्लुक् का अलुक् द्वारा बाध होने से सुप् विभक्ति श्रुत होनी ही चाहिए । इस शंका के समाधान में भाष्य यह कहा गया है—**एवं तर्हि न ब्रूमः—अलुग्वचनं ज्ञापकं भवत्यत्र सप्तमीति । किं तर्हि भवति सुबन्तादुत्पत्तिरिति** । भाव यह है कि इस अलुग विधान से यह ज्ञापित होता है कि सुबन्त से ही तद्धितोत्पत्ति होती हैं । अर्थात् स्वार्थद्रव्य लिङ्संख्या तथा कारक इन समस्त अर्थों से परिपूर्ण पद का ही पदान्तर के साथ सम्बन्ध होता है । यही अर्थ इस ज्ञापन से ज्ञापित होता है ।

'समर्थानां प्रथमाद्वा' ४-१-८२ सूत्र से समर्थ का अधिकार होता है । समर्थ शब्द वह है जो तद्धितार्थ से अन्वित हो सके । और कृतवर्णानुपूर्वीक भी हो । अतः सुबन्त से ही तद्धितोत्पत्ति का ज्ञापन अलुग्विधान से होता है । 'ङ्याप्प्रातिपदिकात्' ४.१.१. सूत्र से प्रातिपदिक का भी अधिकार होता है, समर्थतया प्रातिपदिक दोनों के अधिकार से यह निष्कर्ष निकलता है कि प्रत्यय प्रकृतित्वेन निर्दिष्ट तथा वृद्ध, अवृद्ध, अदन्त, द्वयच् आदि निर्दिष्ट विशेषणों से विशिष्ट जो प्रातिपदिक तत्प्रकृतिक समर्थ सुबन्त से तद्धित प्रत्यय होता है । अतः दोनों अधिकारों का समन्वय हो जाता है । अतः प्रकृत ज्ञापन न होने पर दोनों अधिकारों का समन्वय उक्त विधि से संभव नहीं हो सकता । अतः यह ज्ञापन परम आवश्यक है । सुबन्त से तद्धितोत्पत्ति स्वीकार करने सुप्निमित्तक कार्य प्रातिपदिक को नहीं होता हैं । **'अन्तरङ्गानपि विधीन् बहिरङ्गो लुग्बाधते'** न्याय से लुक् तथा लुक् निमित्तभूत तद्धितादि कार्य बलवान् स्वीकार किया गया है । अतएव 'द्विपदः आगतम् = द्विपाद्रूप्यम्' 'प्रष्ठौहः **आगतम् = प्रष्ठवाड्रूप्यम्'** इत्यादि प्रयोगों में कोई अनुपत्ति नहीं हो सकती है ।

८. नान्तेवास्यन्तेवासिभ्यो भवति

'कलापिवैशम्पायन्तान्तेवासिभ्यश्च' ४.३.१०४ सूत्र द्वारा कलापि के जो अन्तेवासी तथा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वैशम्पायन के जो अन्तेवासी तदभिधायक शब्द से णिनि प्रत्यय होता है। **कलाप्यन्तेवासी 'हरिद्रु शब्द से 'हरिद्रुणा' प्रोक्तमधीयते** विग्रह में हारिद्राविणः प्रयोग बनता है। वैशम्पायनान्तेवासी आलम्ब शब्द से 'आलम्बेन प्रोक्तमधीयते' विग्रह में 'आलम्बिनः' प्रयोग सिद्ध होता है। इस पर वार्तिककार ने एक वार्तिक द्वारा आक्षेप किया है कि 'प्रत्यक्षकारिग्रहणम्' अर्थात् इस सूत्र में प्रत्यक्षकारि ग्रहण करना चाहिए ताकि अन्तेवासी के अन्तेवासी से णिनि प्रत्यय न हो। शिष्य के शिष्य में भी शिष्यत्व व्यवहार लोक में देखा जाता है। इसलिए प्रत्यक्षकारिग्रहण करना चाहिए। यहां 'कृ' धातु अध्ययन में प्रयुक्त है। अर्थात् प्रत्यक्ष अध्ययन करने वाले अन्तेवासी (छात्र) से ही उक्त प्रत्यय हो प्रत्यक्ष छात्र के छात्र से न हो। इस वार्तिक के आक्षेप के समाधान में प्रकृत ज्ञापन का उपन्यास किया गया है— **न कर्तव्यम्' । यदयं कलापिखाडायनं ग्रहणं करोति तज्ज्ञापयाचार्यो नान्तेवास्यन्तेवासिभ्यो भवतीति ।'** ज्ञापन का प्रकार यह है— वैशम्पायन के अन्तेवासी कठ हैं कठ के अन्तेवासी खाडायन हैं। कलापी भी वैशंपायन के अन्तेवासी हैं। यदि अन्तेवासी का अन्तेवासी भी अन्तेवासिग्रहण से गृहीत होता तो कलापी के अन्तेवासी से वैशम्पायनान्तेवासित्वेनैव णिनि प्रत्यय सिद्ध हो जाता। अतः पृथक् कलापि ग्रहण व्यर्थ होकर प्रत्यक्षाध्यायी के ग्रहण का ज्ञापक है। इसी तरह कठान्तेवासी खाडायन का ग्रहण णिनी प्रत्ययार्थ शौनकादिगण में किया गया है। कठान्तेवासी खाडायन से भी वैशम्पायनान्तेवासित्वेनैव णिनि प्रत्यय हो जाता। पुनः 'शौनकादिभ्यश्छन्दसि' ४.३.१०६ सूत्र से णिनि प्रत्ययार्थ शौनिकादिगण में जो खाँडायन शब्द का पाठ किया गया यह भी व्यर्थ हो कर अन्तेवासी का अन्तेवासी अन्तेवासिग्रहण से गृहीत नहीं होता। इस अर्थ का स्पष्ट ज्ञापक है। इस तरह आचार्य की प्रवृत्ति से ही प्रत्यक्ष अन्तेवासी ही अन्तेवासिग्रहण से गृहीत होगा। इस सूत्र में 'प्रत्यक्षकारि ग्रहणम्' वार्तिक अनावश्यक है। यही इस ग्रन्थ का तात्पर्य है।

१०. नापवादविषये छो भवति, इति ।

'प्राक्क्रीता च्छः' ५.१.१. यह अधिकार शास्त्र है। 'तेन क्रीतम्' ५.१.३७ सूत्र में निर्दिष्ट क्रीत अर्थ से पहले तक प्रत्यय का अधिकार बताया गया है। यहाँ यह विचारणीय है कि प्राग् ग्रहण क्यों किया गया। अर्थात् क्रीत अर्थ से पूर्व जो अवधि का निर्देश किया गया है, वह अनावश्यक है, जैसे प्रत्यय आदि ३.१.१ अधिकार अवधि विशेष के उपादान के बिना ही इसके साधक हैं उसी तरह छः मात्र के ही अधिकार से यहां भी निर्वाह हो सकता है। अवधि विशेष का उपादान क्यों किया गया है? इसका उत्तर यह दिया गया है कि प्राग्वचन अर्थात् अवधि विशेष का उपदान इसलिए किया गया है कि क्रीत अर्थ से पहले जो अर्थ है, उन सभी अर्थों में (सकृत्) एक ही बाय 'छ' प्रत्यय का विधान हो सके तथा प्रतियोग में 'छ' का ग्रहण न करना पड़े। यदि सकृत, विधान नहीं होगा तो 'तस्मै हितम्' इस तरह अर्थनिर्देशक प्रति–सूत्र में 'छ' वचन आवश्यक हो जायेगा। यदि 'छ' मात्र का अधिकार किया जायेगा तो अपवाद के विषय में भी 'छ' प्रत्यय प्रसक्त होने लगेगा। 'उगवादिभ्यो यत्' ५.१.२ छश्च इस प्रकार यत् के विषय में 'छ' प्रत्यय प्रसक्त होगा। अतः प्राग्वचन करना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चाहिए। प्राग्वचन करने पर क्रीत अर्थ से प्राग्वर्ती 'तस्मैहितम्' ५.१.५ सूत्र निर्दिष्ट हित अर्थ में 'शरीरावयवाद्यत्' ५.१.६ सूत्र से विधीयमान 'यत्' प्रत्यय प्रकृत्यन्तर में सावकाश 'छ' प्रत्यय को बाध लेता है । अतएव 'प्राक्क्रीतात्' से अवधित्वेन अर्थ का ही निर्देश किया गया । यदि क्रीत से पूर्ववर्ती प्रकृति की अधिकारावधित्वेन स्वीकार करें तो प्रति प्रकृति 'छ' की प्राप्ति से अपवाद विषय में भी छ प्रत्यय प्रसक्त होगा ही। अतः अर्थ को ही अधिकारावधि स्वीकार करना श्रेयान् है। यदि अर्थ का अधिव स्वीकार करने में अवधि-अवधिमान् का साजात्य नहीं हो रहा है । लोक में अवधि-अवधिमान् का साजात्य ही देखा जाता है जैसे 'मासात् परः' ऐसा कहने पर काल ही प्रतीत होता है । 'ग्रामात्पूर्वः' कहने पर देश प्रतीत होता है । तो 'प्राक्क्रीताद् याः प्रकृतयः' इस प्रकार प्रकृति को ही अवधित्वेन स्वीकार किया जा सकता है। प्रकृति शब्द है अतः प्रत्ययाधिकार की अवधि होने में कोई विरोध नहीं होगा । किन्तु इस पक्ष में अपवाद के वियष में भी 'छ' प्रत्यय की प्रसक्ति० दोष होगा ही । इसी दोष के परिहार के लिए प्रकृत ज्ञापन का उपन्यास भाष्य में किया गया है— **'नवैष दोषः किं कारणम् ! क्वचिद्वावचनात् । यदयं क्वचिद्वावचनं करोति—विभाषा हविरपूपादिभ्य इति । तज्ज्ञापयत्याचार्यो नापवादविषये छो** भवति इति । भाव यह है **कि विभाषाहविरपूपादिभ्यः** ५.१.४ सूत्र द्वारा जो विकल्प से 'यत्' का विधान किया गया है वही ज्ञापन कर रहा है कि अपवाद 'यत्' के विषय में 'छ' प्रत्यय नहीं होता है । यदि अपवाद के विषय में भी 'छ' प्रत्यय होता तो 'यत्' का विकल्प विधान व्यर्थ ही हो जायेगा। इस तरह प्रकृति को अवधि स्वीकार करने में भी कोई दोष नहीं है। वस्तुतः 'प्राक्ठञ्' 'ऐसा सूत्र करने में लाघव होने पर भी जो 'प्राक्क्रीताच्छः' ऐसा गुरुभूत सूत्र किया गया है यह ज्ञापित कर रहा है । अर्थ को हा अधिकारावधित्वेन स्वीकार करना चाहिए । इस पक्ष में ज्ञापन का आश्रयण नहीं करना ही परम लाघव है। न्यायतः एव अपवाद के विषय में 'छ' प्रत्यय की प्रसक्ति नहीं होगी ।

११. पूर्ववत्तदन्तविधेः प्रतिषेधो न भवति ।

'असमासे निष्कादिभ्यः' ५.१.२० सूत्र 'प्राग्वतेष्ठञ्' ५.१.१८ सूत्र निर्दिष्ट 'ठञ्' प्रत्यय के अधिकार में है । इस सूत्र में 'आर्हादिगोपुच्छसंख्यापरिमाणाट्ठक्' ५.१.१९ सूत्र से 'ठक्' का अनुवर्तन कर 'असमासे निष्कादिभ्यष्ठक् स्यादार्हीयेष्वर्थेषु' ऐसी व्याख्या की जाती है। 'निष्क' शब्द परिमाणवाची होने से आर्हादिगोपुच्छसंख्यापरिमाणट्ठक्' ५.१.१९ सूत्र द्वारा अधिकृत 'ठक्' का विषय नहीं था, अतः इस सूत्र से 'ठक्' का विधान किया गया है। 'निष्केण क्रीतम्' इस विग्रह में 'ठक्' प्रत्यय द्वारा नैष्किकम् प्रयोग सिद्ध होता है। इस सूत्र में असमास ग्रहण को लेकर भाष्य में विचार किया गया है कि इस सूत्र में असमास ग्रहण क्यों किया गया है। प्रत्युदाहरण मे कहा गया है—'परमनिष्केण क्रीतम्—'परमनैष्किकम्' अर्थात् असमासग्रहण यदि नहीं किया जायेगा तो समस्त 'परमनिष्क' शब्द से भी ठक् प्रत्यय प्रसक्त होगा यह अनिष्ट है । असमास ग्रहण करने पर यहां समास होने के कारण 'ठक्' नहीं होगा। किन्तु 'प्राग्वतेष्ठञ्' ५.१.१८ से अधिकृत 'ठञ्' प्रत्यय हुआ । 'परिमाणान्तस्यासंज्ञा-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शाणयोः' सूत्र से उत्तरपदादि अच् की वृद्धि करने से 'परमनैष्किकम्' प्रयोगसिद्ध होता है । इस पर पुनः यह विचारणीय है कि अब 'निष्क' शब्द से प्रत्यय का विधान किया गया है, तो वह परमनिष्क शब्द से कैसे प्रसक्त हो सकता है जिसके निषेध के लिए असमासग्रहण किया गया। यदि कहा जाये कि तदन्तविधि से प्राप्त होगा, तो यह संभव नहीं है क्योंकि प्रत्ययविधि में गृह्यमाणप्रातिपदिक से तदन्त विधि निषिद्ध है । इसी आक्षेप के उत्तर में प्रकृत ज्ञापन का उपन्यास किया गया है – **'निष्कादिष्वसमासग्रहणं क्रियते ज्ञापकार्थम्' किं ज्ञाप्यम् ? एतज्ज्ञापयत्याचार्यः पूर्वत्र तदन्तविधेः प्रतिषेधो न भवति इति।** भाव यह है कि यही असमासग्रहण ज्ञापित करता है कि पूर्व गृह्यमाण प्रातिपदिक में तदन्त विधि होती है । इसका यह प्रयोजन है कि खलयवमाषतिलवृषब्रह्मणश्च' ५.१.७ सूत्र द्वारा विहित 'यत्' प्रत्यय' कृष्णतिलेभ्यो हितः' इस विग्रह में कृष्णतिल शब्द से भी हो इसी तरह 'राजमाषेभ्यो हितम्' इस विग्रह में 'राजमाष' शब्द से भी हो । ताकि कृष्णतिल्यः राजमाष्यम्', प्रयोग सिद्ध हो सके । इस तरह यह ज्ञापन आवश्यक तथा निर्दोष है । भाष्य में इस ज्ञापन के कुछ प्रयोजन दिखाकर जो दूषित किए गए हैं । यह केवल व्युत्पत्तिलाभ मात्र के लिये है । इस ज्ञापन का मुख्यप्रयोजन 'कृष्णतिल्यः राजमाष्यम्' यही प्रयोग है जोकि भाष्य में स्पष्ट किया गया है ।

१२. भवत्यत्र कन्–इति ।

१३. योगापेक्षं ज्ञापकम्

'विंशति त्रिंशद्भ्यां ड्वुनसंज्ञायाम्'--५.१.२४ सूत्र द्वारा विंशति तथा त्रिंशत् शब्द से असंज्ञा में ड्वुन् प्रत्यय का विधान किया जाता है जो 'संख्याया अतिशदन्तायाः कन्:' ५.१.२२ से विहित 'कन्' प्रत्यय का अपवाद है । विंशकः त्रिंशकः ये 'दो रूप विंशतिः परिभाणस्य' 'संघस्य त्रिंशत् परिमाणमस्य संघस्य' इत्यादि विग्रहों में आर्हीय अर्थों की विवक्षा में सिद्ध होते हैं । असंज्ञा के उदाहरण से 'त्रिंशत्कः' 'विंशतिकः' ये दो प्रयोग 'कन्' प्रत्यय से सिद्ध भाष्य में बताए गए हैं। इस पर यह आशंका की गई कि इन प्रयोगों में 'कन्' की प्राप्ति कैसी होगी क्योंकि 'संख्याया अतिशन्तायाः कन्' ५.१.१२ सूत्र में 'अतिशदन्तायाः' इससे त्यन्त शदन्त संख्या का प्रतिषेध किया गया है ? इसी शंका के समाधान में प्रकृत ज्ञापन का आश्रयण किया गया है— 'एवं **तर्ह्याचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति – 'भवत्यत्र कन् इति यदयं 'विंशतिकात्खः' इति प्रत्ययान्तनिपातनं करोति।** भाव यह है कि 'विंशतिकात् खः' ५.१.३२ सूत्र में 'ख' प्रत्यय विधानार्थ जो 'विंशतिकः' 'कन्' प्रत्ययान्त का आचार्य ने निर्देश किया है, यही निर्देश ज्ञापित कर रहा है कि 'विंशति', शब्द से 'कन्' प्रत्यय होता है।

इस पर पुनः यह आशंका होती है कि यह निर्देश केवल 'विंशति' शब्द से 'कन्' प्रत्यय का ज्ञापक हो सकता है 'त्रिशत्' शब्द से कन् कैसे होगा ? इस आशंका के समाधान में भाष्य में कहा गया है— **'योगापेक्षं ज्ञापकम्'** । इसका अभिप्राय यह है कि **'स्त्रियाः पुवद्भाषितपुस्कादनङ् समानाधिकरणे स्त्रियामपूरणीप्रियादिषु'** ६.३.३४ इस सूत्र में पुंवत् इस निर्देश

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से स्त्री तथा पुंस शब्द से 'वति' प्रत्यय के अर्थ में नञ् स्नञ्लम् प्रत्यय के अभाव का ज्ञापन किया गया है। यह ज्ञापन जैसे योगापेक्ष किया गया है अर्थात् 'स्त्रीपुंसाभ्या नञ्स्नञौ भवनात्' ४.१.८७ यह योग मात्र वत्यर्थ में प्रवृत्त न होने का ज्ञापन जैसे किया है, इस प्रकार स्त्रीवत् यह प्रयोग भी सिद्ध होता है उसी तरह यहां भी योगापेक्ष ज्ञापन द्वारा **'विंशतित्रिंशद्भ्यां कन् भवत्येव** ऐसा ज्ञापन कर त्रिंशत्कः' प्रयोग भी सिद्ध किया जाता है। यही भाष्य का तात्पर्य है।

अथवा यहां योगविभाग द्वारा भी 'कन्' प्रत्यय का साधन किया जा सकता है। 'विंशतत्रिंशद्भ्या' **इस योग से 'कन्'** प्रत्यय का विधान कर के 'ड्वुनसंज्ञायाम्' इस द्वितीय योग से असंज्ञा में ड्वुन् प्रत्यय का विधान कर 'विंशकः' 'त्रिंशकः' प्रयोग सिद्ध किया जा सकता है।

१४. भवतीव शब्देन योगेन सप्तमी इति।

'तत्र तस्येव'— ५.१.११६ सूत्र के विषय में यह प्रश्न होता है कि 'तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः' ५.१.११५ सूत्र से ही इस सूत्र का भी प्रयोजन सिद्ध था। यह सूत्र क्यों किया गया। भाव यह है कि 'ब्राह्मणस्येव क्षत्रियस्य स्वम्' इसी अर्थ में 'ब्राह्मणेन तुल्यं क्षत्रियस्य स्वम्' यह वाक्य भी हो सकता है। इसी तरह ब्राह्मणे इव क्षत्रिये वर्तते। इस अर्थ में ब्राह्मणेन तुल्यं क्षत्रिये वर्तते। यह प्रयोग भी हो सकता है ऐसी स्थिति में तृतीया से ही षष्ठयर्थ सप्तम्यर्थ व्याप्त होने से तृतीयान्तत्वेन 'तेन तुल्यं क्रिया चद्वति' ५.१.११५ सूत्र से ही यहां भी 'वति' प्रत्यय का विधान कर सकते हैं। इस सूत्र में यदि क्रिया ग्रहण न करें तो जो अर्थ 'मथुरायामिव पाटलिपुत्रे प्राकाराः' यहां है वही अर्थ 'मथुरया तुल्या पाटलिपुत्रे प्राकाराः' प्रयोग में है। इसी तरह 'देवदत्तस्येव यज्ञदत्तस्य शुक्ला दन्ता' यहां जो अर्थ है वही देवदत्तेम तुल्या यज्ञदत्तस्य शुक्ला दन्ताः इस प्रयोग में भी है। यहाँ मथुरा शब्द से मथुरा के प्राकार तथा देवदत्त के दन्त कहे गए हैं। इसलिए इसी सूत्र से 'वति' प्रत्यय सिद्ध था। 'तत्र तस्येव' ५.१.११६ सूत्र पृथक् क्यों किया गया? यही प्रश्न कर्ता का आशय है। इसका समाधान भाष्य में यह किया गया की तृतीयान्त समर्थ से क्रिया कीं तुल्यता में वति प्रत्यय 'तेन तुल्य क्रिया चेद्वतिः' से किया जाता है। इव शब्द के योग में तृतीया संभव भी नहीं है। अतः 'तत्र तस्येव' सूत्र पृथक् आवश्यक है। भाव यह है कि 'गवा तुल्यो गवयः' इस प्रयोग में प्रत्यय की व्यावृत्ति के लिए 'तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः' ५.१.११५ सूत्र में क्रिया ग्रहण आवश्यक है। क्रिया ग्रहण करने पर द्रव्यगुण की तुल्यता में इस सूत्र से 'वति' प्रत्यय प्राप्त न होने के कारण षष्ठ्यन्त सप्तम्यन्त से इवार्थ में पुनः वति प्रत्यय का विधान करना आवश्यक है। इव शब्द सादृश्य का द्योतक है इसलिए 'इव' शब्द के योय में तृतीय विभक्ति संभव नहीं है। जैसे 'गवा तुल्यो गवयः' होता है उस तरह 'गवा इव गवयः' प्रयोग नहीं होता है। किन्तु गौरिव गवयः यही प्रयोग होता है। अतः तुल्य शब्द की तरह इव शब्द के प्रयोग में तृतीया संभव न होने के कारण 'तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः' सूत्र की प्रवृत्ति इस शब्द के प्रयोग में संभव नहीं है। अतः 'तत्र तस्येव' सूत्र आवश्यक हो है। 'तत्र तस्येव' सूत्र करने पर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उपमानभूत प्राकार-दन्तादि परार्थ निरूपित सम्बन्धनिमितक षष्ठ्यन्त सप्तम्यन्त से इवार्थ में इस सूत्र से वति प्रत्यय होता है । इस पर यह आशंका होती है कि यदि उपमान दन्तादि पदार्थ संबन्धनिमित्तक विभक्ति है तो इव शब्द के प्रयोग में सप्तमी भी कैसे होगी । संबन्ध में षष्ठी ही देखी जाती है ? इस शंका के समाधान में भाष्य में प्रकृत ज्ञापन का आश्रयण किया गया है। **एवं तर्हि सिद्धे सति यदिव शब्देन योगे सप्तमी समर्थाद्वति शास्ति तज्ज्ञापयत्याचार्यो भवतीव शब्देन योगे सप्तमी इति।** इस सप्तम्यन्त से इवार्थ में 'वति' प्रत्यय के विधान से ही ज्ञापित होता है कि इव शब्द के प्रयोग में उपमान पदार्थ संबन्धनिनित्तक सप्तमी भी होती है अत एव 'देवेष्विव नाम बाह्मणेष्विव' नाम यह प्रयोग भी 'देवानामिव' अर्थ में किया ज ता है। उपमान पदार्थ निरूपित संबन्ध को लेकर सप्तमी षष्ठी दोनों ही विभक्तियां उचित हैं । अतएव 'तत्र-तस्येव' सूत्र में तत्र तथा तस्य षष्ठ्यन्त सप्तम्यन्त दोनों का प्रयोग किया गया।

१५. न वत्यर्थे नञ्स्नञौ भवतः।

'उपसर्गाच्छन्दसि धात्वर्थे—५.१.११८ सूत्र पर वार्तिककार ने एक वार्तिक द्वारा स्त्री तथा पुस् शब्द से 'वति' प्रत्यय का उपसंख्यान-वचन किया है— 'स्त्रीपुंसाभ्योवत्युपसंख्यानम्' अर्थात् स्त्री तथा पुस् शब्द से भी 'वति' प्रत्यय के अर्थ में वति प्रत्यय का विधान करना चाहिए। चाहिए। ताकि 'स्त्रिया इव', 'पुंस इव' अथवा स्त्रिया 'तुल्यम्, पुंसातुल्यम्'—इन अर्थों में स्त्री तथा पुंस शब्द से 'वति' प्रत्यय हो सके। अन्यथा 'स्त्रीपुंसाभ्यां नञ्नञौ भवनात्' सूत्र से अधिकृत नञ्, स्नञ् प्रत्यय ही क्रमेण स्त्री तथा पुंस शब्द से 'धान्यानां भवने क्षेत्रे खञ्' ५.२.१. सूत्र से पहले यावद् अर्थों में प्राप्त समस्त प्रत्ययों के बाधक हो जायेंगे । अतः वत्यर्थ में 'वति' प्रत्यय का उपसंख्यान आवश्यक ही है । उपसंख्यान करने पर अर्थान्तर में सावकाश नञ् प्रत्यय वति प्रत्ययार्थ में 'वति' प्रत्यय द्वारा बाधित होंगे। इसी आक्षेप के समाधान में प्रस्तुत ज्ञापन भाष्य में उपन्यस्त हुआ है नैष दोषः । आचार्य प्रवृत्तिर्ज्ञापयति **न वत्यर्थे नञ्स्नञौ भवतः' इति—यदयं स्त्रियाः पुंवदिति निर्देशं करोति।** भाव यह है कि 'स्त्रियः पुवद् भाषितपुंस्कादनूङ् समानाधिकरणेस्त्रियामपूरणीप्रियादिषु' ६.३.३४ इस सूत्र में जो पुंवद्' 'वति' प्रत्ययान्त निर्देश किया गया है, यही निर्देश ज्ञापित कर रहा है कि 'वति' प्रत्यय के अर्थ में नञ् स्नञ् प्रत्यय नहीं होते हैं । इस ज्ञापन को योगापेक्ष स्वीकार किया गया है अर्थात् 'स्त्रीपुंसाभ्यां नञ् स्नञौ भवनात्' यह सम्पूर्ण योग 'वति' प्रत्यय के अर्थ में प्रवृत्त नहीं होता है। इसलिए स्त्रीवत् प्रयोग भी सिद्ध होता है । इस तरह यह ज्ञापन आवश्यक एवं निर्दोष है।

१६. उत्तरो भावप्रत्ययो नञ्पूर्वाद् बहुव्रीहेर्भवति ।

१७. उत्तरो भावप्रत्ययोऽन्यपूर्वात्ततपुरुषेषाद्भवति।

'न नञ्पूर्वात्तत्पुरुषादचतुरसंगतलवणवटयुधकतरसलसेभ्यः' ५.१.१२१ सूत्र दूसरा नञ्पूर्वक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तत्पुरुष से 'त्व-तल्' भिन्न भाव प्रत्यय का प्रतिषेध-विधान किया जाता है। अतः अपतेर्भावः अपतित्वम् अपटोर्भावः अपटुत्वम्—इन प्रयोगों में अपति शब्द से 'पत्यन्तपुराहितादिभ्यो यक्' ५.१.१२८ सूत्र से प्रत्यय नहीं होता है। अपटु शब्द से 'इगन्ताच्चलघुपूर्वात्' सूत्र से 'अण्' प्रत्यय नहीं होता है। यदि नञ् पूर्वक तत्पुरुष नहीं है तो 'बृहस्पतेः = भावः = 'बार्हस्पत्यम्' प्रयोग में 'यक्' प्रत्यय होगा। इसी तरह 'नञ्' पूर्वक तत्पुरुष न होकर यदि बहुव्रीहि है तो 'न पटवः सन्ति यस्य स' 'अपटुः' 'तस्य भावः = 'आपटवम्' प्रयोग में 'अण्' प्रत्यय भी होगा। चतुरादि आठ शब्दों के विषय में निषेध प्रवृत्त नहीं होता है। अतः 'न चतुरः अचतुरः' तस्य भावः—इस विग्रह में 'आचतुर्यम् =' आदि प्रयोग होता ही है। यहां 'गुणवचन ब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च' सूत्र से ब्राह्मणादित्वेन 'ष्यञ्' प्रत्यय हुआ है। इस सूत्र के भाष्य में **'कस्यायं प्रतिषेधः' त्वतलोरित्याह**। इस प्रकार विचार प्रस्तुत करते हुए यह बताया गया कि नञ्पूर्वक तत्पुरुष से त्व, तल् का निषेध नहीं इष्ट है। प्रत्युत 'नञ्' पूर्वक तत्पुरुष से 'अब्राह्मणत्वम्' अब्राह्मणता आदि प्रयोगों में 'त्व' 'तल्' प्रत्यय इष्ट ही है। यदि 'नञ् पूर्वक तत्पुरुष से उत्तर के प्रत्ययों का निषेध विधान किया जाये तो यह भी ठीक नही कहा जा सकता है क्यों कि 'पृथ्वादिभ्य इमनिज्वा' ५.१.१२३ उत्तर सूत्र द्वारा पृथ्वादि गण में परिगणित प्रकृति से ही 'इमनिच्' प्रत्यय विहित है। वहां कोई भी प्रकृति न पूर्वक निर्दिष्ट नहीं है, जिससे उत्तर भाव प्रत्यय का प्रतिषेध किया जा सके यदि कहो कि तदन्त विधि द्वारा नञ्पूर्वक तत्पुरुष से भी प्राप्त हो सकता है तो यह भी ठीक नहीं है। प्रत्ययविधि में गृह्यमाण प्रातिपदिक से तदन्तविधि का निषेध है। यदि यह कहे कि जहां तदन्त विधि निर्दिष्ट है 'पत्यन्तपुरोहितादिभ्यो यक्' ५.१.१२८ इत्यादि स्थल में, वहां नञ्पूर्वक तत्पुरुष से उत्तरभावप्रत्यय 'यक्' आदि का निषेध विधान किया जा सकता है तो यदि यही प्रयोजन है तो वहां ही 'पत्यन्तपुरोहितादिभ्यो यक्' ५.१.१२, सूत्र के साथ ही **'पत्यन्ताद् यग् भवति' नञ्पूर्वात् तत्पुरुषान्न इति'** इस प्रकार पढ़ना चाहिए था। इस प्रदेश में इस सूत्र की कोई आवश्यकता नहीं है। इस आक्षेप के समाधान में प्रकृत ज्ञापन उद्धृत किया गया है— **एवं तर्हि ज्ञापयत्याचार्यः— उत्तरो भाव प्रत्ययो नञ् पूर्वाद्बहुव्रीहेर्भवति इति वेष्यते, त्वतलावेवेष्येते,—अविद्यमाना, पृथवोऽस्य अपृथुः, अपृथोर्भावः अपृथत्वम्, अपृथुतेति। एव तर्हि ज्ञापयत्याचार्यः—उत्तरो भाव प्रत्ययोऽन्यपूर्वात्तत्पुरुषाद्भवति इति। नैवेष्यते। त्वतलावेवेष्येते, परमः + पृथुः = परमपृथुः, 'परमपृथोर्भावः'** 'परमपृथुत्वम्' परमपृथुता। भाव यह है कि इस प्रदेश में प्रतिषेधाधिकार के उपादान से 'इमनिच्' आदि प्रत्ययों का भी प्रतिषेध ज्ञात हो रहा है। किन्तु यहां तदन्तविधि के अभाव से जब प्रसंग ही नहीं है तो निषेध विधान भी व्यर्थ ही हैं। तब भी किया हुआ यह निषेध ज्ञापित कर रहा है कि नञ्पूर्वक बहुव्रीहि से तथा अन्य पूर्वक तत्पुरुष से उत्तरभाव प्रत्यय होते हैं। ऐसा पूर्वपक्ष उपस्थिपित किया गया है। अनिष्टत्वेनैव उसका उत्तर भी दे दिया गया है।

इस तरह इन दोनों ज्ञापकों के निरस्त होने पर पुनः तृतीय ज्ञापन प्रस्तुत कर रहे हैं:— **एवं तर्हि ज्ञापयत्याचार्यः—**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१८. उत्तरो भावप्रत्ययः सापेक्षाद्भवति इति।

भाव यह है कि प्रसंग के अभाव में किया गया निषेधाधिकार ज्ञापित कर रहा है कि जहां उत्तरभाव प्रत्यय नहीं प्राप्त हो रहे हैं वहां भी होते हैं। 'न पृथोर्भावः' इस विग्रह में पृथुशब्द के नञर्थ सापेक्ष होने से सामर्थ्याभाव में 'पृथु' शब्द से 'इमनिच्' प्रत्यय प्राप्त नहीं है, किन्तु ज्ञापक, बल से हुआ है तदनन्तर 'नञ् समास' द्वारा 'अप्रथिमा' यह प्रयोग हुआ। यह ज्ञापन नञ् समास मात्र विषयक है, अतः 'राज्ञः पृथोर्भावः' इस अर्थ में 'इमनिच्' नहीं होता है। त्व तल् प्रत्यय नञ् समास करने के अनन्तर ही होते हैं। वे सापेक्ष प्रकृति से नहीं होते हैं। क्योंकि यह ज्ञापन उत्तर भाव प्रत्ययमात्र विषयक ही हैं। इस ज्ञापन का फल यह भी है कि जो 'तस्यभावस्त्वतलौ' ५.१.११९ सूत्र के भाष्य में 'नञ्समासादन्यो भाववचनः स्वरोत्तरपदवृद्ध्यर्थम्' यह वार्तिक पढ़ा गया है वह नहीं पढ़ना पड़ेगा। इस वचन से नञ् समासापेक्षया त्व तल् व्यतिरिक्त भाव प्रत्यय को बलवान् बोधन किया गया है। 'न पृथोर्भावः' —इस विवक्षा में नञ् समासापेक्षया 'इमनिच्' प्रत्यय पहले होता है बाद में नञ् समास होता है। इससे **सतिशिष्टन्यायेन 'अप्रथिमा'** प्रयोग में तत्पुरुषेतुल्यार्थतृतीयासप्तम्युपमानाव्ययद्वितीयाकृत्याः' सूत्र से अव्ययपूर्वपदकत्वेन प्रकृतिस्वर द्वारा नञ् उदात्त होता है। इसी तरह 'न शुक्लस्य भावः' इस विवक्षा में भी शुक्ल शब्द से 'गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च' ५.१.१२४ सूत्र द्वारा 'ष्यञ्' प्रत्यय पहले होता है तदनन्तर नञ् समास होता है। इससे 'ष्यञ्' प्रत्यय प्रयुक्त आदिवृद्धि नञ् की नहीं होती है। क्योंकि प्रत्ययोत्तर समास करने से 'ष्यञ्' प्रत्यय की प्रकृति से बहिर्भूत 'नञ्' हो जाता है। इसलिए 'नञ्' की वृद्धि प्राप्त नहीं होती है इस तरह प्रत्ययोत्तर जायमान नञ् समास में उत्तर पद की वृद्धि 'अशौक्ल्यम्' प्रयोग में सिद्ध होती है। तदर्थ नञ् समासापेक्षया तल् व्यतिरिक्त भावप्रत्यय की बलवत्ता वार्तिक द्वारा की गई है। यह वार्तिक तभी उपपन्न होगा जबकि नञ् सापेक्ष होने से असमर्थ प्रकृति से उत्तरभाव प्रत्यय विहित हो। यदि नञ् सापेक्ष से असामर्थ्यवश प्रत्यय ही नहीं होता, तो 'नञ्' समासापेक्षया प्रत्यय में बलवत्वविधान असंगत हो जायेगा। इस तरह 'नञ्' सापेक्ष प्रकृति से भी उत्तरभाव प्रत्ययों के ज्ञापनार्थ 'न नञ् पूर्वात् तत्पुरुषात्' यह निषेधाधिकार स्वीकृत हुआ। परन्तु पुनः यह आशंका होती है कि यदि सापेक्ष से उत्तरप्रत्ययोत्पत्तिमात्र ही इस निषेधाधिकार का प्रयोजन है तो सापेक्ष से सभी तद्धित प्रत्ययों की उत्पत्ति ज्ञापित होती हैं, यह ज्ञापन व्यर्थ ही है। इसी अभिप्राय में चौथा ज्ञापन उपन्यस्त हुआ है। **'एतदपि नास्ति प्रयोजनम्'**।

१९. आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति—सर्व एव तद्धिताः सापेक्षाद्भवन्ति, इति

यदयं नञोगुणप्रतिषेधे संपाद्यर्हहितालमर्थास्तद्धिताः' इत्याह।— इसका भाव यह हुआ कि 'नञो गुणप्रतिषेधेसंपाद्यर्हहितालमर्थास्तद्धिताः' ६.१.१५५ सूत्र द्वारा तद्धितार्थलक्षणगुणप्रतिषेध में वर्तमान 'नञ्' से परे 'संपाद्यर्थतद्धितान्त को अन्तोदात्तविधान किया जाता है। जैसे वत्सेभ्यो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

न हितः विग्रह में -वत्स' शब्द से तस्मैहितम् ५.१.५ सूत्र से 'छ' प्रत्यय द्वारा निष्पन्न वत्सीय शब्द के साथ हितत्व लक्षण गुण के निषेध में वर्तमान 'नञ्' का समास होने पर अवत्सीयः प्रयोग में अन्तोदात्त होता है। यदि 'वत्सेभ्यो न हितः' विग्रह में नार्थसापेक्षत्वेन सामर्थ्याभाव से तद्धितोत्पत्ति न हो तो 'नञ्' से परे संपाद्याद्यर्थं तद्धितान्त का अन्तोदात्त विधान ही व्यर्थ हो जायेगा, यही एतादृश नञ् से परे एतादृश तद्धितान्त का अन्तोदात्तत्व विधान ज्ञापित कर रहा है कि— सापेक्ष से भी तद्धित प्रत्ययोत्पत्ति होती है।

इस तरह उक्त प्रदेश में 'न नञ्पूर्वात्तत्पुरुषात्' इस निषेधाधिकार बोधक सूत्र का कोई मुख्यप्रयोजन नहीं है। सापेक्ष प्रकृति से भावप्रत्यय विधान तो उक्त ज्ञापन से ही सिद्ध है। भाव प्रत्ययानन्तर नञ् समास का विधान लक्ष्यानुसारादेव किया जा सकता है। इस प्रयोजन के साधन के लिये भी यह सूत्र आवश्यक नहीं हो सकता है। क्योंकि लक्ष्यानुसारात् नञ् समास करके भी भाव प्रत्यय हो सकता है अतएव अशुचि शब्द से इगन्ताधलघुपूर्वात् ५.१.१३१ सूत्र से अशुचेर्भावः विग्रह में 'आशौचम्' प्रयोग होता है। 'त्व' 'तल्' प्रत्यय नञ् समास होने पर ही होते हैं। अतएव अपृथुत्वम् आदि प्रयोगों में अन्तोदात्तत्व ही इष्ट होता है। यह 'तस्यभावस्त्वतलौ' सूत्र के भाष्य में स्पष्ट हो चुका है।

इस प्रकार निषेधाधिकार बोधक सूत्र की मुख्य आवश्यकता नहीं है। यही भाष्य का तात्पर्य है। प्रदीप में कैयट ने यह स्पष्ट किया है।

२०. अनुवर्तन्ते च नामविधयो न चानुर्वर्तनादेव भवन्ति। किं तर्हि यत्नाद्भवन्ति

'विभाषातिलमाषोमाभङ्गाणुभ्यः' ५.२.२४ सूत्र में 'यवयवकषष्ठिकाद् यत्' ५.२.२३ सूत्र से 'यत्' प्रत्यय का अनुवर्तन होता है। तिलादिशब्दों से 'भवने क्षेत्रे' अर्थ में 'तिल्यम्' आदि-प्रयोग होता है। 'यत्' प्रत्यय के अभाव में खञ् प्रत्यय होता है तैलीनम् आदि प्रयोग होता है। इस सूत्र के भाष्य में आक्षेप किया गया है कि तिल्यादिभ्यः खञ्चेतिवक्तव्यम्—अर्थात् तिल्यादि शब्दों से 'खञ'—प्रत्यय का वचन करना चाहिए ताकि 'तिल्यम्', 'तैलीनम्' प्रयोग हो। यदि कहो कि 'यत्' प्रत्यय के अभाव पक्ष में 'धान्यानां भवने क्षेत्रे खञ्' सूत्र से ही खञ् प्रत्यय सिद्ध हो जायेगा तो यह संभव नहीं है क्योंकि उमा तसा भङ्गा धान्यवाची नहीं है। 'यवाश्च मे माषश्च मे' इत्यादि चमकानुवाक में जो पढ़े हुए हैं, वे ही धान्य हैं, उमा, भङ्गा ये दोनों वहां नहीं पढ़े गये हैं। इसलिए धान्य नहीं हैं। ऐसी स्थिति में खञ् वचन अवश्य ही करना चाहिए। यदि कहो कि 'खञ्' के अनुवर्तन से भी काम चल सकता है तो यह भी संभव नहीं है क्योंकि यदि अनुवर्तन करेंगे तो 'व्रीहिशाल्योर्ढक्' ५.२.२ यवयवक षष्ठिकाद् यत्' ५.२.३ इन सूत्रों के विषय में भी खञ् प्रत्यय प्रसक्त हो जायेगा। इस आक्षेप के समाधान में कहा गया है— **'संबन्धग्रहणमनुवर्तिष्यते'** अर्थात् धान्यसामान्य संबद्ध ही का अनुवर्तन करेंगे इससे धान्यविशेष से संबद्ध 'व्रीहिशाल्योर्ढक्' ५.२२ आदि वाक्यों से खञ् का संबन्ध नहीं होगा। 'विभाषातिलमाषोमाभङ्गाणुभ्यः में 'भवने क्षेत्रे खञ्'-मात्र का अनुवर्तन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करेंगे । 'धान्यानाम्' निवृत्त हो जायगा । अतः खञ् वचन की यहां कोई आवश्यकता नहीं है । अथवा मण्डूकप्लुति न्यायेन 'धान्याना' भवने क्षेत्रे खञ्' का अनुवर्तन बीच के दो सूत्रों को छोड़कर भी 'विभाषातिलमाषोमाभङ्गाणुभ्यः' सूत्र में भी किया जा सकता है। जैसे मेढक छलाँग लगाते हैं वैसे ही अधिकार भी छलांग लगाकर हो सकते हैं। अथवा— प्रकृत ज्ञापन द्वारा खञ् का संबन्ध 'व्रीहिशाल्योर्ढक्' आदि में नहीं होगा । — **'एतज्ज्ञापयत्यनुवर्तन्ते च नामविधयो न चानुवर्तनादेव भवन्ति । किं तर्हि यत्नाद्भवन्ति'** । भाव यह है कि 'विभाषा तिलमाषोमाभङ्गाणुभ्यः' सूत्र में विभाषा ग्रहण ही यह ज्ञापित कर रहा है कि अनुवर्तमान भी अधिकार वहां ही होता है जहां विभाषा ग्रहण अनर्थक ही हो जायेगा। क्योंकि अनुवर्तन से ही खञ् सिद्ध हो जाता तदर्थ विभाषाग्रहण अनावश्यक ही है। अतः यहां विभाषाग्रहण से ही 'खञ्' का संबन्ध सिद्ध है । पृथक् खञ् वचन अनावश्यक ही है। अथवा 'यत्' के अभाव में धान्यत्वादेव तिलादि से भी खञ् की सिद्धि हो सकती है । 'धिनोतीति धान्यम्' व्युत्पत्ति के अनुसार योगरूढवृत्याउमाभङ्गा भी धान्य ही है । चमकानुवाक में धान्य अधान्य दोनों ही गृहीत हैं यह अनुवाक धान्य परिगणनपरक भी नहीं है। जिससे कि वहां पाठ न होने के मात्र से उमाभङ्गा अधान्य हो जायेंगे । अतएव भाष्यशेष में कहा गया है—**नैषदोषः धिनोतेर्धान्यम्, एते चापिधिनुतः**। अर्थात् योगरूढिवृत्ति से उमाभङ्गा भी धान्य ही हैं । 'खञ्' वचन सर्वथा अनावश्यक ही है ।

९१. समुच्चयोऽयं न विभाषेति ।

'सिध्मादिभ्यश्च' ५.१.९७ सूत्र में 'प्राणिस्थादातोलजन्यतरस्याम्' सूत्र से 'लच्' अन्यतरस्याम् दो पदों का अनुवर्तन कर इससे सिध्यादिगण पठित शब्दों से मत्वर्थ में विकल्प से 'लच्' प्रत्यय होता है । 'लच्' के अभाव में 'मतुप्' प्रत्यय होता है । इस तरह 'सिध्मलः' 'सिध्मवान्' आदि प्रयोग बनते हैं । भाष्य में यह विचार प्रस्तुत हुआ कि 'लच्' प्रत्यय के अभाव पक्ष में सिध्मादि गण पठित शब्दों में अकारान्त शब्द से 'अतइनिठनौ' ५.२.११५ सूत्र से 'इन्' तथा 'ठन्' प्रत्यय भी होने चाहिए । परन्तु 'इनि', 'ठन्' इष्ट नहीं हैं । तो वे कैसे नहीं होंगे ? इस पर यह उत्तर दिया गया कि 'लजन्यतरस्याम्' यहां 'अन्यतरस्याम्' का समुच्चय अर्थ है । विभाषा अर्थ नहीं है । अतः यहां 'इन्' ठन्' को बांधकर 'लच्' तथा 'मतुप्' प्रत्यय ही होंगे । इस पर पुनः यह विचार प्रस्तुत हुआ है कि यह निश्चय कैसे किया जाय कि यहां 'अन्यतरस्याम्' शब्दार्थ समुच्चय ही है विभाषा नहीं है। इसी निश्चय के लिए प्रकृत ज्ञापन उपन्यस्य हुआ है— **'यदयं पिच्छादिभ्यस्तुन्दादीनां नानायोगं करोति तज्ज्ञापयत्याचार्यः—समुच्चयोऽयं न विभाषेति ।' अपर आह तुन्दादिभ्यः पिच्छादीनां नानायोगं करोति तज्ज्ञापयत्याचार्यः—समुच्चयोऽयं न विभाषेति** । भाव यह है कि 'तुन्दादिभ्य इलच्च' ५.२.११७ सूत्र द्वारा 'इलच्', 'इनि', 'ठन्' तथा मतुप्' चार प्रत्यय इष्ट हैं । यदि 'अन्यतरस्याम्' के अनुवर्तन द्वारा पिच्छादि शब्दों से भी 'इलच्', 'इनि', 'ठन्' तथा 'मतुप्' यह प्रत्यय चतुष्टय होता तो तुन्दादि में ही पिच्छादि शब्द भी पढ़ने चाहिए थे, अथवा पिच्छादि में ही तुन्दादि शब्द भी पढ़ने चाहिए थे । इस तरह तुन्दादि से पिच्छादि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के अथवा पिच्छादि से तुन्दादि के पृथक् पाठ से ज्ञात हो रहा है कि यहां 'अन्यतरस्यां' ग्रहण से मतुप् का समुच्चय मात्र किया गया है। न कि प्राप्ति के अनुसार समस्त प्रत्यय अनुज्ञात किए जा रहे हैं। यदि यह कहा जाय कि यदि तुन्दादि में पिच्छादि शब्द पढ़े जाते तो अकारान्तभिन्न पिच्छादि शब्द से भी इनि ठन् प्रत्यय प्राप्त होते। इसी तरह यदि पिच्छादि में तुन्दादि शब्द भी पढ़े जाते तो अकारान्तभिन्न तुन्दादि से 'इनि' 'ठन्' प्रत्यय नहीं प्राप्त होते तो भी तुन्दादि में अथवा पिच्छादि में जो अकारान्त शब्द पढ़े गए हैं उन्हें पृथक्-पृथक् पढ़ना व्यर्थ ही है। वे ही व्यर्थ होकर अन्यतरस्याम्- ग्रहण को 'मतुप्' का समुच्चायक ज्ञापित करेंगे। 'केशाद्वोऽन्यतरस्याम्' सूत्र में भी इसी 'अन्यतरस्याम्' का अनुवर्तन कर व प्रत्यय के साथ 'इनि' 'ठन्' 'मतुप्' भी हो सकते थे। पुनः अन्यतरस्याम् ग्रहण भी व्यर्थ होकर यही ज्ञापित कर रहा है कि 'लजन्यतरस्याम्' में 'अन्यतरस्याम्' ग्रहण समुच्चयपरक ही है। इस तरह 'लजन्यतरस्याम्' में 'अन्यतरस्याम्' ग्रहण के समुच्चयपरकत्व के लिए यह ज्ञापन परमावश्यक तथा निर्दोष ही है।

२२. वार्णादाङ्गं बलीयः

'दाश्वान् साह्वान् मीढ्वांश्च' ६.१.१२ सूत्र के भाष्य में वार्तिक '**द्विर्वचनात् प्रसारणात्वधात्वादिविकाररीत्वेत्वोत्वगुणवृद्धि विधयः**' द्वारा द्विर्वचन को विप्रतिषेधेन बांध कर सम्प्रसारण विधि अत्व विधि धात्वादि विकार, रीत्व विधि, इत्व विधि, उत्व विधि, गुण तथा वृद्धि विधि की प्रवृत्ति बताई गई है। इन में गुण वृद्धि का उदाहरण 'इयाय' 'इययिथ' दो प्रयोग दिए गए है। 'इण् गतौ' इ धातु से लिट् लकार में प्रथम पुरुष के वचन में इ+अ एवं तथा मध्यम पुरुषैकवचन में इ+थ इडागम होने पर इ+इथ इस अवस्था में इ+थ यहां 'अचोञ्णिति' से वृद्धि प्राप्त है। इ+इथ इस अवस्था में 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' सूत्र से गुण प्राप्त है। उसी समय दोनो प्रयोगों में 'लिटिधातोरनभ्यासस्य' ६.१.८ सूत्र से द्विर्वचन भी प्राप्त है। ऐसी स्थिति में पहले गुण-वृद्धि किया जाये या द्विर्वचन किया जाये। इस विचार में विप्रतिषेधेन द्विर्वचनापेक्षया प्रथम गुणवृद्धि का विधान वार्तिक द्वारा किया गया है। दोनों में तुल्यबलविरोध है—गुण वृद्धि 'चेता', गौः प्रयोगों में सावकाश है यहां द्विर्वचन प्राप्त नहीं है। तथा 'बिभिदतुः' 'बिभिदुः' प्रयोगों में द्विर्वचन सावकाश है यहां गुण वृद्धि प्राप्त नहीं है। 'इयाय', 'इययिथ' में द्विर्वचन तथा गुणवृद्धि युगपत्प्राप्त हैं। अतः विप्रतिषेधेन द्विर्वचनापेक्षया प्रथम गुणवृद्धि ही होनी चाहिए। अन्यथा पूर्वविप्रतिषेधेन गुणवृद्ध्यपेक्षया यदि द्विर्वचन हो गया तो इ इ इस अवस्था में अन्तरङ्गत्वात् सवर्ण दीर्घ हो जायेगा। 'इयाय', 'इययिथ' प्रयोग सिद्ध नहीं होंगे। यही वार्तिक का तात्पर्य है। इस पर भाष्य में कहा गया कि यहां द्विर्वचन होने पर भी कोई दोष नहीं होगा द्विर्वचन होने के बाद उत्तर खण्ड मे गुणवृद्धि कर के 'इयाय' 'इययिथ' प्रयोग सिद्ध हो जायेंगे। यदि यह कहें कि द्विर्वचन होने पर अन्तरङ्गत्वात् सवर्ण दीर्घ प्राप्त होगा तो यह ठीक नहीं है क्योंकि '**वार्णादाङ्गं बलीयः**' परिभाषा से सवर्ण दीर्घ को बांध कर गुणवृद्धि ही होगी। इस परिभाषा से वर्णसम्बन्धी कार्य से अङ्ग संबन्धी कार्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को बलवान बोधित किया गया है। इसी परिभाषा को प्रमाणित करने के लिए प्रस्तुत ज्ञापन उपन्यस्त है— **आचार्य प्रवृत्तिर्ज्ञापयति वार्णादाङ्गंवलीयो भवति इति यदयं अभ्यायस्यासवर्णे इत्यसवर्णग्रहणं करोति**। भाव यह है कि 'अभ्यासस्यासवर्णे' सूत्र से जो असवर्ण 'अच्' परे रहते अभ्यास संबन्धी इवर्ण तथा उवर्ण को 'इयङ्' 'उवङ्' आदेश किया गया है वही ज्ञापित कर रहा है। कि वर्णसंबन्धी कार्य से अङ्ग संबन्धी कार्य बलवान् होता है। क्योंकि यदि गुणवृद्धि पहले न हो तो कहीं असवर्ण परक अभ्यास संभव नहीं होगा। अतः यही असवर्ण ग्रहण विशिष्ट सूत्र प्रकृत परिभाषा को ज्ञापित कर रहा है। यह परिभाषा परिभाषेन्दुशेखर में भी व्याख्यात है।

२३. न सर्वस्य यणः संप्रसारणं भवति

२४. परस्य भवति न पूर्वस्य

'न संप्रसारणेसंप्रसारणम्' ६.१.३७ सूत्र के प्रयोजन विचार के प्रसंग में कहा गया है कि जहां संप्रसारण विधान 'वचि स्वपियजादीनां किति' ६.१.१५ 'ग्रहिज्यावयिव्यधिवष्टिविचतिवृश्चतिपृच्छतिभृज्जतीनां ङिति च' इत्यादि सूत्रों द्वारा किया गया है। वहां जितने यण् है सबके स्थान में संप्रसारण प्राप्त हैं। किन्तु पर 'यण् के ही स्थान में संप्रसारण इष्ट है। पर यण् के ही स्थान में संप्रसारण हो पूर्व यण् के स्थान में न हो, यही किसी यत्नविशेष के बिना सिद्ध नहीं हो सकता है। इस लिए 'न संप्रसारणे संप्रसारणम्' यह सूत्र आवश्यक है। यदि कहो कि 'अतोदीर्घो यत्रि' 'सुपि च' इत्यादि स्थल में जैसे 'अलोन्त्यस्य' परिभाषा द्वारा भवामि', 'घटाम्याम्' इत्यादि प्रयोगों में अत्य अकार के ही स्थान में दीर्घ होता है वैसे यहां भी 'अलो न्त्यस्य' परिभाषा से ही निर्वाह किया जा सकता है तो यह संभव नहीं है क्योंकि वच्यादि अथवा ग्रह्यादि में जहां संप्रसारण विधान किया गया है, वहां अन्त्य यण् हो नहीं है। अतः 'अलोन्त्यस्य' परिभाषा की यहां प्रसक्ति ही नहीं है। यदि कहो कि '**अनन्त्यविकारेऽन्त्यसदेशस्य**' परिभाषा से ही यहां निर्वाह हो सकता है तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि 'व्यध्' आदि धातु के यण् वर्णों में अन्त्यसदेशत्व भी नहीं है। अतः 'न संप्रसारणे संप्रसारणम्' सूत्र से साध्य जो कार्य है वह इस परिभाषा का विषय नहीं हो सकता है। अतः सभी यणों के स्थान में संप्रसारण न हो किन्तु पर यण् के ही स्थान में ही, इस प्रयोजन के लिए 'न संप्रसारणे' संप्रसारणम्' सूत्र आवश्यक है। इस पर समस्त यणों का संप्रसारण न होना ज्ञापक सिद्ध बताकर सूत्र के प्रयोजन का खण्डन करने के लिए पूर्वपक्षी प्रकृत ज्ञापक का उपन्यास किया है— **एवं तर्ह्याचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति न सर्वस्य यणः संप्रसारणं भवतीति। यदयं प्यायः पीभावं शास्ति**। भाव यह है कि जो 'प्यायः पी' ६.१.२८ सूत्र द्वारा निष्ठा प्रत्यय परे रहते 'प्याय' के स्थान पी आदेश का विधान किया गया है, 'आपीनमूधः' 'आपीनोऽन्धुः' प्रयोगों में 'प्याय' के स्थान में पी आदेश हुआ है। यदि यहां सम्पूर्ण यण् के स्थान में संप्रसारण होता तो 'पी' भाव अनर्थक हो जाता क्योंकि 'प्याय' में दोनों यण् को संप्रसारण कर 'संप्रसारणाच्च' सूत्र से पूर्वरूप के अनन्तर दीर्घ एकादेश द्वारा आपीनमूधः आपी-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नोऽन्धुः रूप की सिद्धि हो जायेगी । किन्तु आचार्य देख रहे हैं कि संपूर्ण यण् को संप्रसारण नहीं होता है । अत एव आचार्यं ने 'प्याय' के स्थान में पीआदेश का विधान किया है । यदि कहो कि यदि प्याय के स्थान में संप्रसारण करते तो अन्त्य यण् के स्थान में ही 'अलो न्त्यस्य' परिभाषा द्वारा संप्रसारण होता । अतः संप्रसारण न कर 'पी' विधान किया गया है । इस तरह 'प्याय' के स्थान में 'पी' विधान ज्ञापक नहीं हो सकता है, क्यों कि पी विधान अन्त्ययण् के संप्रसारण की व्यावृत्ति के लिए आवश्यक ही है । तो ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि 'प्यायः' पी' सूत्र में 'प्यायः' में स्थान षष्ठी नहीं है किन्तु 'प्यायो यो यण्' इस प्रकार विशेषण षष्ठी है। अतः 'अलो न्त्यस्य' परिभाषा का विषय ही यहां नहीं है। अतः 'प्यायः पी' सूत्र से पी विधान द्वारा आचार्य यही ज्ञापित कर रहे हैं कि समस्त यण् के स्थान में संप्रसारण नहीं होता है। इसके अनन्तर यह विचारणीय है कि समस्त यण् को संप्रसारण नहीं होता है मात्र ज्ञापित हुआ है, किन्तु पर यण् को हीं संप्रसारण होता है। पूर्व को नहीं । यह 'न संप्रसारणे संप्रसारणम्' सूत्र करने पर भी सिद्ध नहीं हो रहा है। क्योंकि एक सूत्र से 'व्यध्' आदि धातु को संप्रसारण विहित है । यदि दोनों यणों को संप्रसारण हो जाता है तो संप्रसारण हो जाने पर पूर्व का निषेध करना व्यर्थ ही है जैसे भोजन कर लेने के बाद भोजन निषेध करना व्यर्थ है । यदि संप्रसारण नहीं करते हैं तो 'न संप्रसारणे संप्रसारणम्' सूत्र की प्राप्ति ही नहीं है । ऐसी स्थिति में 'न संप्रसारणम्' सूत्र करने पर भी अभीष्ट सिद्धि कैसे हुई है। इस संशय को लेकर द्वितीय ज्ञापन का उपन्यास किया है--**एतदेव ज्ञापयति—'परस्य भविष्यति न पूर्वस्येति य दयं नसंप्रसारणे संप्रसारणमिति प्रतिषेधं शास्ति ।** भाव यह है कि आचार्य का अभिप्राय उनके समस्त व्यापारों से ज्ञात किया जाना चाहिए । यहां 'न संप्रसारणे सं - सारणम्' एतादृश सूत्रोच्चारण व्यापार से ही आचार्य का तात्पर्य अवगत हो रहा है कि पर 'यण्' को ही संप्रसारण होगा पूर्व को नहीं होगा । अर्थात् पूर्व यण् को पहले संप्रसारण नहीं होगा किन्तु पर यण् को ही संप्रसारण होगा । बाद में पूर्व यण् को प्राप्त संप्रसारण का इससे निषेध हो जायेगा । यदि ऐसी प्रक्रिया नहीं स्वीकार की ज येगी तो यह सूत्र ही व्यर्थ होगा ? अतः एतादृश सूत्रोच्चारणलक्षण व्यापार से ज्ञापित यह ज्ञापन सर्वथा निर्दोष एवं परमावश्यक है ।

२५. नायादय आत्वम् बाधन्ते

'आदेच उपदेशे शिति'— ६.१.४५ सूत्र में भाष्यकार ने दो पक्ष वैकल्पिक रूप से विच यंत्वेन उपन्यस्त किया है । **'एच् य उपदेश इति ।' आहोस्वित् एजन्तं यदुपदेशे इति ।** भाव यह है कि उपदेश शब्द 'उपदिश्यतेऽनेन' व्युत्पत्ति द्वारा करण साधन से शास्त्र का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बोधक होता है । इस पक्ष में विशेष्य का उपादान न होने से तदन्त विधि के अभाव में उपदेश में जो एच् उसके स्थान में आकार आदेश हो ऐसी व्याख्या होगी । उपदेश शब्द **'उपदिश्यतेऽसौ'** व्युत्पत्ति द्वारा कर्मसाधन में उपदिश्यमान अर्थवाची होगा । इस पक्ष में षष्ठ्यर्थ में सप्तमी मानकर एच् को उपदेश का विशेषण मानने से एजन्त जो उपदेश में उसके स्थान में आकार आदेश हो, ऐसी व्यवस्था होगी इस तरह दो पक्षों में विकल्प संभव है । इन दोनों पक्षों में यदि उपदेश में जो एच् ऐसी व्याख्या स्वीकार करते हैं तो 'ढौकिता', त्रौकिता प्रयोगों में ढौ, त्रौ के औकार के स्थान में आकार आदेश प्राप्त होगा । एजन्त जो उपदेश ऐसी व्याख्या स्वीकार करने में दोष नहीं होगा। यदि यह कहो कि एजन्त जो उपदेश इस पक्ष में भी पूर्वोक्त ढौ, त्रौ के औकार को आत्व प्रसक्ति दोष होगा ही क्योंकि औकार भी व्यपदेशिवद्भावेन एजन्त है तो यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि अर्थवान् शब्द को ही लेकर व्यपदेशिवद्भाव हो सकता है । अनर्थक से व्यपदेशिवद्भाव लोक में नहीं देखा जाता है । अतएव भाष्य में कहा गया है कि 'अर्थवता व्यपदेशिवद्भावः' । 'उपदेशे य एच्' इस पक्ष में 'ग्लानीयम्' 'म्लानीयम्' प्रयोगों में ग्ले, म्लै धातु से 'अनीयर' प्रत्यय करने पर आत्व को परत्वेन बोधकर 'एचोऽयवायावः' सूत्र से 'आय्' आदेश प्राप्त होगा । इसी तरह 'वानीयम्' 'शानीयम्' प्रयोगों में 'वेञ्' धातु शो धातु से 'अनीयर्' प्रत्यय करने करने पर आत्व को बांधकर परत्वेन अय् अव् आदेश प्राप्त होंगे। यह दोष यद्यपि एजन्त जो उपदेश इस तरह की व्याख्या में भी प्रसक्त हैं । तथापि इस पक्ष में परत्वात् आयादि आदेश करने पर भी **'उपदेशे यदेजन्तं दृष्टं तस्यात्वं भवति'** ऐसी विवक्षा होने के कारण आत्व हो जायेगा । कोई दोष नहीं होगा । यदि कहो कि **'उपदेशे य एच्'** इस पक्ष में भी परत्वात् आयादि आदेश करने पर भी स्थानिवद्भावेन एच् मान कर आत्व की प्राप्ति होगी तो यह ठीक नहीं है क्योंकि अनल्-विधि में ही स्थानिवद्भाव होता है ऐच् के स्थान में क्रियमाण आत्व विधि अल्-विधि है । यहां स्थानिवद्भाव नहीं होगा । 'यद्यपि **उपदेशे यदेजन्तं दृष्टं तस्यात्वं भवति'** इस तरह की व्याख्या से 'हूतः','हूतवान्' इन प्रयोगों में ह्वेञ् धातु से निष्ठा में संप्रसारणादि कार्य करने पर उपदेश में एजन्त होने मात्र से 'हू' में ऊकार के स्थान में भी आत्व प्रसक्त होता है तथापि यहां परत्वात् आत्व करने के बाद संप्रसारण करने में कोई दोष नहीं होगा । यदि यह कहा जाये कि नित्यत्वात् संप्रसारण ही आत्व की अपेक्षा प्रथम प्रवृत्त होगा तो इस सूत्र में उपदेश ग्रहण ही नहीं करेंगे, कोई दोष नहीं होगा । यद्यपि उपदेश ग्रहण न होने पर 'स्तोता', इस प्रयोग में भी आत्व प्रसक्ति होती है तथापि 'मीनातिमिनोतिदीङांल्यपि च' ६.१.५० सूत्र से एच् के स्थान में पुनः आत्व का विधान किया गया है, वह ज्ञापित करेगा कि परनिमित्तक एच् के स्थान में आत्व नहीं होता है । अन्यथा एजन्त भी प्रभृति धातुओं को आत्वविधान इसी सूत्र से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हो जाता 'मीनाति मिनोति' सूत्र व्यर्थ हो जाता । इस तरह 'चेता', 'स्तोता' में कोई दोष नहीं होगा । इस तरह उपदेश ग्रहण को हटा कर 'हूतः' 'हूतवान्' प्रयोग को सिद्ध किया गया । इस पर यह विचारणीय है कि यदि उपदेश ग्रहण नहीं करेंगे तो 'ग्लानीयम् 'म्लानीयम्', निशानीयम् इन पूर्वोक्त प्रयोगों में परत्वात् आयादि आदेश प्राप्त होने लगेंगे । क्यों कि उपदेश में एजन्तत्वेन इष्ट होने के कारण आयादि आदेश करने पर भी इन प्रयोगों में आत्व किया गया है । उपदेश ग्रहण न होने पर आयादि आदेश करने पर आत्व प्रसक्त नहीं होगा । इस दोष के परिहार के लिए प्रस्तुत ज्ञापन का उपन्यास भाष्य में किया है है— **अत्राप्याचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति— नायादय आत्वं आधन्त इति यदयमशितोति प्रतिषेधं शास्ति** । भाव यह है कि आयादि आदेश आत्व के बाधक होते तो ग्लायति इत्यादि प्रयोगों में भी आत्व को बांधकर आयादि आदेश हो जाता, इन प्रयोगों में आत्व की व्यावृत्ति के लिए जो 'अशिति' प्रतिषेध किया है यह अनर्थक ही हो जायेगा । अतः इस प्रतिषेध से ज्ञापित हो रहा है कि पूर्व विप्रतिषेधाश्रयेण आयादि को बोध कर आत्व हो होता है । इस तरह यह ज्ञापन स्वीकार करना आवश्यक ही है । इस ज्ञापन के स्वीकार करने पर '**उपदेशे य एव्** ऐसी व्याख्या में भी कोई दोष नहीं होगा । इस पक्ष में भी शित्प्रतिषेध '**नायादय आत्वं बाधन्ते**' इसका ज्ञापक होगा ही, कोई दोष नहीं होगा ।

—▦—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दशम अध्याय

महाभाष्योक्त ज्ञापक और उनके मूल स्रोतों का अध्ययन।

१. न प्रातिपदिकानामात्वं भवति।

'आदेच उपदेशेऽशिति' ६.१.४५ सूत्र के भाष्य में एक वार्तिक पढ़ा गया है **'प्रातिपदिकानां प्रतिषेधो वक्तव्यः'**। 'गोभ्याम्' 'गोभिः'। नौभ्यां नौभिः। भाव यह है कि—उणादि निष्पन्न शब्द के व्युत्पत्ति पक्ष में 'गमेर्डोः' उ० सू० 'ग्लानुदिभ्यां डोः' उ० सू० विहित डो डौ प्रलय उपदेश में एच् है। अर्थवत्वात् व्यपदेशिवद्भावेन एजन्त भी है। इस तरह 'गोभ्याम्' 'नौभ्याम्' प्रयोगों में प्रातिपदिक को भी इस सूत्र से आत्व प्राप्त हो सकता है। इसका प्रतिषेध वचन करना चाहिए। इस आक्षेप के समाधान में प्रकृत ज्ञापन को प्रस्तुत किया गया है। **न वक्तव्यः, आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति न प्रातिपदिकानामात्वं भवति इति यदयं 'रायो हलि' इत्यात्वं शास्ति।** इसका भाव यह है कि 'रायो हलि' सूत्र द्वारा हलादि विभक्ति परे रहते 'रै' शब्द को आत्वविधान किया जाता है। 'रै' शब्द भी 'रातेर्डैः' सूत्र से डै प्रत्ययान्त है। 'डै' प्रत्यय उददेश में एच् भी है। व्यपदेशिवद्भावेन एजन्त भी है। यहां भी इसी सूत्र से आत्व हो जाता। 'रायो हलि' सूत्र व्यर्थ है। यही व्यर्थ होकर ज्ञापित कर रहा है कि प्रातिपदिक को आत्व नहीं होता है। यदि 'रायो हलि' सूत्र को नियमार्थ स्वीकार कर लिया जाये कि रै शब्द को यदि आत्व हो तो हल् परे रहते ही हो, तो 'औतोम्शसोः' सूत्र से जो आकार के स्थान में आत्वविधान किया गया है, वह आत्वविधान ही इस अर्थ का ज्ञापक हो सकता है। यदि यह कहो कि 'औतोऽम्शसोः' सूत्र द्वारा आत्वविधान 'अम्' के विषय में 'गोतोणित्' सूत्र से णिद्वभावेन प्राप्त वृद्धि के बाधनार्थ है तथा शस्, के विषय में शित्वेन 'अशिति' से प्राप्त आत्वप्रतिषेध के बाधनार्थ है तो ऐसी परिस्थिति में **'प्रातिपदिकानां प्रतिषेधो वक्तव्यः'** यह वचन आवश्यक ही है। अथवा इस सूत्र में 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' सूत्र से 'धातोः' का अनुवर्तन करेंगे। अतः धात्वाधिकारादेव प्रातिपदिक को आत्व नहीं प्रसक्त होगा। प्रातिपदिक के प्रतिषेध का वनन अकर्तव्य ही है।

यदि यह कहें कि 'ष्यङः संप्रसारणम्' इत्यादि सूत्र से असंबद्ध होने के कारण 'धातोः' यह निवृत्त हो चुका है तो इस सूत्र में उपदेश ग्रहण से ही प्रातिपदिक में आत्व प्रसक्ति का निराकरण हो जायेगा। क्योंकि प्रातिपदिक का उद्देश अर्थात् प्रकृति प्रत्यय द्वारा ही सिद्धि की जाती है। उपदेश नहीं किया गया है। जिनका स्वरूप बोधनार्थ अपूर्व उच्चारण होता है, उनका ही उपदेश पदेन व्यवहार होता है। उपदिश्यमान एजन्त को आत्व हो। इस सूत्र की ऐसी व्याख्या स्वीकार करने पर 'गोभ्याम्', ढौकिता इत्यादि प्रयोगों में कहीं दोष नहीं होगा।

२. सिद्धः प्लुतः स्वरसन्धिषु

'इकोऽयणचि' ६.१.७७ सूत्र के भाष्य में एक वार्तिक सोदाहरण पढ़ा गया है —**'यणा-**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

देशः प्लुतपूर्वस्य चेति वक्तव्यम्' अग्नाइह इन्द्रम्, अग्ना इयिन्द्रम्, पटाइउ, उदकम्, पटाइवुदकम् **अग्ना इ इ आशा अग्ना इ याशा पटा उ उ आशा पटा उ वाशा।** भाव यह है कि अग्ने इन्द्रम्, पटो उदकम्, अग्ने आशा, पटो आशा, इस अवस्था में 'एचोऽप्रगृह्यस्यादूराद्धूते पूर्वार्धस्या–दुत्तरस्येदुतौ' ८.२ सूत्र से अग्ने तथा पदों में एच् के पूर्वार्ध एक मात्रा रूप के स्थान में आकार आदेश हुआ। वह प्लुत हो जाता है। शेष उत्तरार्ध की एक मात्रा इकार उकार की रहती है। पूर्वार्ध उत्तरार्ध दोनों भाग युगपद् उदात्त भी हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में अग्ना इ इ इन्द्रम्, पटा इ उ उदकम् प्रयोगों में प्लुतशेष उत्तरार्ध इ उ के स्थान में यणा आदेश का विधान होना चाहिए। क्योंकि प्लुतपूर्वक जो इकार उकार है वह प्लुत सहभावी होने से प्लुत विकार है। प्लुत के असिद्ध होने से वह भी इकोयणचि—६.१.७७ की दृष्टि में असिद्धि ही है। अतः उपर्युक्त प्रयोगों में 'यण्' सिद्धयर्थ यह वार्तिक पढ़ना ही चाहिए। वार्तिक करने पर आश्रयत्वे इ उ सिद्ध रहेगा। इस तरह प्लुत के असिद्ध होने पर यह वार्तिक आवश्यक है। यदि प्लुत सिद्ध हो तो इस वार्तिक की आवश्यकता नहीं होगी। इस अभिप्राय से प्रकृत ज्ञापन द्वारा प्लुत को सिद्ध बताया जा रहा है - **यदयं 'प्लुतप्रगृह्या अचीति प्लुतस्य प्रकृतिभावं शास्ति तज्ज्ञापयत्याचार्यः 'सिद्धः प्लुतः स्वर सन्धिषु** इति। भाव यह हुआ कि यदि स्वर सन्धि कर्तव्य में प्लुत असिद्ध हो प्रकृति भाव कर्तव्य में भी प्लुत असिद्ध हो जायेगा। ऐसी स्थिति में आश्रय के अभाव में 'प्लुतप्रगृह्या अचिनित्यम्' सूत्र द्वारा प्लुत को प्रकृतिभाव विधान व्यर्थ हो जायेगा। यही प्लुत को प्रकृतिभाव विधान सामान्यतः ज्ञापित कर रहा है कि स्वर सन्धि कर्तव्य में प्लुत असिद्ध नहीं होगा। अतः पूर्वोक्त प्रयोगों में इकोऽयणचि' सूत्र से ही यण् सिद्ध हो जायेगा - वार्तिक आवश्यक नहीं है। यही इस ज्ञापन का तात्पर्य है।

वस्तुतः प्लुत सिद्ध होने पर भी वार्तिक अग्ना इ इ + इन्द्रम् पटा उ उ + उदकम् में सवर्ण दीर्घ के बाधन लिए तथा अग्ना इ इ + आशा, पटा इ उ + आशा में 'इकोऽसवर्णेशाकल्यस्य ह्रस्वश्च' सूत्र द्वारा विहित प्रकृतिभाव के बाधन के लिए आवश्यक ही है। यद्यपि प्लुत पूर्वक इ, उ के स्थान में यण् सिद्धि तो तपोर्य्वाविचि संहितायाम्' सूत्र से ही संभव है। यह यण् विधान ही दीर्घ तथा शाकल प्रकृतिभाव का बाधक होता है। तथापि जहां प्लुत विकार इ उ नहीं है जैसे भो इ+इन्द्रम् यहां भी शब्द में छान्दस प्लुत है। यहां भी भो+यिन्द्रम् प्रयोग में यण् विधानार्थ वार्तिक आवश्यक ही है। यदि भो यिन्द्रम् प्रयोग को 'छान्दसिदृष्टानुविधि' इस न्याय से सिद्ध स्वीकार कर लिया जाय तो **'यणादेशः प्लुतपूर्वस्य चेतिवक्तव्यम्'** वार्तिक अनावश्यक ही है। यही भाष्य का तात्पर्य है।

३. पूर्वपदोत्तरपदयोस्तावत्कार्यं भवति कानिर्देशः

'अन्तादिवच्च' ६.१.८५ सूत्र के भाष्य में पूर्वान्तवद्भाव का एक प्रयोजन गुडमिश्रमुदकम्—गुडोदकम्, मथितमिश्रमुदकम्—मथितोदकम् प्रयोगों में शाकपार्थिवादित्वेन समासोत्तर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मिश्र पद के लोप के अनन्तर गुड+उदकम् मथित+उदकम् इस अवस्था में पूर्वोत्तर पद वर्णों का एकादेश करने पर 'उदके केवले' सूत्र से मिश्रवाची समास में उत्तरपदभूत उदक शब्द परे रहते पूर्वान्तवद्भावेन पूर्वपद का अन्तोदात्त हुआ है। यहां एकादेश होने पर 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' न्याय से दक शब्द को ही उदक शब्दत्वेन गृहीत कर पूर्व पदान्तोदात्तत्व का विधान किया गया है। आगे चल कर इस प्रयोजन के निराकरण के लिए भाष्य में परविप्रतिषेध द्वारा पूर्वपदान्तोदात्तत्व का साधन किया गया। गुड+उदकम्, मथित+उदकम् इस अवस्था में एकादेश एवं पूर्वपदात्तोदात्त स्वर दोनों को युगपत् प्राप्ति में उदश्विदुदकम् प्रयोग में एकादेश की अप्राप्ति में 'उदके केवले' सूत्र से पूर्वपदात्तोदात्तत्व सावकाश है। दन्डाग्रम् इत्यादि प्रयोगों में एकादेश शास्त्र चरितार्थ है। गुड+उदकम्, मथित+उदकम् इन प्रयोगों में एकादेश एवं स्वर दोनों प्राप्त हैं परविप्रतिषेधात् पूर्वपदान्तोदात्तत्व ही होगा। यह विप्रतिषेध पाक्षिक स्वरितत्व के साधनार्थ आवश्यक भी है। यदि एकादेश पहले किया जायेगा तो गुडोदक आदि प्रयोगों में पूर्वदान्तोदात्तत्वेन एकादेश उदात्त ही होगा। स्वरितत्व को सिद्धि नहीं होगी। विप्रतिषेध का आश्रयण कर यदि पहले गुड+उदकम् इस अवस्था में पूर्वपदान्तोदात्तत्व का विधान किया जायेगा तो 'अनुदात्तं पदमेकवर्जम्' सूत्र से उदक शब्द अनुदात्त हो जायेगा। बाद में एकादेश होने पर 'स्वरितो-वाऽनुदात्ते पदादौ' सूत्र से एकादेश पक्ष में स्वरित भी होता है। अतः 'गुडोदकम्' आदि प्रयोगों में पाक्षिक स्वरितत्व की सिद्धि के लिए विप्रतिषेध आवश्यक है। पूर्वान्तवद्भाव का यह प्रयोजन इस तरह अन्यथा सिद्ध हो गया। पुनः 'प्राशिता', 'प्रारिता' प्रयोगों में प्र पूर्वक अश् धातु प्र पूर्वक अट् धातु से 'तृच्' प्रत्यय में 'प्र+अरितृ' में गति तथा कृदन्त वर्णों के एकादेश के अनन्तर पूर्वोत्तर पद विभागाभावात् **'गतिकारकोपदात्कृत्'** सूत्र से कृदन्तोत्तरपद प्रकृति स्वर प्राप्त नहीं था। पूर्वान्तवद्भावेन एकादेश में गत्यन्तवद्भाव द्वारा उससे पर उत्तर पदभूत कृदन्त का प्रकृति स्वर सिद्ध होता है। इस प्रयोजन का निराकरण भी विप्रतिषेध के आश्रयण से किया गया है। कृदन्तोत्तरपद प्रकृतिस्वर 'प्रकारकः' 'प्रकरणम्' आदि में सावकाश है। एकादेश भी दण्डाग्रम् आदि प्रयोगों में सावकाश है। प्राशिता, प्राटिता में दोनों की युगपत्प्राप्ति होने से पर विप्रतिषेधात् प्र+अशितृ प्र+अटितृ इसी अवस्था में कृदन्तोत्तरपद प्रकृति स्वर हो जायेगा। यह विप्रतिषेध आवश्यक है अन्यथा एकादेश में गत्यन्तवद्भाव होने पर भी पद भाग में अविकल कृदन्तोत्तरपदत्व का अभाव होने से कृदन्त प्रकृति स्वर की सिद्धि नहीं होगी। यदि कहो कि कृदन्तोत्तरपदत्व का लाभ भी परादिवद्भावेन कर लेगे तो यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि उभयतः समाश्रयण में अन्तादिवद्भाव होता ही नहीं। 'उभयतः आश्रयणनान्तादिवत्'। इसी तरह उत्तर पद वृद्धि भी एकादेशापेक्षया पर विप्रतिषेधात् पहले ही कर्तव्य है। पूर्वत्रैगर्तिकः अपरत्रैगर्तिकः इन प्रयोगों में पूर्वेसु त्रिगर्तेषुभवः इत्यादि विग्रह में तद्धितार्थ में समास के अनन्तर अवृद्धादपि-बहुवचनविषयात् सूत्र से 'वुञ्' प्रत्यय होने पर 'दिशोऽमद्राणाम्' सूत्र से उत्तर वृद्धि एकादेश के अभाव में सावकाश है। एकादेश 'दण्डाग्रम' आदि में सावकाश है। 'पूर्वेसुकामशमः' 'अपरेषुकामशमः' यहां पूर्वस्याम् इषु कामिशम्यां भवः इत्यादि विग्रह में तद्धितार्थ समास के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनन्तर अण् प्रत्यय में पूर्व+इषुकामशमी+अ इस अवस्था में दोनों की युगपत्प्राप्ति होने पर एकादेशापेक्षया 'प्राचाग्रामनगराणाम्' सूत्र से उत्तर पद वृद्धि होती है अन्यथा पूर्वोत्तर पद विभागभावात् वृद्धि ही संभव नहीं होती। इस तरह पर विप्रतिषेधाश्रयण द्वारा ही स्वर सिद्धि हो जाने के कारण पूर्वान्तवद्भाव के ये प्रयोजन अन्यथासिद्ध हो गए। इस पर यह विचारणीय है एकादेश पूर्वोत्तरपदद्वय सापेक्ष स्वर की अपेक्षा अन्तरंग है। अतः एकादेश ही प्राप्त होगा क्योंकि अन्तरंग परापेक्षया बलवान् होता है। इस आक्षेप के समाधान में प्रकृत ज्ञापन का उपन्यास किया गया है— **आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति–पूर्वोत्तर पदयोस्तावत्कार्यं भवति नैकादेश इति। यदयं नेन्द्रस्य परस्येति प्रतिषेधं शास्ति।** भाव यह है कि 'सोमेन्द्र' प्रयोग में 'सोमेन्द्रौ' देवता अस्य, विग्रह में सोम तथा इन्द्र शब्द के द्वन्द्व समास में पूर्वपद के स्थान में 'आनङ्' आदेश तथा 'सास्य देवता' सूत्र से अण् प्रत्यय होने के बाद सोमा+इन्द्र+अ इस अवस्था में यदि अन्तरङ्गत्वेन प्रथम एकादेश ही हो तो इन्द्र शब्द का प्रथम अच् एकादेश से हृत हो गया। अन्त्य अच् 'यस्येति च' लोप से अपहृत हो जायेगा। इस अवस्था में इन्द्र शब्द में अच् के अभाव से 'देवताद्वन्द्वे च' सूत्र से उत्तरपद वृद्धि का प्रसंग ही नहीं रहा। उसके निषेध के लिए जो 'नेन्द्रस्य परस्य' सूत्र किया गया है वह व्यर्थ हो जायेगा। अतः इस 'नेन्द्रस्य परस्य' निषेध सूत्र से आचार्य यह ज्ञापित कर रहे हैं कि पूर्वोत्तर पद संबन्धी कार्य ही एकादेश को बाधकर होता है। अन्तरंग भी एकादेश पूर्वोत्तर पद संबन्धी कार्य के विषय में प्रवृत्त नहीं होता है।

यह ज्ञापन 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' सूत्र के भाष्य में भी स्पष्ट किया गया है।

४. नैकादेशनिमित्तात्षत्वम्

'षत्वतुकोरसिद्धः' ६.१.८६ सूत्र के भाष्य में एक वार्तिक पढ़ा गया है। **'संप्रसारणङीट्सु सिद्ध एकादेश इति वाच्यम्'** इसका तात्पर्य यह है कि यदि सत्व तथा तुक् कर्तव्य में एकादेश को असिद्ध विधान किया जाता है। तो संप्रसारण ङि तथा इट् प्रत्यय संबन्धी एकादेश को षत्व तथा तुक् की कर्तव्यता से सिद्ध विधान करना चाहिए। अन्यथा 'शकहूषु' प्रयोग में 'शकान् ह्वयन्ति' इस विग्रह में शक उपपद रहते हुए ह्वेञ् धातु से 'क्विप्' प्रत्यय में संप्रसारण तथा 'संप्रसारणाच्च' सूत्र से पूर्वरूपैकादेश तथा 'हलः' सूत्र से दीर्घ करने पर सप्तमी बहुवचन सुप् विभक्ति में शकहू+सु ऐसी स्थिति में 'आदेश प्रत्यययोः' सूत्र से षत्व कर्तव्य में सप्रसारण पूर्वरूपैकादेश असिद्ध हो जाने से इण् परत्वाभावात् सत्व नहीं होगा। 'शकहूषु' प्रयोग सिद्ध नहीं होगा। इसी तरह परिपूर्वक 'वेञ्' धातु से क्विप् प्रत्यय में परिवीषु प्रयोग में भी सत्व सिद्ध नहीं होगा। वृक्ष शब्द से सप्तम्येकवचन ङि विभक्ति में वृक्ष+इ में गुण एकादेश होता है। इस पद के उत्तर 'छत्रम्' का प्रयोग कर वृक्षे+छत्रम् यहाँ भी 'छे च' सूत्र से तुक् कर्तव्य में गुण एकादेश के असिद्ध हो जाने से नित्य तुक् प्राप्त होने लगेगा। किन्तु यहां 'दीर्घात्—पदान्ताद्वा' से विकल्प तुक् ही इष्ट है। 'वृक्षेच्छत्रम्' प्लक्षेच्छत्रम्, प्लक्षेच्छत्रम्। ये प्रयोग भी सिद्ध नहीं होंगे। इसी प्रकार 'पच्'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

धातु से लङ् उत्तम पुरुषैकवचन इट् प्रत्यय में अपच+इ यहां भी 'आद्गुणः' से गुण होता है। तदुत्तर छत्रम् पद के योग में अपचेच्छत्रम् अपचेछत्रम्, प्रयोगों में भी वैकल्पिक तुक् को षत्व तथा तुक् कर्तव्य में सिद्धविधान करना ही चाहिए। इस के समाधान में कहा गया है कि इस सूत्र में 'पदस्य' को पढ़ करके तथा 'अन्तादिवच्च' सूत्र से अन्त आदि का अनुवर्तन कर पदान्त पदादि वर्ण संबन्धी एकादेश को ही षत्व एवं तुक् कर्तव्य में असिद्ध विधान करेंगे। इन प्रयोगों में जो एकादेश है वे पदान्त पदादिवर्ण संबन्धी नहीं है। अतः असिद्ध नहीं होंगे। कोई दोष नहीं होगा। सिद्धत्वविधायक वार्तिक अनावश्यक है। इस पर पुनः यह शंका की गई कि यदि पदान्त पदादि वर्ण संबन्धी एकादेश षत्व तुक् कर्तव्य में असिद्ध होंगे तो 'ओषधीस्कृधि' यह वैदिक प्रयोग सिद्ध नहीं होगा। ओषधि शब्द से द्वितीया बहुवचन 'शस्' विभक्ति से ओषधि+अस् इस अवस्था में पूर्वसवर्ण दीर्घैकादेश करने के बाद सकार का सत्व विसर्ग करने पर ओषधीः कृधि इस अवस्था में 'कः करत् करति कृधि कृतेष्वनदितेः' सूत्र से विसर्ग के स्थान में सत्व विधान द्वारा प्रयोग सिद्ध होता है। यहां पूर्वसवर्णैकादेश पदान्तपदादिवर्ण संबन्धी न होने के कारण असिद्ध नहीं होगा। अतः इस 'इणः षः' के अधिकार से इण् से उत्तर विसर्ग के स्थान में षत्व हो जायेगा। यदि यहां षत्व कर्तव्य में पूर्वसवर्णैकादेश असिद्ध होगा तभी षत्व की प्रसक्ति न होने के कारण साकार सिद्ध होगा। अन्यथा 'ओषधीस्कृधि' प्रयोग सिद्ध नहीं हो सकता है इसी आक्षेप के समाधान में प्रकृत ज्ञापन का उपन्यास किया गया है-- **नैष दोषः। यदयं कस्कादिषु भ्रातुष्पुत्रग्रहणं करोति तज्ज्ञापयत्याचार्यो नैकादेशनिमित्तात्षत्वं भवति, इति**। भाव यह है कि भ्रातुः पुत्रः इस विग्रह में षष्ठी तत्पुरुष है। **'ऋतो विद्यायोनिसंबन्धेभ्यः'** सूत्र से षष्ठी का अलुक् हुआ है। भ्रातृ+अस्+पुत्र इस अवस्था 'ऋत उत्' सूत्र से रपर-उकार एकादेश होने पर **'रात्सस्य'** सूत्र से सकार का लोप कर रेफ को विसर्ग किया गया है। यहां पदान्तपदादिवर्ण संबन्धी न होने कारण उकार एकादेश के सिद्ध होने से तदुत्तर विसर्ग के स्थान में 'इदुदुपधस्य चाप्रत्ययस्य' सूत्र से ही षत्व सिद्ध होने पर भी जो षत्व के लिए भ्रातुष्पुत्र शब्द का कस्कादि गण में ग्रहण किया गया है वह ज्ञापित कर रहा है कि एकादेश से परे विसर्ग के स्थान में षत्व नहीं होता है। **'एकादेशनिमित्तात्'** शब्द में बहुव्रीहि समास जानना चाहिए। **'एकादेशशास्त्रं निमित्तं यस्य स**—इस विग्रह द्वारा **एकादेशनिमित्तात्'** इस पद का अर्थ एकादेश ही हुआ। अतः एकादेश से उत्तर विसर्ग के स्थान में षत्व नहीं होता है। यही ज्ञापनवार्तिक का अर्थ है। इस तरह **'ओषधीस्कृधि'** प्रयोग में षत्व की व्यावृत्ति प्रकृत ज्ञापन से ही हो जाती है। **'संप्रसारणङीप्सु सिद्ध एकादेश इति वक्तव्यम्'** यह वार्तिक नही है। यही भाष्य का तात्पर्य है।

५. विभक्त्योर्ग्रहणम् इति।

'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' ६.१.१०२ सूत्र के भाष्य में 'प्रथम' शब्द ग्रहण अर्थ का विचार करते हुए कहा गया है—**'कयोरिदं प्रत्ययग्रहणम्' विभक्त्योराहोस्वित्प्रत्यययोः'** इसका अभिप्राय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह है कि प्रथम शब्द नियतसंनिवेश विशेष सापेक्ष है। उससे किसी संनिवेशविशेष की आकांक्षा होती है। यहाँ 'प्रातिपदिकार्थ लिंगपरिमाणवचनमात्रे प्रथमा' इत्यादि सूत्रों में विभक्तियों में प्रथमा शब्द की प्रसिद्धि के आधार पर विभक्तिसंनिवेश का ग्रहण किया गया। विभक्तिसंनिवेश स्थित यावत् की अपेक्षा से अन्तरंगत्वेन प्रत्यय का ग्रहण भी संभाव्य है। इसी दृष्टि से **विभक्त्योराहोस्वित्प्रत्यययोः** ऐसा संशय किया गया। 'प्रथमयोः' में द्विवचननिर्देश से प्रथमत्वेन ग्रहण से प्रथमा द्वितीया विभक्ति गृहीत हो अथवा प्रथमत्वेन ग्राह्य एक वचन, द्विवचन प्रत्यय गृहीत हों। 'प्रथमयोः' प्रयोग पुलिंग स्त्रीलिंग साधारण होने के कारण स्त्रीलिंग में इसका विभक्ति के साथ सामानाधिकरण्य हो सकता है। पुलिंग में प्रत्यय के साथ भी सामानाधिकरण्य हो सकता है। अतः यह संशय सर्वथा संगत ही है। इस संशय में **'विभक्त्योरित्याह'** कह कर प्रथमत्वेन ग्राह्य प्रथमा-द्वितीया दो विभक्तियों का ही निश्चय किया गया। इस निश्चय के लिए इस सूत्र में 'अचि' का अनुवर्तन कर उसे 'प्रथमयोः' का विशेषण स्वीकार किया गया'। तदादि विधि द्वारा अजादि जो प्रथम द्वय ऐसा व्याख्यात होने से विभक्तियों के प्रथम-द्वय में अजादित्व संभव है। प्रत्ययों के प्रथमद्वय में प्रथम सु होने के कारण अजादित्व संभव नहीं है। अतः प्रथम शब्द से प्रथमा-द्वितीया यह दो त्रिक ही गृहीत होते हैं। प्रत्यय द्वय गृहीत नहीं होते हैं। इस पर यह शंका होती है कि इस सूत्र में अचि का 'अनुवर्तन' कर 'दीर्घाज्जसि च' इस निषेध सूत्र में प्रत्यय के प्रसंग से तदादिविधि द्वारा अजादि जो प्रत्यय प्राथम्येन व्यपदेशार्थ हो उसके परे रहते पूर्वसवर्ण दीर्घकादेश न हो, ऐसी व्याख्या में केवल औ+जस् दो ही प्रत्यय गृहीत होंगे। यदि अचि में निर्धारण सप्तमी स्वीकार कर अजादि प्रत्ययों के मध्य में जो प्राथम्येन व्यपदेशार्ह हों उनके परे रहते पूर्वसवर्णदीर्घकादेश हो, ऐसी व्याख्या करते हैं तब भी औ+जस् यही दो प्रत्यय गृहीत होते हैं। 'अचि' के अनुवर्तन द्वारा जो विभक्ति द्वय का ग्रहण कर रहे हैं यह संभव नहीं है। इसी शंका के समाधान में प्रस्तुत ज्ञापन का उपन्यास भाष्य में किया गया है— **यत्र्याह तस्माच्छसो नः पुंसि इत्यनुक्रान्तं पूर्वसवर्ण निर्देशति तज्ज्ञापयत्याचार्यो–विनक्तोर्ग्रहणमिति।** भाव यह है कि 'तस्माच्छसोनः पुंसी' सूत्र द्वारा पूर्वसवर्ण दीर्घ से परे शस् के सकार के स्थान में जो नकार आदेश किया गया है, यही ज्ञापित कर रहा है कि 'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' सूत्र में प्रथम शब्द से प्रथमा-द्वितीयाख्य त्रिकद्वय का ही ग्रहण होता है। यदि प्रथम शब्द से अजादि प्रत्यय द्वय औ जस् मात्र गृहीत होता हो शस् के सकार के स्थान में नकार विधान के लिए निमित्तत्वेन 'तस्माच्छसो नः' सूत्र में पूर्वसवर्णदीर्घ का निर्देश असंगत हो जायेगा। अतः प्रकृत ज्ञापन प्रथम त्रिकद्वय के ग्रहण में दृढ़तर प्रमाण है। इसी प्रमाण के आधार पर 'विभक्त्योर्ग्रहणम्' इस ज्ञापन वार्तिक में भी विभक्ति शब्द से त्रिक का ही ग्रहण जानना चाहिए।

६. न जश्शसोः पररूपं भवति इति

'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' ६.१.१०२ सूत्र के भाष्य में एक वार्तिक पढ़ा गया है—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'प्रथमयोरिति योगविभागः सवर्णदीर्घार्थः' । इस वार्तिक द्वारा 'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' सूत्र में योग विभाग की आवश्यता बताई गई है । 'प्रथमयोः, इस प्रथम योग से अक् से प्रथमाद्वितीया संबन्धी अच् परे रहते सवर्ण दीर्घैकादेश का विधान कर दिया गया है । 'पूर्वसवर्ण' इस द्वितीय योग से अक् से प्रथमा द्वितीया संबन्धी अच् परे रहते पूर्वसवर्णदीर्घैकादेश का विधान किया गया । इस योग-विभाग से वृक्षाः, प्लक्षाः वृक्षान्, प्लक्षान् प्रयोगों में प्रथमयोग द्वारा सवर्ण दीर्घ विधान किया जाता है । यदि योग विभाग नहीं होगा तो वृक्षाः, प्लक्षाः इत्यादि प्रयोगों में 'अतोर्गुणः' से पररूप की प्रसक्ति हो जायेगी, यदि यह कहो कि पूर्व-सवर्णदीर्घ से पररूप का परत्वाद् बाध हो जायेगा तो यह संभव नहीं है क्योंकि स्वर सन्धि में उत्सर्गभूत गुण तथा यणादेश के अपवाद वृद्धि सवर्णदीर्घ तथा पूर्वसवर्णदीर्घ सबों का अपवाद पररूप होता है । वृक्षाः इत्यादि प्रयोगों में वृक्ष+अस् इस अवस्था में प्रथम 'आद्गुणः' से गुण प्राप्त है, तदनन्तर तदपवाद दीर्घ प्राप्त है तदनन्तर तृतीय कक्षा में तदपवादतया पररूप प्राप्त होगा । यदि योग विभाग करते हैं तो तृतीयकक्षा प्राप्त पररूप को भी चतुर्थकक्ष्यागत योग विभाग बाधक हो जायेगा । 'वृक्षाः' आदि प्रयोग सिद्ध होंगे । अतः वृक्षाः आदि प्रयोगों के सिद्ध्यर्थ विभाग आवश्यक हैं । यही तात्पर्य है । किन्तु योग-विभाग स्वीकार करने पर जैसे यह योगविभाग पररूप का बाधक होगा उसी तरह 'वृक्षम्' आदि प्रयोगों में 'अभिपूर्वः' सूत्र से प्राप्त पूर्वरूप का बाधक होने लगेगा । 'तस्माच्छसो नः पुंसि' सूत्र में तत् शब्द से अनन्तर पूर्व में निर्दिष्ट पूर्वसवर्णदीर्घ का ग्रहण होने के कारण 'वृक्षान्' आदि प्रयोगों में नत्व भी नहीं होगा । 'अग्नीम्' आदि प्रयोगों में ही पूर्वसवर्ण दीर्घ होने के कारण नत्व होगा । 'वृक्षान्' प्रयोग में प्रथम योग विहित सवर्ण दीर्घ ही होने के कारण नत्व नहीं होगा । इन दोषों के रहते योगविभाग स्वीकार करना ठीक नहीं है । इसलिए भाष्य में यह कहा गया कि **'अस्तुतर्ह्येकयोग एव'** अर्थात् 'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' एक ही योग होगा । यदि एक ही योग स्वीकार करते हैं तो वृक्षाः, वृक्षान् आदि प्रयोगो में फिर वही पररूप प्रसंग दोष प्राप्त है । इसी दोष के परिहार के लिए प्रकृत ज्ञापन का उपन्यास भाष्य में किया गया है— **नैष दोषः यदयं नादिचीतीज्ग्रहणं करोति तज्ज्ञापयत्याचार्यो न जश्शसोः पररूपं भवति इति** । भाव यह है कि यदि जश्शस् विभक्ति परे रहते पररूप होता है तो 'नादिचि' सूत्र में 'इचि' ग्रहण व्यर्थ ही है । 'नादः' मात्र सूत्र करने पर भी अवर्ण से अच् परे रहते दीर्घ न हो इसी व्याख्या में 'वृक्षौ' आदि प्रयोगों में पूर्व सवर्णदीर्घ का निषेध हो जायेगा । इच् से अतिरिक्त अन्यत्र जस् शस् के विषय में पररूप से बाधित होकर पूर्वसवर्ण दीर्घ प्राप्त नहीं है' । जब इच् मात्र में ही पूर्वसवर्ण दीर्घ प्राप्त है तो उसका निषेध 'नाद' मात्र सूत्र करने पर भी हो ही जायेगा । इस तरह यही इच् ग्रहण व्यर्थ हो कर ज्ञापित करता है कि जस्, शस् के परे रहते पररूप नहीं होता है । अतः जस्, शस् परे रहते भी पूर्वसवर्ण दीर्घ ही प्राप्त है उसकी व्यावृत्ति के लिए इच् ग्रहण आवश्यक होता है । यदि इच् के ग्रहण को उत्तरार्ध 'दीर्घाज्जसि च' सूत्र के लिए मान लिया जाय तो उसके द्वारा ज्ञापन संभव नहीं होगा । ऐसा कोई कहे तो ऐसी स्थिति में 'दीर्घाज्जसि च' सूत्र में इच् ग्रहण भी नहीं करेंगे, जस् ग्रहण भी नहीं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करेंगे किन्तु **'दीर्घाज्जसि पूर्वसवर्णे भवति'** इस अभिप्राय से 'दीर्घाज्जसि' मात्र ही सूत्र करेंगे। यह सूत्र नियमार्थ हो जायेगा । दीर्घ से शस् परे रहते ही पूर्व सवर्ण दीर्घ हो । अन्यत्र न हो, **'नान्यत्रे'** । इस लघुभूत न्यास के द्वारा ही निर्वाह हो सकता था । किन्तु लघुभूत न्यास से सिद्ध होने पर भी जो इच् का ग्रहण किया गया है, वह प्रकृत ज्ञापन के लिए हो हो सकता है । उत्तरार्द्धत्वमात्र इसका प्रयोजन नहीं है । 'नादिचि' सूत्र के लिए भी इच् ग्रहण आवश्यक है। प्रकृत ज्ञापन के बिना इच् का ग्रहण 'नादिचि' सूत्र में भी व्यर्थ है; अतः यह ज्ञापन सर्वथा निर्दोष है ।

७. अन्तरङ्गं वलीयो भवति ।

'संप्रसारणाच्च' ६.१.१०८ सूत्र के भाष्य में विभिन्न स्थलों में एकादेश के बलाबल के विचार के प्रसंग में एक वार्तिक द्वारा **'आद्गुणः— सूत्र से विहित गुणापेक्षया 'अकः' सवर्णेदीर्घः' सूत्र से विहित सवर्ण दीर्घ को आङ् तथा अभ्यास बलवान बोधित किया गया** है । उदाहरण कदा+आ+ऊढ़ा+कदोढ़ा, अघ+अत्+ऊढा अघोढा इत्यादि प्रयोग दिये गये हैं। यहां गणैकादेश तथा सवर्णदीर्घैकादेश दोनों की शुभ प्राप्ति है । खट्वा+इन्द्रः—खट्वेन्द्रः, खट्वा+उदकम् इत्यादि प्रयोगों में 'आद्गुणः' सूत्र सावकाश है । दण्डाग्रम, क्षुपाग्रम् इत्यादि प्रयोगों में 'अकः सवर्णेदीर्घः' सूत्र से दीर्घ चरिताथ है । कदा+आ+ऊढा—कदोढ़ा, अघ+आ+ऊढा—अघोढा इत्यादि प्रयोगों में सवर्णदीर्घ गुण दोनों की युगपत्प्राप्ति होने पर परविप्रतिषेधेन सवर्णदीर्घ होता है । तदनन्तर गुण होकर प्रयोग सिद्ध होगा । इसी तरह उप पूर्वक यज् धातु, उपपूर्वक वय् धातु से लिट् लकार प्रथम पुरुष द्विवचन में उप+इ+इजतु—उपेजतुः, उप+उ+उपतुः - उपोपतुः प्रयोगों में प्राप्त गुणैकादेश को बाधकर पर विप्रतिषेधेन सवर्णदीर्घ होता है । तदनन्तर गुण होकर रूप सिद्ध होते हैं । इस तरह दोनों स्थलों में रूप सिद्धि के लिए परविप्रतिषेध के आश्रयण को वार्तिक द्वारा आवश्यक बताया गया । किन्तु आगे चलकर परविप्रतिषेध के आश्रयण में रूप सिद्धि होने पर भी इस पक्ष में स्वरदोष दिखाया गया है - **'स्वरे तु दोषो भवति'** भाव यह है कि अद्य+आ+अढा, कहा+ऊ ऊढा यहां अद्य, कहा शब्द प्रत्यय स्वर से अन्तोदात्त हैं । आ शब्द **'गतिरनन्तर'** शब्द सूत्र द्वारा पूर्वपद प्रकृतिस्वर से उदात्त है । शेष आ ऊढा 'अनुदात्त पदमेकवर्जम्' सूत्र से अनुदात्त है । यदि यहां परप्रतिषेधाश्रयेण सवर्णदीर्घ प्रथम किया गया तो अघा+ऊढा, कदा+ऊढा इस अवस्था में गुण करने पर 'स्वरितोवानुदात्ते पदादौ' सूत्र द्वारा पक्ष में उदात्त पक्ष में स्वरित स्वर—अघोढा, अघोढा प्रसक्त होगा । परन्तु यहां एकादेशोदात्त स्वर, अघोढ़ा ही इष्ट है। यह सष्ट स्वर तभी सिद्ध होगा जबकि अघ+ऊ ऊढा इत्यादि पहले गुण करके उघ+ओढ़ा कदा+ओढा इस अवस्था में 'ओमाङोश्च' सूत्र से पररूप करें । क्योंकि पररूप शास्त्र की दृष्टि में त्रैपादिकत्वेन **'स्वरितोवानुदात्ते पदादौ'** सूत्र के असिद्ध होने से शास्त्रदृष्ट्या स्वरहीन ही ओकार पूर्ववर्ण उदात्त के साथ पररूपैकादेश होकर आन्तर तम्यात् उदात्त ही होगा। दूसरी बात यह भी होगी कि यदि आङ् परे रहते पहले परप्रतिषेधेन सवर्ण दीर्घ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करेंगे तो 'ओमाङोश्च' सूत्र भी अनर्थक हो जायेगा। इस तरह विप्रतिषेधाश्रय पक्ष में दोष प्राप्त होने पर विप्रतिषेध वादी ने ज्ञापकार्थत्वेन 'ओमाङोश्च' सूत्र के आनर्थक्य का परिहार किया नानर्थकम्। ज्ञापकार्थम्। एतज्ज्ञापयत्याचार्योऽन्तरङ्गं बलीयो भवति, इति। भाव यह है कि विप्रतिषेध का आश्रयण करने पर सवर्ण दीर्घ से ही रूप सिद्ध हो जाने 'ओमाङोश्च' यह पररूप विधायक सूत्र ज्ञापक हो रहा है कि 'विप्रतिषेधापेक्षया' अन्तरङ्ग बलवान् होता है। इस तरह अन्तरंगबलीय सब ज्ञापकता से बोधनार्थ ही विप्रतिषेध के पक्ष का आश्रयण किया गया है न कि इस पक्ष की स्थापना की गई है। अतः 'अघोढा', कदोढा' प्रयोगों में स्वरदोष भी नहीं प्रसक्त है। इन प्रयोगों में प्राप्त दीर्घापेक्षया गुण इसलिए अन्तरङ्ग है कि गुणकार्य धातु-उपसर्ग संबन्धी है। सर्वप्रथम उपसर्ग का योग धातु से ही होता है। उपसर्गद्योत्य अर्थ को अन्त-र्भूत करके ही धातु अर्थ का बोधक होता है। उपसर्ग के योग के बिना तदर्थान्तर्भावेन बोध-जनकत्व ही धातु का असंभव हो जायेगा। उपसर्ग का धातु के साथ अन्तरंग संबन्ध होने के कारण धातुउपसर्गसंबन्धी कार्य अंतरंग है। अंतरंग बलवत्व बोधक परिभाषा का समर्थन इस प्रकार इस सूत्र से होता है। इसीलिए यहां विप्रतिषेध पक्ष उक्त प्रयोगों में दिखाया गया है। यह अन्तरगबलवत्वबोधक परिभाषा का इस शास्त्र में बहुत से प्रयोजन है जो अन्यत्र स्पष्ट किए जा चुके हैं। यहां दिग्दर्शनमात्र है।

पूर्वोक्त 'उपेजतुः', 'उपोषतुः' प्रयोग यद्यपि प्रकारान्तर से भी कथञ्चित् सिद्ध किए जा सकते हैं तथापि इन प्रयोगों में विप्रतिषेध का आश्रयण करना स्वाभाविक रूप से उचित है। एतन्मात्र बोधनार्थ वार्तिक में उल्लेख किया गया है।

८. सिद्धः प्लुतः स्वरसन्धिषु

'अतोरोरप्लुतादप्लुते' ६.१.११३-सूत्र के भाष्य में सूत्र घटक 'अप्लुतात्' तथा 'अप्लुते' इन पदों के प्रयोजन के विचार के प्रसंग में कहा गया है कि **'सुस्रोता इ अत्रन्वसि इस'** वाक्य में सुस्रोतस् शब्द के संबोधन सुस्रोतस् पद में 'दूराद्धूते च' सूत्र द्वारा तकारोत्तर अकार प्लुत हुआ है। तदनन्तर अत्रन्वसि इस पद का योग करने पर सुस्रोताइ स्+अत्रन्वसि—इस अवस्था में 'ससजुषोरुः' सूत्र द्वारा रुत्व करने पर सुस्रोता इ र + अत्रन्वसि इस अवस्था में प्लुत अकार के उत्तर रेफ के स्थान में उत्व वारण के लिए यहां 'अप्लुतात्' ग्रहण किया गया है। इसी तरह 'तिष्ठतु पय आइग्निदत्त'— इस प्रयोग में तिष्ठतु पयस्+अइग्निदत्त इस वाक्य में आइ-ग्निदत्त पद में 'गुरोरनृतो नन्त्यस्याप्येकैकस्य प्राचाम्' सूत्र से प्लुत होने पर 'पयस्' के सकार के स्थान सत्व विधानान्तर तिष्ठतु पयर्+अ इग्निदत्त इस अवस्था प्लुत अकार परे रहते रेफ के स्थान में उत्व वारण के लिए यहां 'अप्लुते' ग्रहण किया गया है। इसके अनन्तर भाष्य में यह आशंका की गई है कि जब 'अतः' 'अति' ऐसा कहा गया है तो प्लुत से परे प्लुत परे रहते उत्व का प्रसंग ही कैसे हो सकता है? इसका भाव यह है कि 'प्लुत प्रगृह्या चिनित्यम्' सूत्र से प्लुत के स्थान में प्रकृतिभाव विधान सामर्थ्यात् स्वरसन्धि प्रकरण में प्लुत के सिद्ध होने से तथा अतः, अति में अकार को तपर करने से ही उत्व की व्यावृत्ति हो सकती है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'अप्लुतात्' तथा 'अप्लुते' दोनों पद सूत्र में व्यर्थ ही है । यही शंका ग्रन्थ का अभिप्राय है इसका समाधान यह किया गया कि प्लुत के प्रकृतिभाव विधान सामर्थ्येन केवल प्रकृतिभाव के प्रति ही प्लुत सिद्ध होता है । इस तरह इस सूत्र की दृष्टि में प्लुत असिद्ध होता है अत तपर करण से उक्त प्रयोगों में उत्व का वारण संभव नहीं है। अतः 'अप्लुतात्' तथा 'अप्लुते' दोनों पदों का ग्रहण सूत्र में आवश्यक ही है। इन दोनों पदों के करने पर अप्लुत में प्रतियोगित्वेन प्लुत का आश्रय होने से उत्व की दृष्टि से प्लुत सिद्ध रहता है। अतः उक्त दोनों प्रयोगों में उत्व की व्यावृत्ति होती है । यद्यपि यहां अप्लुत प्रतिषेध में प्रतियोगितया प्लुत के आश्रयमाण होने से ही प्लुत सिद्ध हैं तथापि 'प्लुत प्रगृह्य अचि' सूत्र द्वारा प्लुत के स्थान प्रकृतिभाव विधान द्वारा सामान्यापेक्षतया ज्ञापन द्वारा भी प्लुत का सिद्धत्व ज्ञात होता है । इसी अभिप्राय से इस ज्ञापन का उपन्यास यहां भी भाष्य में किया गया है— **'सिद्धः प्लुतः स्वरसन्धिषु । कथं जायते ! यदयं प्लुतः प्रकृत्येति प्लुतस्य प्रकृति भावं शास्ति। सतो हि कार्यिणः कार्येण भवितव्यम्'** अर्थात् कार्यों के रहने पर ही कार्य होता है, इसलिए यदि प्लुत त्रैपादिकत्वेन असिद्ध हो जाता है तो प्लुत के अभाव में प्रकृतिभाव का विधान करना ही व्यर्थ हो जायेगा । परन्तु 'प्लुतप्रगृह्याचिनित्यम्' सूत्र द्वारा जो प्लुत का प्रकृतिभाव विधान किया गया है यही ज्ञापित कर रहा है कि सामान्यतया स्वरसन्धि कर्तव्य में प्लुत सिद्ध ही रहता है ।

इस तरह 'अप्लुतात्' अप्लुते का जो अप्लुतभाविनः, अप्लुतभाविनि, इस तरह की लाक्षणिक व्याख्या अनावश्यक ही है । प्लुत का सिद्ध होना सर्वथा सिद्ध होने के कारण अप्लुतात्' 'अप्लुते' दोनों विशेषण सूत्र से आवश्वक ही है।

६. एकादेशात्प्लुतो भवति विप्रतिषेधेन इति

'प्लुतप्रगृह्या अचिनित्यम्' ६.१.१२१ सूत्र के भाष्य में प्लुत के प्रकृतिभाव विधान के प्रयोजन में कहा गया है कि स्वर सन्धि की व्यावृत्ति के लिए प्लुत को प्रकृतिभाव विधान किया गया । इस पर यह आशंका है कि प्लुत करने पर प्रकृतिभाव हो जाने के कारण स्वर सन्धि भले न हो, परन्तु स्वर सन्धि के शास्त्र के प्रति प्लुत शास्त्र के असिद्ध होने के कारण स्वर सन्धि हो ही जायेगी। इसी आशंका के समाधान में प्रकृत ज्ञापन का उपन्यास भाष्य में किया गया है— **यदयं प्लुतः प्रकृत्येति प्रकृतिभावं शास्ति तज्ज्ञापयत्याचार्य एकादेशात्प्लुतो भवति विप्रतिषेधनेति।** — भाव यह है कि प्लुत का प्रकृतिभाव विधान ही ज्ञापित कर रहा है कि प्लुत शास्त्र स्वरसन्धि शास्त्र की दृष्टि में सिद्ध ही है, इसलिए विप्रतिषेधेन एकादेशशास्त्रपेक्षया प्लुतशास्त्र के बलवान् होने से पहले प्लुत ही होता है। **'शालायामिन्द्रः शालेन्द्रः तत्संबुद्धौ शालेन्द्रः'** प्रयोग में 'दूराद्धूते च' सूत्र द्वारा प्राप्त प्लुत शाला+इन्द्रः प्रयोग घटक वर्णों के गुणैकादेशापेक्षया बहिरंग है। अतः यहां अन्तरंगत्वेन एकादेश होने में कोई आपत्ति नहीं है। यह परिभाषा जागरूक है—**असिद्धं बहिरंगमन्तरंगे इति ।**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१०. न निपातस्वरो विभक्तिस्वरं बाधते इति।

'चतुरः शसि' ६.१.१६७ सूत्र द्वारा शसृ परे रहते चतुर् शब्द को अन्तोदात्त विधान किया जाता है। 'चतुरः पश्य' प्रयोग में चतुर् शब्द घटक उकार को उदात्त होता है। इस सूत्र की प्रवृत्ति स्त्रीलिंग 'चतस्रः पश्य' प्रयोग में न हो, इसलिए निषेध विधान करना चाहिए? ऐसी आशंका होने पर वार्तिक द्वारा 'चतस्र' शब्द में आद्युदात्तत्व विधान दिखाकर निषेध को व्यर्थ बताया गया। 'आद्युदात्त निपातनं करिष्यते। **स निपातनस्वरः शसि स्वरस्यबाधको भविष्यति**। अर्थात् चतसृ आदेश में आद्युदात्तत्व का निपातन कर उसी निपातन स्वर से 'चतुरः शसि' सूत्र प्राप्त स्वर का बाध हो जायेगा। निषेध वचन व्यर्थ ही है। इस पर पुनः आशंका की गई कि कैसे 'शसृ' में प्राप्त स्वर का बाध आद्युदात्त-निपातन स्वर से होता है। उसी तरह 'चतसृणाम्' प्रयोग में 'षट्त्रिचतुर्भ्यो हलादिः' सूत्र प्राप्त विभत्युदात्त स्वर का भी बाध होने लगेगा। अतः विभक्ति स्वर के विषय में उपदेशिवद्भाव का विधान करना पड़ेगा ताकि उपदेशिवद्भाव द्वारा सति-शसृ विभक्त्युदात्त-स्वर से निपातन स्वर का बाध हो सके। इसी आक्षेप के समाधान में प्रस्तुत ज्ञापन का उपन्यास किया गया है—'**यदयं षट्त्रिचतुर्भ्यो हलादिरिरि हलादि ग्रहणं करोति तज्ज्ञापयत्याचार्यो न निपातनस्वरो विभक्तिस्वरं बाधते इति,** इसका भाव यह है कि 'चतसृ' में आद्युदात्तत्व निपातन करने पर 'षट्त्रिचतुर्भ्यो हलादिः' सूत्र में हलादिग्रहण व्यर्थ हो जायेगा क्योंकि इस सूत्र में हलादिग्रहण की सार्थकता प्रयोजक 'चतसृ' से अतिरिक्त कोई अन्य नहीं हो सकता है। षट् संज्ञक शब्द बहुवचनमात्र विषयक हैं जिनमें जस्, शस्, का तो लुक् हो जाता है। शेष सभी विभक्तियां हलादि ही हैं। 'त्रि' शब्द भी बहुवचनमात्र विषयक है। 'षट्-त्रिचतुर्भ्यः' सूत्र असर्वनाम स्थान विषयक होने से जस् विभक्ति में प्रवृत्त नहीं होगा। शस् विभक्ति में पूर्वसवर्णदीर्घैकादेश होने से 'एकादेश उदात्तेनोदात्तः' सूत्र से ही अन्तोदात्तत्व सिद्ध है। शेष सभी विभक्तियां हलादि ही हैं। तिसृ आदेश के लिए भी हलादि की सार्थकता नहीं ही है। यह शब्द भी बहुवचनमात्र विषयक है। जस् विभक्ति में सर्वनामस्थान होने के कारण 'षट्त्रिचतुर्भ्यः' सूत्र प्रवृत्त नहीं होगा। शस् विभक्ति में 'उदात्तयणोहल्पूर्वात्' सूत्र से ही अन्तोदात्तता सिद्ध हो जाती है। शेष विभक्तियां स्वयं ही हलादि हैं। चतुर् शब्द भी बहुवचनमात्र विषयक है। जिनमें जस् विभक्ति सर्वनामस्थान होने से इस सूत्र का विषय नहीं बन सकती है। शस् विभक्ति में 'चतुरः शसि' सूत्र को ही प्रवृत्ति होगी। शेष सभी विभक्तियां हलादि ही हैं। केवल 'चतसृ' आदेश को लेकर इस सूत्र हलादि ग्रहण की सार्थकता हो सकती है। 'चतस्रः पश्य' यहां केवल चतसृ शब्द से शस् विभक्ति असर्वनामस्थान अजादि विभक्ति है, जिसकी व्यावृत्ति के लिए इस सूत्र में हलादि ग्रहण सार्थक हो सकता है। यदि यहां भी निपातन स्वर से ही आद्युदात्तत्व स्वीकार करते हैं तो विभक्ति में हलादि विशेषण ग्रहण व्यर्थ ही हो जायेगा। इस तरह चतसृ शब्द आद्युदात्तत्व निपातन भी व्यर्थ ही है। यदि यह कहो कि निपातन न करने पर 'चतुरः शसि' सूत्र की प्रसक्ति हो जायेगी। तो यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि चतसृ+अस् इस अवस्था में 'अचिरऋतः' सूत्र स्वरायेक्षया होने पर प्रवृत्त हो जायेगा। रेफ आदेश होने जाने पर शसृ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से पूर्व उदात्तभावी स्वर के न होने से ही यह सूत्र प्रवृत्त नहीं होगा । यदि यह कहो कि रेफादेश से अवशिष्ट तकारोत्तर अकार ही शसृ पूर्व है तो यह भी संभव नहीं होगा क्यों कि **'अचः परस्मिन् पूर्वविधौ'** सूत्र से पूर्वविधि में रेफा देश के स्थानिवद्भाव हो जाने से तकारोत्तर अकार ऋकार से व्यवहित हो जायेगा। यदि कहो कि स्वर विधि में स्थानिवद्भाव का निषेध होता है तो वह निषेध यहां प्राप्त होगा क्यों कि **स्वरदीर्घयलोपेषु लोपाजादेश एव न स्थानि-वत्'** इस वचन से लोपाजादेश के ही स्थानिवद्भाव का निषेध होता है । यहां रेफादेश है, इसके स्थानिवद्भाव का निषेध नहीं ही होगा । **'चतस्रः पश्य' प्रयोग में 'चतेसरन्' उणादि सूत्र से 'उरन् | नित् प्रत्ययान्तत्वेन निष्पन्न आद्युदात्त चतुर शब्द के स्थान में विहित चतसृ भी आन्त-रतम्यात् आद्युदात्त ही है।**

११. भवत्यात्वे कृते षट्संज्ञेति।

'अष्टनो दीर्घात्' ६.१.७२ सूत्र से दीर्घग्रहण के प्रयोजन के लिए भाष्य में **'अष्ट सु प्रक्रमेषु ब्राह्मण आधीत'** यह वाक्य उपन्यस्त किया गया है। परन्तु 'अष्ट सु' प्रयोग में 'झल्यु-पोत्तमम्' सूत्र से विहित षट्-स्वर द्वारा यह सूत्र बाधित हो जाने के कारण जब प्रवृत्त ही नहीं होगा तो दीर्घाद्ग्रहण व्यर्थ होने से अकर्तव्य है। यह भी भाष्य मे कहा गया है । यदि यह कहो कि **येन नाप्राप्त न्यायेन** यह अष्टन्-स्वर षट् स्वर का बाधक हो जायेगा तो यह कहना ठीक नहीं है क्यों कि दीर्घ से परे षट् स्वर प्राप्त ही नहीं हो सकता है । 'अष्टन आ विभक्तौ' सूत्र से आत्व करने पर षट् संज्ञा नान्तत्वाभावात् प्राप्त ही नहीं होगी । इस तरह दीर्घान्त 'अष्टन्' में यह सूत्र चरितार्थ हो जाने से ह्रस्वान्त में षट् स्वर द्वारा बाधित हो जायेगा । अष्ट सु आदि प्रयोगों में कोई दोष नहीं होगा। इस सूत्र में दीर्घाद् ग्रहण व्यर्थ ही है । 'अष्टन आ विभक्तौ' से आत्व होने पर नान्तत्वाभावात् षट् संज्ञा नहीं होगी । किन्तु ह्रस्वान्त पक्ष में नलोप के असिद्ध होने से षट् संज्ञा निर्बाध ही है । इस तरह 'ष्टाभिः' आदि प्रयोगों में ही 'असृन्' स्वर विभक्त्युदात्तत्व प्राप्त होगा। ह्रस्वान्त पक्ष में षट् स्वर ही प्राप्त होगा । दीर्घाद् ग्रहण अकर्तव्य ही है । इसी आक्षेप के उत्तर में प्रस्ततु ज्ञापन का उपन्यास भाष्य में किया गया है। **अष्टनो दीर्घ ग्रहणं क्रियते । ज्ञापकार्थम् । किं ज्ञाप्यम् ? एत-ज्ज्ञापयत्याचार्यो भवत्यात्वे कृते षट् संज्ञेति।** भाव यह हुआ कि उक्त रीति से यही दीर्घ ग्रहण व्यर्थ होकर ज्ञापित कर रहा है कि आत्व करने पर भी षट् संज्ञा होती है। अतएव षष्ठी बहुवचन 'अष्टानाम्' प्रयोग में अष्टन्+आम् इस अवस्था में 'अष्टन आ विभक्तौ' सूत्र से आत्व करने पर भी षट् संज्ञा प्रयुक्त नुडागम की सिद्धि होती है । यदि कहो कि 'अष्टन आ विभक्तौ' सूत्र से आत्व नित्य होता है अतः ह्रस्वान्त पद न होने से कहीं अतिप्रसक्ति नहीं होगी । दीर्घ ग्रहण व्यर्थ ही है, तो ऐसी स्थिति में यही दीर्घग्रहण अन्यथानुपपत्या आत्व के वैकल्पिकत्व को भी ज्ञापित कर रहा है । अन्यथा 'अष्टनः' एतावन्मात्र ही सूत्र किया गया होता ।

इस प्रकार यही दीर्घ ग्रहण आत्व के वैकल्पिकत्व तथा कृतात्व की षट् संज्ञा दोनों का ज्ञापक हो रहा है। यही भाष्य का तात्पर्य है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

११. भवत्युकारेण भाव्यमानेन सवर्णानां ग्रहणम्

'तित्स्वरितम्' ६.१.१८५ सूत्र के भाष्य में **'तिति प्रत्यय ग्रहणं कर्तव्यम्'** वार्तिक द्वारा इस सूत्र में प्रत्यय ग्रहण की कर्तव्यता का आक्षेप किया गया है अन्यथा 'किरति, गिरति' प्रयोगों में कृ गृ धातु के स्थान में— 'ऋत इद् धातोः' सूत्र इदादेश करने पर स्वरित स्वर अतिप्रसक्त हो जायेगा। इस आक्षेप के समाधान में कहा गया कि 'ऋत इद् धातोः' सूत्र में इदादेश तपर नहीं है किन्तु 'दपर' है, इसलिए किरति, गिरति प्रयोगों में 'तित्स्वरितम्' की प्रसक्ति नहीं होगी। प्रत्ययग्रहण करना व्यर्थ है। यदि यह कहो कि इदादेश के दपर होने से 'तपरस्तत्कालस्य' नियम की प्रवृत्ति न ही होगी, किरति, गिरति प्रयोगों में आन्तरतम्यात् दीर्घ ईकारादेश प्राप्त होगा तो यह ठीक नहीं है क्यों कि **भाव्यभावेन सवर्णानां ग्रहणं न**—इस परिभाषा से यहां दीर्घादेश नहीं प्रसक्त हो सकता है। इस पर यह आशंका है कि यदि भाव्यमान से सवर्ण ग्रहण नहीं होता हैं तो 'अदसोऽसेर्दादुदोमः' सूत्र द्वारा 'अमूम्याम्' इत्यादि प्रयोग सिद्ध नहीं होंगे? इस आशंका के समाधान में प्रकृत ज्ञापन भाष्य में उपन्यस्त है— **एवं तर्हि आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति–भवत्युकारेण सवर्णानां ग्रहणम् इति। — यदयं दिव उत् इति उकारं तपरं करोति।** भाव यह है कि 'दिव उत्' सूत्र द्वारा जो तपर करणे न ह्रस्व उकार का विधान किया गया है, वहीं व्यर्थ होकर ज्ञापित कर रहा है कि भाव्यमान भी उकार सवर्ण का ग्राहक होता है। अन्यथा व्यंजन व् के स्थान में विधीयमान उकारादेश प्रमाणकृतान्तर्येण ह्रस्व ही होगा दीर्घ की प्रसक्ति ही नहीं है। पुनः दीर्घ व्यावृत्यर्थ किया गया तपरकषण व्यर्थ ही हो जाता। उक्त ज्ञापन स्वीकार करने पर 'द्युभ्याम्' प्रयोग में दिव्+भ्याम् इस अवस्था में च्छ्वोः' शूडनुनासिके च' सूत्र द्वारा वकार के स्थान में ऊठ् आदेश होने पर उसके स्थान में इस सूत्र से ह्रस्व उकार ही प्रवृति के निमित्त यह तपरकरण आवश्यक होकर स्वांश में चरितार्थ होता है। यह इस सूत्र के उद्योत में नागेश भट्ट ने स्पष्ट किया है।

१३. न लुप्तविकरणेभ्यो नुदात्तत्व भवति

'तास्यनुदात्तेन्ङिददुपदेशाल्लसार्वधातुकमुदात्ताह्न्विङोः' सूत्र के भाष्य में एक वार्तिक पढ़ा गया है-- **,अदिप्रभृति जुहोत्यादिभ्यः प्रतिषेधो वक्तव्यः'** इस वार्तिक द्वारा अदादि तथा जुहोत्यादि धातु से परे लसार्धधातुक के अनुदात्तत्व का प्रतिषेध विधान किया गया है। अभिप्राय यह है कि— 'अत्तः जुहुतः' प्रयोगों में अद् धातु से लट् के स्थान में तस् प्रत्यय होने पर शप् प्रत्यय का 'अदि प्रभृतिभ्यः शपः'—२/५ सूत्र से लुक् हो जाने पर भी शप् के अकारोपदेश होने के कारण तदुन्तर तस् प्रत्यय को अनुदात्तत्व इस सूत्र से प्राप्त है। उसका निषेध आवश्यक है। इसी तरह 'जुहुवः' प्रयोग में भी हु धातु से लट् लकाते तस् प्रत्यय में शप् प्रत्यय का 'जुहोत्यादिभ्यः श्घुः' से श्घु हो जाने पर द्वित्वादि के अनन्तर जुहु+तस् इस अवस्था में अकारोपदेश शम् को मान कर इस सूत्र से तस् प्रत्यय को अनुदात्तत्व प्राप्त है, उसका भी निषेध आवश्यक ही है। इस प्रकार निषेध की कर्तव्यता प्राप्त होने पर इसका निराकरण इस प्रकार किया गया

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कि निषेध विधान व्यर्थ है। क्योंकि यहाँ स्थानी तथा आदेश दोनों का अभाव हो जाने के कारण अनुपदेश से पर लसार्वधातुक न होने से इस सूत्र द्वारा अनुदात्तस्वर की प्रसक्ति ही नहीं है, निषेध विधान व्यर्थ है। यदि यह कहो कि स्थानिवद्भाव अथवा प्रत्यय लक्षण द्वारा शप् के अभाव में भी अदुपदेश बुद्धि हो सकती है तो यह कहना ठीक नहीं है क्यों कि अदुपदेशत्व वर्ण मात्र संबन्धी धर्महीन के कारण तदाश्रय कार्य में स्थानिवद्भाव का 'अनल्विधौ' द्वारा निषेध हो जाता है **'वर्णाश्रमे नास्ति प्रत्ययलक्षणम्'** परिभाषा द्वारा 'प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्' का भी निषेध होता है। अतः अतिप्रसक्ति की संभावना नहीं है। निषेध विधान व्यर्थ ही है। इस पर यह विचारणीय हैं कि यदि अदुपदेशत्व बुद्धि स्थानिवद्भावादि द्वारा नहीं हो सकती है तो 'पचावः पचामः' प्रयोगों में भी वस् मस् परे रहते 'अतोदीर्घोयञि' सूत्र से दीर्घ हो जाने पर **दीर्घ में अदुपदेश बुद्धि के अभाव से इस सूत्र द्वारा वस्, मस् को अनुदात्तत्व** नहीं होगा। यदि पचावः इत्यादि प्रयोगों में औपदेशिकाकार द्वारा अनुदात्तस्वर होता है, तो अत्तः, जुहुतः प्रयोगों में भी औपदेशिकाकारबुद्ध्या अनुदात्तस्वर को प्राप्ति होनी चाहिए। इसी आक्षेप को हृद्गत कर भाष्य में प्रकृत ज्ञापन का उपन्यास किया गया है— **अथवा यदयमनुदात्तङिद्ग्रहणं करोति तज्ज्ञापयत्याचार्यो न लुक्श्लुविकरणेभ्योऽनुदात्तत्वं भवति** इति। भाव यह है कि इस सूत्र में अनुदात्तेत् तथा ङित् का ग्रहण 'आस्ते' तथा 'शेते' प्रयोगों में लसार्वधातुक के अनुदात्तत्व विधानार्थ किया गया है। यदि लुगादि द्वारा शप् के अभाव में भी अदुपदेशबुद्ध्या लसार्वधातुक को अनुदात्तस्वर हो सकता तो आस्ते शेते प्रयोगों में भी अनुपदेश ग्रहण से ही अनुदात्त विधान हो जाता पृथक् जो अनुपदेश तथा ङीप् का ग्रहण इस सूत्र में किया गया है यही ज्ञापित कर रहा है कि लुक्, श्लु विकरणक धातुओं से परे लसार्वधातुक को अनुदात्त स्वर नहीं होता है। यद्यपि अनुदात्तेत् का ग्रहण श्नम्विकरणक धातु से परे 'विन्दाते', 'खिन्दाते' प्रयोगों में लसार्वधातुक के अनुदात्तस्वर विधानार्थ आवश्यक हो सकता है तथापि ङीप् ग्रहण इस अर्थ का ज्ञापक ही है प्रकृत ज्ञापन में कोई क्षति नहीं है। वस्तुतः **'विन्दीन्धिखिदिभ्यो नेति वक्तव्यम्'** वार्तिक से 'विन्दाते' आदि प्रयोगों में 'श्नम्' विकरणक अनुदात्तेत् धातु से परे अनुदात्तस्वर का निषेध विधान किया गया, है, **वार्तिकोक्त धातुश्रितयातिरिक्त अनुदात्तेत् धातु श्नम्विकरणक रूधादिगण में है ही नहीं।** अतः श्नम् विकरणार्थ अनुदात्तेद्ग्रहण है, यह कहना भी संभव नहीं है 'विन्दाते' आदि प्रयोगों में प्रत्ययाद्युदात्तत्व ही होगा। प्रकृत ज्ञापन सर्वथा निवद्य ही है।

१४. स्वरविधौ संघातः कार्यी भवति

श्रीह्रीभृहुमदजनधनदरिद्राजागरां प्रत्ययात्पूर्वं पिति' ६.१.१९२ सूत्र के भाष्य में एतत्सूत्रस्थ प्रत्यय ग्रहण की आवश्यकता पर आक्षेप किया किया है 'अथ प्रत्ययग्रहणं किमर्थम्' ? प्रश्न का भाव यह है कि श्रीप्रभृति धातु से परे प्रत्यय ही पित् संभावित है, पित् से ही प्रत्यय लब्ध होने से अभ्यस्त संज्ञक भी प्रभृति धातुओं को पित् लसार्वधातुक परे रहते प्रत्यय से पूर्व उदात्त होता है। इस अर्थ की सिद्धि हो जाती है प्रत्यय ग्रहण क्यों किया गया ? इसका समाधान किया गया कि प्रत्ययपूर्व को ही उदात्त हो अट् आगम से पूर्व उदात्त न हो, इस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लिए प्रत्यय ग्रहण किया गया है। इस पर यह विचार किया गया कि जब **'विभयानि'** आदि प्रयोगों में प्रत्यय पूर्व या आट् पूर्व में कोई विशेषता नहीं है तो प्रत्यय पूर्व कहना व्यर्थ ही है। दूसरी बात यह है कि 'आडुत्तमस्य पिच्च' सूत्र द्वारा उत्तमसंज्ञक प्रत्यय को ही पित्वविधान किया गया है न कि केवल आट् आगम मात्र को पित्व विहित है। वह आडागम भी पित् प्रत्यय का भाग होने से **'यदागमास्तद्गुणीभूतस्तद्ग्रहणेन गृह्यते'** परिभाषा द्वारा पिद्ग्रहण से गृहीत होगा। अतः 'विभभाव' इत्यादि प्रयोगों में भी स ट्कप्रत्यय पूर्व को उदात्त सिद्ध ही है अतः आडागम की व्यावृत्ति के लिए प्रत्ययग्रहण व्यर्थ ही है। यदि कहो कि प्रत्यय ग्रहण न करने पर पित् लसार्वधातुक परे रहते तत्पूर्व आडागम को ही आद्युदात्तत्व प्राप्त होने लगेगा अतः प्रत्यय ग्रहण करना चाहिए तो यह कहना बिलकुल ठीक नहीं है क्यों कि लोडादेश पित् को ही आडागम विहित होने से यह लोडादेश पित् का अवयव है, उससे पूर्व नहीं कहा जा सकता है। स्व में ही पौर्वापर्य व्यवहार सर्वथा अनुपपन्न है अतः इस सूत्र में प्रत्यय ग्रहण व्यर्थ ही है? इस आक्षेप पर इस प्रत्यय ग्रहण को ही प्रकृतार्थ का ज्ञापक स्वीकार कर इसकी सार्थकता बताई गई है— **एवं तर्हि सिद्धे सति यत्प्रत्ययग्रहणं करोति तज्ज्ञापयत्याचार्यः स्वरविधो संघातः कार्यो भवति'** इति। अर्थात् यही प्रत्यय ग्रहण ज्ञापित करता है कि स्वरविधि में समुदाय ही कार्यी होता है। इस तरह यदि प्रत्यय ग्रहण नहीं किया गया होता तो प्रत्ययाव्यवहित पूर्व संघात मात्र से उदात्तत्व की प्राप्ति होकर, पर्यायेव संघात घटक सभी अच् में उदात्तत्व प्रसक्त होने लगता। प्रत्यय ग्रहण करने पर तत्पूर्ववर्ती अच् मात्र को ही उदात्त होता है। अतः यह प्रत्यय ग्रहण ज्ञापकत्वेन आवश्यक ही सिद्ध हो गया। प्रकृत ज्ञापन का फल यह है कि 'आसीनः', 'शयानः' प्रयोगों में 'तास्यनुदात्तेद्दुपदेशाल्लासार्वधातुकमनुदात्तमह्निङ्वङोः' सूत्र द्वारा लसार्वधातुक समुदाय मात्र को अनुदात्तत्व प्राप्त होने से 'चित' सूत्र द्वारा प्राप्त अन्तोदात्तत्व के साथ विप्रतिषेध उपपन्न होता है। अतः विप्रतिषेध द्वारा चित् स्वर को बाध कर इन प्रयोगों में लसार्वधातुकानुदात्तत्व सिद्ध होता है। अन्यथा आदि में अनुदात्तत्व तथा अन्त में उदात्तत्व के संभव होने से असंभव मूलक विप्रतिषेध ही यहां उपपन्न नहीं हो सकता। अतः यह प्रकृत ज्ञापन सर्वथा आवश्यक तथा निरवद्य ही है।

१५. स्वरविधौ सप्तम्यस्तदन्तसप्तम्यः भवन्ति।

'भीह्रीभृहुमदजनधनदरिद्राजागरां प्रत्ययात्पूर्वं पिति'—६.१.१९२ सूत्र के भाष्य में यह विचार किया गया है कि **'तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य'** परिभाषा सूत्र से ही प्रत्ययपूर्वत्व का लाभ संभव है। पूर्व ग्रहण क्यों किया गया? उत्तर में इस पूर्व ग्रहण को प्रकृतार्थ ज्ञापकत्वेन सार्थक सिद्ध किया गया है— **एवं तर्हि सिद्धे सति यत्पूर्वग्रहणं करोति तज्ज्ञापयत्याचार्यः 'स्वरविधौ सप्तम्यरदन्तसप्तम्यो भवन्ति इति।** अर्थात् यही पूर्वग्रहण उक्त रीत्या व्यर्थ होकर ज्ञापित कर रहा है कि स्वर विधि में सप्तमी से निर्दिष्ट पद तदन्त का बोधक होती है। ऐसी स्थिति में यदि पूर्व ग्रहण नहीं करते तो यहां भी प्रभृति धातु विहित पित्प्रत्ययान्त को ही उदात्तत्व प्रसक्त होता। इस प्रकार सभी अच् को पर्यायेण उदात्तत्व की प्रसक्ति होने लगती। पूर्वग्रहण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करने से प्रत्यय पूर्व को ही उदात्त विधान होता है। इसलिए पूर्व ग्रहण उत्तरार्थ ज्ञापकत्वेन आवश्यक है। इस ज्ञापन का यह फल होता है कि 'उपोत्तमं रिति ६.१.११७ इत्यादि सूत्र स्थल में रिदन्त के ही उपोत्तम का उदात्त स्वर होता है 'रित् प्रत्यय परे रहते उपोत्तम को नहीं होता है। 'करणीयम्'—आदि प्रयोगों में रित् अनीयर् प्रत्ययान्त के उपोत्तम् को ही उदात्तत्व इष्ट है। रि–प्रत्यय परे रहते उपोत्तम को उदात्त हो ऐसी व्याख्या करने पर 'करणीयम्' आदि प्रयोगों में उदात्त की सिद्धि ही नहीं होगी। क्यों कि **त्र्यादीनामन्तमुत्तमम्। तत्समीपमुपोत्तमम्** इस प्रसिद्धि के अनुसार यहां रित्प्रत्यय परे रहते उपोत्तम ही असंभव होगा। अतः यह ज्ञापन आवश्यक है। यदि कहो कि इस तरह 'चतुरः शसि' सूत्र द्वारा भी शसन्त के अन्तोदात्तत्व का विधान होने लगेगा तो यह संभव नहीं है क्योंकि 'चतुरः शसि' सूत्र में 'शस्' ग्रहण सामर्थ्यादिव तदन्तग्रहण नहीं होगा। यहां तदन्त विधि करने पर शस् को ही उदात्तता प्राप्त होती है। यदि शस् को ही उदात्त करना होता तो 'अडिदंपदाद्यप्पुम्रै-प्रथमश्चतुर्भ्यश्च— इस तरह असर्वना मस्थानविभक्ति इत्युदात्तत्वं विधायक सूत्रों के साथ ही पढ़ देते। पृथक् 'चतुर शसि' सूत्र करना ही व्यर्थ हो जाता। इसलिए यहाँ शस्ग्रहण सामर्थ्यादिव तदन्तविधि नहीं होगा। प्रकृत ज्ञापन में कोई दोष नहीं है।

१६. तत्र सिद्धं तद्भवति व्यञ्जनादेर्व्यञ्जनान्ताच्च इति

'समासस्य' ६.१.१२३ सूत्र के भाष्य में **'हल्स्वरप्राप्तौ व्यंजनमविद्यमानवद्भवति'** परिभाषा का उपन्यास किया गया है। इसका प्रयोजन लित्स्वर आद्युदात्त तथा अन्तोदात्त के विषय में बताया गया है। भाव यह है कि यदि हल् की स्वर प्राप्ति में उसे अविद्यमानवत् न किया जायेगा तो 'लिति', सूत्र से लित् प्रत्यय पूर्व को जो उदात्त विधान होता है, वह भौरिकि विधम् आदि प्रयोगों में ही होगा। क्योंकि **भौरुकीणां विषयोदेशः** इस विग्रह में **भौरुक्याषुकार्यादिभ्यो विचल्भक्तलौ सूत्र** द्वारा भौरिकि शब्द से 'विधल्' प्रत्यय होने पर यहां लित् प्रत्यय विध से भौरिकि घटक ककारोत्तर इ अच् है। चिकीर्षकः 'जिहीर्षकः' प्रयोगों में चिकीर्ष सन्नन्त धातु से परे ण्वुल प्रत्यय में 'अतो लोपः' सूत्र से षकारोत्तर अकार का लोप होने पर लित् प्रत्यय अक से पूर्व 'ष' है जो अच् नहीं है, अतः यहां उदात्त स्वर नहीं होगा। क्यों कि अच् की ही उदात्त संज्ञा 'उच्चैरुदात्तः' सूत्र से होती है। ककारोत्तर जो ई स्वर है वह लित्प्रत्यय से अव्यवहित पूर्व नहीं है। किन्तु षकार से व्यवहित है। इसी तरह **अहिचुम्बकायनिः** प्रयोग में अहिचुम्बक शब्द से अपत्यर्थ में **'प्राचामवृद्धात्फिन बहुलम्'** सूत्र से फिन् प्रत्यय में 'त्रियादिर्नित्यम्' सूत्र से 'आयच्' को उदात्त होगा। आग्निवेश्यः प्रयोग में भी 'आग्निवेशः' शब्द से 'गर्गादिभ्यो यञ्' सूत्र से यञ् प्रत्यय होने पर 'अयच्' को उदात्त हो जायेगा। किन्तु गर्ग शब्द से यञ् प्रत्यय में 'गार्ग्यः' प्रयोग में 'आद्यच्' न होने से उदात्त नहीं होगा। कृ धातु से क्तिन् प्रत्यय में कृतिः प्रयोग में भी आद्युदात्त नहीं होगा। ऊर्णुः धातु से लट् प्रथमैकवचन ऊर्णोति में तो 'धातोः' सूत्र से अन्तोदात्त होगा। किन्तु पच् धातु के पचति प्रयोग में धात्वन्त अच् न होने से अन्तोदात्त नहीं होगा 'हल्स्वरप्राप्तौ व्यञ्जन-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मविद्यमानवत्' परिभाषा स्वीकार करने पर 'गार्ग्यः कृतिः पचति' इन प्रयोगों में भी अपेक्षित स्वर सिद्ध हो जायेगा। यदि यह कहो कि हल् के स्थान में स्वर प्राप्त ही कैसे होगा। क्यों कि अच् की ही उदात्तादिसंज्ञा होती है। तो ऐसी स्थिति में उच्चैरुदात्तः आदि सूत्रों 'अचश्च' सूत्र से षष्ठीनिर्दिष्ट अच् की अनुवृत्ति नहीं करेंगे, इससे हल् को भी स्वरप्राप्ति हो सकती है। यदि हल् की स्वर प्राप्ति मात्र में व्यञ्जन अविद्यमानवत् होगा तो दधि शब्द में 'उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः' सूत्र से यकार के व्यवधान होने होने पर इकार को स्वरित नहीं होगा। दधि शब्द 'नब्विषयस्यानिसन्तस्य' सूत्र से आद्युदात्त है। ऐसी शंका नहीं की जा सकती है क्यों कि अनुदात्त शब्द का यहां पारिभाषिक अर्थ है अविद्यमानोदात्तक समुदाय को अनुदात्त कहा गया है। यहां भी दधिघटक धि समुदाय अविद्यमानोदात्तक होने से उसमें स्वरित की की प्राप्ति होती है। इस पर पुनः यह शका की गई कि स्वर प्राप्ति में ही यदि व्यंजन अविद्यमानवत् होगा तो अनुदात्तादि अथवा अन्तोदात्त शब्द से पर जो कार्य विहित है, वे व्यंजनादि अथवा व्यंजनान्त शब्द से नहीं होंगे। 'कपोतानां समूहः कपोतम्' मयूराणां समूहः मायूरम् प्रयोगों में 'अनुदात्तादिर रञ्' सूत्र से अञ् प्रत्यय होता है। ऐसे प्रयोग नहीं सिद्ध होंगे? इसी शंका के समाधान में प्रकृत ज्ञापन का उपन्यास किया गया। ' आचार्य प्रवृत्तिर्ज्ञापयति तत्र सिद्धं तद्भवति व्यंजनादेर्व्यंजनान्ताच्च' इति यदयं नोत्तरपदेऽनुदात्तादावित्युक्त्वा अपृथिवीरुद्रपूषमन्थिन्विति प्रतिषेध शास्ति। भाव यह है कि 'उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः' सूत्र का निषेधक 'नोत्तरपदे अनुदात्तादावपृथिवीरुद्रपूषमन्थिषु'—सूत्र से अनुदात्तादि उत्तरपद परे रहते स्वरितत्व का निषेध किया गया है। वहां जो अनुदात्तादि उत्तर पद में पृथिवी आदि शब्दों का निषेध किया गया है यही ज्ञापित कर रहा है कि व्यंजनादि, व्यंजनान्त शब्दों में भी अनुदात्तादि अन्तोदात्तादि प्रयुक्त कार्य होता ही है। अन्यथा व्यंजनादि पृथिवी आदि शब्दों को अनुदात्तादि व्यवहार ही नहीं होता। पुनः पृथिवी आदि शब्दों का निषेध व्यर्थ ही हो जायेगा? इसी ज्ञापन के आधार पर 'स्वरविधौ व्यंजनमविद्यमानवत्' यह वचन भी पढ़ा जाता है। स्वरोद्देश्यक विधि में भी व्यंजन अविद्यमानवत् होता है। यही इस ज्ञापन का तात्पर्य है।

१७. न पर्यायो भवति इति।

'बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम्' ६.२.१ सूत्र के भाष्य में एक वार्तिक पढ़ा गया है—'बहुव्रीहावृते सिद्धम्'। इस वार्तिक का अभिप्राय यह है कि इस सूत्र में बहुव्रीहि ग्रहण न करने पर भी बहुव्रीहि में पूर्वपद प्रकृति स्वर सिद्ध होता है। बहुव्रीहि ग्रहण अनावश्यक ही है। यदि कहो बहुव्रीहिग्रहण के बिना तत्पुरुष में भी पूर्व पद प्रकृतिस्वर होने लगेगा तो ऐसा नहीं होगा क्योंकि 'तत्पुरुषे तुल्यार्थ तृतीयासप्तम्युपमानाव्यय द्वितीया कृत्याः'—सूत्र इस तरह व्यर्थ होकर 'सिद्धे सत्यारम्यमाणो विधि नियमाय भवति'—इस न्याय से नियम करेगा कि यदि तत्पुरुष समास में पूर्वपद प्रकृति स्वर हो, तो तुल्यार्थादि घटित तत्पुरुष में ही हो। अन्यत्र न हो। इसी तरह 'इगन्तकालकपालभगालशरावेषु द्विगौ' सूत्र तत्पुरुष विशेष द्विगुसमास में भी नियम करेगा कि यदि द्विगु समास में पूर्वपदप्रकृतिस्वर हो तो इगन्ताद्युत्तर पदक द्विगु में अन्यत्र न

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हो द्वन्द्व समास में भी 'राजन्यबहुवचन द्वन्द्वेन्धक वृष्णिषु' ६.२.३४ सूत्र नियम करेगा कि अन्धक-वृष्णि, वंशीय, राजन्य वाची बहुवचनान्त शब्दों के द्वन्द्व में ही पूर्वपद प्रकृति स्वर हो अन्यत्र न हो। 'परिप्रत्युपापावर्ज्यमानाहोरात्रावयवेषु' सूत्र अव्ययीभाव समास में नियम करेगा कि वर्ज्य-मानवाची, अहोरात्रावयव वाची उत्तरपद परे रहते परि-प्रति, उप, अप, अव्यय को ही प्रकृति स्वर हो, अन्यत्र न हो। इस तरह कहीं अति प्रसक्ति नहीं होगी परिशेषात् बहुव्रीहि समास में ही साधारणयेन पूर्वपद प्रकृति स्वर प्राप्त होगा 'बहुव्रीवें प्रकृत्या पूर्वपदम्' सूत्र में बहु-व्रीहि ग्रहण व्यर्थ ही है। यदि यह कहो कि जैसा नियम किया है, उसके विपरीत भी नियम किया जा सकता है कि तुल्यार्थादि शब्दों का यदि प्रकृति स्वर हो तो तत्पुरुषादि तत्तत्समासों में ही हो, अन्यत्र न हो। इस प्रकार 'तुल्यंधन:' इत्यादि बहुव्रीहि में तुल्यादि शब्दों में प्रकृति-स्वर नहीं प्राप्त होगा तो यह ठीक नहीं है क्योंकि इष्ट सिद्धि के अनुसार ही नियम किया जाता है अत: अनिष्ट प्रसंग नहीं होगा - पुन: यह आशंका होती है कि यदि बहुव्रीहि ग्रहण नहीं करेंगे तो जहां'जहां तत्पुरुषादि में तथा परिशेष न्यायेन पूर्वपद प्रकृति स्वर का विधान है वहां-वहां समासान्तोदात्तत्व भी प्राप्त है। इस प्रकार 'समासस्य' 'बहुव्रीहौ तथा प्रकृत्या पूवपदम्' दोनों सूत्रों का समान विषयता होने के कारण 'अनुदात्तं पदमेकवर्जम्' ६.१.१५८ इस परिभाषा से परस्पर विरुद्धत्वेन इन दोनों स्वरों में पर्यायतापत्ति होने लगेगी। इसी पर्यायतापत्ति की आशंका के समाधान में प्रकृत ज्ञापन का उपन्यास किया गया है—'यदयं द्वित्रिभ्यां यद्दन्मूर्धसु बहुव्रीहौ'— ६.२.१९८१ दिष्टिवितस्त्योश्चेति ६.१.३१—सिद्धे पर्याये शास्ति तज्ज्ञापयत्याचार्यो न पर्यायो भवति इति। भाव यह है यदि इस प्रकार तत्पुरुषादि संबन्धी तथा बहुव्रीहि संबन्धी पूर्वपदप्रकृति स्वर का समासान्तोदात्तस्वर के साथ पर्यायता हो सकती तो 'द्वित्रिभ्यां पाद्दन्मू-र्धसु बहुव्रीहौ' ६.२.१९७ सूत्र द्वारा अन्तोदात्तत्व का वैकल्पिक विधान व्यर्थ हो जाता तथा 'दिष्टिवितस्त्योश्च' ६.२.३१ सूत्र द्वारा पूर्वपद प्रकृतिस्वर का वैकल्पिक विधान भी व्यर्थ होता पूर्वोक्त रीति से पर्याय सिद्ध होने पर भी जो इन सूत्रों से विकल्प द्वारा षदार्थ का विधान किया गया है वह ज्ञापित कर रहा है कि पूर्वपद प्रकृति स्वर तथा समासान्तोदात्त स्वर में पर्याय नहीं होता है। इस तरह प्रकृत ज्ञापन को स्वीकार करने से किसी तरह के दोष की संभावना नहीं होगी। बहुव्रीहिग्रहण व्यर्थ है। इस प्रकार 'बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदं' सूत्र में बहुव्रीहिग्रहण का प्रत्याख्यान भाष्य में कर दिया गया है।

१८. कृद्ग्रहणे गतिकारकपूर्वस्यापिग्रहणम्।

'गतिरनन्तर:' ६.२.४९ सूत्र में अनन्तर ग्रहण का प्रयोजन 'अभ्युद्धृतम्' प्रयोग में उद्धृत शब्द के साथ 'अभि' शब्द का 'कुगतिप्रादय:' सूत्र से समास हो जाने पर व्यर्थ उद्धत शब्द परे रहते अभि शब्द के प्रकृतिस्वर की व्यावृत्ति बताई गई है— **'अनन्तर इति किमर्थम्? इह माभूत् अभ्युद्धृतम् उपसमाहृतम्'** अनन्तर ग्रहण करने पर अभ्युद्धृतम् प्रयोग में 'कर्म क्तान्त हृत' शब्द से अव्यवहित पूर्व अभि शब्द नहीं है। अत: यहां प्रकृति स्वर की प्रसक्ति नहीं हुई। 'हृत' शब्द से अव्यवहित पूर्व गति उद् शब्द का ही प्रकृतिस्वर उदात्त निष्पन्न हुआ। यदि यह कहो कि अनन्तर ग्रहण करने पर भी क्तान्त उद्धृत शब्द परे रहते उससे अव्यवहित

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पूर्व अभि शब्द का प्रकृति स्वर प्राप्त ही है तो ऐसी स्थिति में अनन्तर ग्रहण सामर्थ्यात् धात्वव्यवहितपूर्व गति का ही आश्रय लेने से कोई दोष नहीं होता है। यदि कहो कि प्रथमतः क्तान्त हृत शब्द का उद् शब्द के साथ समास होता है। तदनन्तर उद्धृत शब्द का अभि शब्द के समास होने पर परत्वात् 'गतिर्गतौ' सूत्र से अभिशब्द को निघात ही होगा प्रकृति स्वर की प्रसक्ति ही नहीं होगी अनन्तर ग्रहण व्यर्थ ही है तो यह कहना ठीक नहीं है। उद्धृत शब्द के साथ अभिशब्द का समास होने के बाद समासान्तर प्रयुक्त 'थाथघञ्क्ताजवित्रकाणम्' सूत्र से इस प्रयोग में अन्तोदात्तत्व की प्रसक्ति होने लगेगी। प्रकृति स्वर विधायक सूत्र एक गतिघटित प्रकृतम्, प्रहृतम् प्रयोगों में ही प्रकृतिस्वर का विधान कर के चरितार्थ हो सकता है। समासान्तर होने पर सतिशिष्ट न्यायेन क्तान्त प्रयुक्तान्तोदात्तत्व की प्रसक्ति होगी ही इसलिए 'गतिरनन्तरः' इस सूत्र में अनन्तर ग्रहण किया गया है। अनन्तर ग्रहण करने पर समासान्तर प्रयुक्त 'थाथादिस्वर' का भी बाध अनन्तर ग्रहण सामर्थ्येन करते हैं। भाव यह है कि जिस प्रयोग में एक ही गति संज्ञक शब्द है, जैसे प्रकृतम्, आदि उन प्रयोगों के लिए अनन्तरग्रहण सर्वथा व्यर्थ ही है। अतः अनेकगतिघटित अभ्युद्धृतम्, उपसमाहृतम् आदि प्रयोगों में समासान्तर प्रयुक्त थाथादिस्वर विषय तथा अप्राप्त भी गतिस्वर की प्राप्ति अनन्तर ग्रहण से करते हैं। 'गतिरनन्तर' सूत्र में योग विभाग कर 'अनन्तरः' इस योग द्वारा पुनः प्रकृति-स्वर के विधान से अभ्युद्धृतम् आदि प्रयोगों में 'सतिशिष्ट' न्यायेन समासान्तर प्रयुक्त भी थाथादिस्वर का बाध हो जाता है। यदि यह कहो कि उद्धृत शब्द के साथ अभिशब्द का समास होने पर उद् शब्द में पूर्वपदत्वाभाव होने पर भी प्रकृति स्वर द्वारा उद् शब्द के उदात्तोत्व की सिद्धि के लिए अनन्तरग्रहण आवश्यक है, अभि शब्द के प्रकृति स्वर की व्यावृत्ति के लिए अनन्तर ग्रहण सामर्थ्यकल्पना करना व्यर्थ है, तो यह कहना ठीक नहीं है, क्यों कि **'कारकाद्दत्तश्रुतयोरेवाशिषि'** सूत्र में **'कारकात्'** का योग-विभाग तथा वहां गतिग्रहण की अनुवृत्ति कर के कारक से ही परे गतिपूर्वपदकक्रतान्त को अन्तोदात्त स्वर होता है— ऐसा नियम स्वीकार करने से यहां थाथादिस्वर की की प्राप्ति नहीं होती किन्तु 'गतिकारकोप-पदात् कृति' सूत्र से अभि से परे कृदन्तोत्तरपद प्रकृतिस्वर द्वारा ही उद् शब्द के उदात्तत्व की सिद्धि हो जायेगी। उद् शब्द के उदात्तत्व के लिए अनन्तर ग्रहण व्यर्थ ही है। इस प्रकार व्यवहित गति आदि के प्रकृतिस्वर की व्यावृत्ति ही इस अनन्तर ग्रहण का प्रयोजन हो सकता है। इस पर यह आशंका हो सकती है कि 'प्रत्ययग्रहण परिभाषया' उद्धृत शब्द में तान्तत्व ही संभव नहीं है, उसके परे रहते अभि शब्द को प्रकृति स्वर भी प्राप्त नहीं है। उसकी व्यावृत्ति के लिए अनन्तर ग्रहण फिर भी व्यर्थ है। इस आशंका की भी व्यावृत्ति के लिए प्रकृत ज्ञापन का उपन्यास किया गया है— **एवं तर्हि सिद्धे सति यदनन्तर ग्रहणं करोति तज्ज्ञापयत्याचार्योभवत्येषा परिभाषा— 'कृद्ग्रहणे गतिकारकपूर्वस्यादपि ग्रहणम्' इति** । भाव यह है कि अनन्तर ग्रहण अन्यथा व्यर्थ होकर ज्ञापित कर रहा है कि कृदन्त के ग्रहण से गति अथवा कारकपूर्व कृदन्त का भी ग्रहण होता है। अतएव **'अवतप्ते नकुलस्थितम्'** इत्यादि प्रयोगों में अवतप्त ङि नकुलस्थित+सु इस अवस्था में 'क्षेपे' २.१ सूत्र से क्तान्त के साथ सप्तम्यन्त

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का समास सिद्ध हुआ है । यद्यपि 'गतिरनन्तरः' सूत्र में 'अनन्तर' ग्रहण गति के विषय में ही ज्ञापक हो रहा है तथापि पूर्वाचार्य पठित यह परिभाषा अनन्तर ग्रहण से एकादेशानुमत्या सम्पूर्ण अंक में ज्ञापित हैं । यह परिभाषा परिभाषेन्दुशेखर में भी व्याख्यात है ।

१९. न कृत्स्वरो हारिस्वर बाधते

'अनियन्तोऽवता व प्रत्यये' ६.२.५२ सूत्र के भाष्य में स्वरों के बाध्यबाधकभाव के विचार के प्रसंग में एक वार्तिक' चितचराद्धारिस्वरः' है । इसका अभिप्राय यह है कि किसी प्रयोग में युगपत् स्वरों की प्राप्ति होने पर 'चितः' ६.१.१६३ सूत्र द्वारा प्राप्त अन्तोदात्त को पर-विप्रतिषेध बलात् बांध कर 'सप्तमीहारिणौ धर्म्ये हरणे' ६.१.६५ सूत्र विहित पूर्व पदाद्युदात्त स्वर ही होता है । 'चलनः' चोयनः प्रयोगों में **'चलनशब्दार्थादकर्मकाद् युच्'** सूत्र से युच् प्रत्यय होने पर 'चितः' सूत्र सावकाश है । **याज्ञिकाश्वः वैयाकरणहस्ती** आदि प्रयोगों में **'याज्ञिकाय देयो श्वः' वैयाकरणाय देयो हस्ती** अर्थ की विवक्षा से 'याज्ञिकस्य अश्वः' वैयाकरणस्य हस्ती विग्रह में षष्ठी समास करने पर 'सप्तमी हारिणौ धर्म्ये हरण' सूत्र सावकाश है । 'पितृगवः, मातृगवः' प्रयोगों में समासान्त 'टच्' प्रत्यय होने पर चित्वेन अन्तोदात्त प्राप्त है । धर्म्यं नियम देय परे रहते हारी देय ग्राही पूर्वपदक समास होने से हारिस्वर भी प्राप्त है । दोनों की प्राप्ति में पर विप्रतिषेधेन हारिस्वर ही हुआ है । जिस तरह चित्स्वरापेक्षया हारिस्वर लगवान् है उसी तरह कृत्स्वरापेक्षया भी हारिस्वर को बलवान् वोधन करने के लिए 'कृत्स्वराच्च' भी एक वार्तिक पढ़ा गया है । इसका अभिप्राय यह है कि जिन प्रयोगों में 'गतिकारकोपदात् कृत्' ६.२.१३९ सूत्र से कृदन्त त्व प्रयुक्त प्रकृति स्वर प्राप्त हो, तथा हारिस्वर भी प्राप्त हो वहां कृत्स्वरापेक्षया पूर्वविप्रतिषेध से हारिस्वर ही बलवान् होता है ।

अतः 'इध्म व्रश्चनः'— 'पलाश शातनः' प्रयोगों में कृत्स्वर सावकाश है । ,याप्काश्वः' आदि प्रयोगों में हारिस्वर भी सावकाश है । 'वाडवशर्मः' आदि प्रयोगों में कृत्स्वर तथा हारिस्वर दोनों प्राप्त है यहां भी पूर्व विप्रतिषेधेन इष्टिवशात् हारिस्वर ही होता है वाडव शब्द का अर्थ बीजाश्व है । वडवा में बीज निषेक के अनन्तर शरीरपुष्टि के निमित्त दीयमान जो वस्तु उसे हार्य तथा हरण करते हैं । इस प्रकार वाडव द्वारा ह्रियमाया अर्थ की विवक्षा से 'वाडवेन वाडवस्य का हार्यम्' 'विग्रह में समास करने के कृत्स्वर को बांधकर पूर्वपदाद्युदात्त हारिस्वर ही किया गया । यहां जो पूर्व विप्रतिषेधबल से हारिस्वर को बलवान् बताया गया है उसी के विकल्प में कृत्स्वर में जो परत्वेन हारिस्वर बाधकत्व प्राप्त था उसका अभाव 'अहरणे' इस प्रतिषेध द्वारा ज्ञापित किया गया— **'हरण प्रतिषेधो ज्ञापकः कृत्स्वरापवादस्य । यदयमहरण इति प्रतिषेधं शास्ति तज्ज्ञापयत्याचार्यो न कृत्स्वरो हारिस्वर' बाधत इति** । भाव यह है कि जो हरण परे रहते हारिस्वर के प्रतिषेध के लिए 'सप्तमी हारिणो धर्म्येऽहरणे' सूत्र में 'अहरणे' पढ़ा गया है वही व्यर्थ होकर ज्ञापन करता है कि कृत्स्वर हारिस्वर का बाध नहीं कर सकता है । अन्यथा 'वाडवहरणम्' प्रयोग में कृत्स्वर द्वारा ही हारिस्वर बाधित हो जाता, अहरणे, प्रतिषेध व्यर्थ ही था । कृत्स्वर से हारिस्वर के बाध का आभव ज्ञापित हो जाने से **'वा**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वहार्यम्' प्रयोग में हारिस्वर ही सिद्ध हुआ । 'वाडव हरणम्' प्रयोग में हारिस्वर का प्रतिषेध हो जाने पर कृत्स्वर कृदन्त प्रकृतिस्वर प्राप्त था, तदपवादभूत 'अनोभावकर्मवचनः' ६.२.१५० सूत्र द्वारा अन्तोदात्त हुआ है। इस तरह वाडवहार्यम् आदि प्रयोगों में इस स्वर सिद्धयर्थ पूर्वविप्रतिषेध का आश्रयण करना उचित नहीं है। यही भाष्य का तात्पर्य है।

२०. नोत्तरपदस्यान्त उदात्तो भवति ।

'अन्त' ६.२.१४३ सूत्र के भाष्य में यह विचार प्रस्तुत हुआ कि 'अन्तः' इस अधिकार द्वारा समास के अन्तोदात्तत्व का विधान है अथवा उत्तरपद के । यहाँ दोनों ही प्रकृत हैं उनमें अन्तोदात्तत्व के लिए किसी एक का निश्चय करना आवश्यक है किन्तु दोनों पक्षों में दोष दृष्टिगोचर हो रहा है। यदि समास के अन्तोदात्तत्व का विधान करते हैं तो बहुव्रीहि 'विदमतत्तद्भ्यः प्रथमपूरणयोः क्रियागणने' ६.२.१६२ सूत्र में 'किति च' सूत्र यह भी पढ़ना होगा। 'इदंप्रथमकाः' प्रयोग में 'इदं प्रथमं येषा ते' इस विग्रह में बहुव्रीहि समास करने पर मकारोत्तर अकार में उदात्तता इष्ट है किन्तु समासान्त 'कप्' प्रत्यय को ही समासान्तत्वेन उदात्तता प्राप्त होगी, 'कपि च' ऐसा कहने पर कप् प्रत्यय परह रहते भी तत्पूर्व मकारोत्तर अकार को ही उदात्तता सिद्ध होती है। यदि उत्तर पद के अन्तोदात्तत्व का इस अधिकार द्वारा विधान किया जाता है तो 'अनृचः' 'बह्वृचः' प्रयोगों में बहुव्रीहि समास में ऋक्पूरब्धूः पथामानसे' सूत्र द्वारा समासान्त प्रत्यय होने पर समासान्तोदात्तत्व के लिए 'नञ् सुभ्याम्' ६.२.१७२ सूत्र में 'नञ्सुभ्यां समासान्तोदात्तत्वं वक्तव्यम्' यह पढ़ना पड़ेगा। 'अज्ञकः' 'अस्वकः' 'अविद्यमानः ज्ञः यस्य सः—'अविद्यमानं स्वं यस्य सः' इस विग्रह में बहुव्रीहि समास करने पर जब 'कपि पूर्वम्' ६.२.१७३ सूत्र का अपवादभूत 'ह्रस्वान्तेऽन्त्यात्पूर्वम्' सूत्र की भी प्राप्ति उदात्तभावी अन्त्यात्पूर्व के अभाव में नहीं होगा तो 'नञ् सुभ्याम्' सूत्र से उत्तरपदान्तोदात्तता ही प्रसक्ति होगी, 'कप्' की उदात्तता जो इष्ट है वह नहीं सिद्ध होगी। यदि कहो कि 'ह्रस्वान्ते न्त्यात्पूर्वम्' सूत्र अन्त्य से पूर्व उदात्तभावी अच् के होने पर ही अव्रीहिकः आदि प्रयोगों में 'कपि पूर्वम्' सूत्र का अपवाद होगा। 'अज्ञकः' इत्यादि प्रयोगों में अन्त्यपूर्व उदात्तभावी अच् के अभाव में 'ह्रस्वान्ते न्त्यात्पूर्वम्' सूत्र कैसे अपवाद हो सकेगा। तो यह कहना संभव नहीं है क्योंकि 'ह्रस्वान्ते न्त्यात्पूर्वम्' सूत्र में 'कपिपूर्वम्' सूत्र से ही पूर्वग्रहण अनुवृत्त हो जाता, पुनः जो पूर्वग्रहण किया गया है वही नियम करता है कि ह्रस्वान्त उत्तर पदमें अन्त्य से पूर्व को ही उदात्तता होती है। 'कप्' प्रत्यय से पूर्व को उदात्तता नहीं होती है। इस तरह 'अज्ञकः' इत्यादि प्रयोगों में 'कपि पूर्वम्' सूत्र की ही प्रवृत्ति होने से समासान्त 'कप्' प्रत्यय की उदात्तता सिद्ध नहीं ही होगी। इस प्रकार दोनों पक्षों में दोष का अभिधान कर के ज्ञापन द्वारा समास के अन्तोदात्तत्व का प्रतिपादन करने के लिए प्रस्तुत ज्ञापन का उपन्यास किया गया है— यदयं 'कपि पूर्वमित्याह तज्ज्ञापयत्याचार्यो नोत्तरपदस्यान्त उदात्तो भवतीति इति। भाव यह है कि 'अकुमारीकः' इत्यादि प्रयोगों में 'कप्' से पूर्व को उदात्तस्वर विधानार्थ 'कपि पूर्वम्' सूत्र किया गया है। यदि 'न सुभ्याम्' सूत्र द्वारा उत्तर पद को अन्तोदात्त विधान किया जाता तो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसी से अकुमारीकः आदि प्रयोगों में यह इष्ट सिद्धि हो जाती। 'कपि पूर्वम्' सूत्र नहीं करना चाहिए था। फिर भी जो यह सूत्र किया गया यह प्रतीत कर रहा है कि उत्तर पद के अन्त को उदात्त नहीं होता है। 'नञ्सुभ्याम्' सूत्र का अर्थ यह है कि ना तथा सु परे जो उत्तर पद तदन्त समास का अन्तोदात्त होता है। इस तरह 'अजकः' इत्यादि प्रयोगों में कोई दोष नहीं होगा 'समासस्य' सूत्र से प्रकृतत्वात् समास ग्रहण का ही यहां अनुवर्तन समझना चाहिए। 'उत्तर-पदादिः' सूत्र में उत्तर पद भी प्रकृत है, इसलिए 'बहुव्रीहाविदयेतत्तद्भ्यः प्रथम पूरणयोः क्रिया गणने' सूत्र में 'उत्तरपद' का भी संबन्ध होने से **'इदं प्रथमकाः'** आदि प्रयोगों में भी कोई दोष नहीं होगा। प्रकृत सर्वथा निरवद्य तथा आवश्यक है।

२१. विभाषा समासान्तो भवति इति

'द्वित्रिभ्यां पान्मूर्धसु बहुव्रीहौ' ३.२.१२७ सूत्र के भाष्य में संशय किया गया है कि इस सूत्र में 'मूर्धन्' शब्द अकारान्त गृहीत है अथवा नकारान्त गृहीत है। यद्यपि ऊकारान्त निर्देश में 'मूर्धेषु' प्रयोग होना चाहिए था इसलिए यहां संशय अनुपपन्न है तथापि यह संशय कार्पिमेकाभिप्रायेण संभव है। यदि समास के अन्त को उदात्त विहित है तथा समासान्त प्रत्यय नित्य है तो इस पक्ष में अकारान्त ग्रहण होना चाहिए। यदि उत्तर पद के अन्त की उदात्तता का पक्ष है तो समासान्त प्रत्यय होने पर भी समासान्त प्रत्यय उत्तर पद से वहिर्भूत होने के कारण नकारान्त को ही स्वर विधान इस पक्ष में होगा।

अतः संशय यहां उपपन्न ही है। विशेषता यह होगी कि यदि समास के अन्त को उदात्त होता है समासान्त प्रत्यय भी नित्य हो रहा है तो 'द्विमूर्धा', 'त्रिमूर्धा' इत्यादि प्रयोगों में नकारान्तत्व का साधुत्व तथा नकारान्त में स्वर, सिद्धि का उपसंख्यान आवश्यक होगा। यदि उत्तर पद के अन्त को ही उदात्त होता है तो समासान्त प्रत्यय करने पर उत्तर पद से वहिर्भूत समासान्त प्रत्यय की उदात्तता सिद्ध नहीं होगी। इस लिए 'द्विमूर्धः' त्रिमूर्धः' प्रयोगों में स्वरसिद्ध्यर्थ अकारान्त का भी उपसंख्यान आवश्यक होगा। इस संशय पर भाष्य में कहा गया 'अस्तु नकारान्त ग्रहणम्' **अन्तोदात्तत्वे कृते लोपः। उदात्त निवृत्ति स्वरेण सिद्धम्।'** भाव यह है कि 'मूर्धन्' शब्द उत्तर पद का अन्तोदात्तत्व होने पर 'अनुदात्तं पदमेकवर्जम्' परिभाषा से समासान्त प्रत्यय अनुदात्त हो जायेगा। उसके परे रहते 'नस्तद्धिते' सूत्र से टिलोप होने पर 'अनुदात्तस्य च यत्रोदात्त लोपः' ६.१.१६१ सूत्र द्वारा प्रत्यय की उदात्तता सिद्ध हो जायेगी। नकारान्त ग्रहण में कोई दोष नहीं होगा। परन्तु 'मूर्धसु, इस तरह के निर्देश से ही जब नकारान्त पक्ष निःसंदिग्ध है, इससे उत्तर पद में कार्यित्व का निश्चय भी हो गया तो इस संशय के उत्थान की क्या आवश्यकता थी? इस संशय की निवृत्ति के लिए प्रकृत ज्ञापन का उपन्यास किया गया है— **सैषा समासान्तार्था विचारणा।** एवं तर्हि ज्ञापयत्याचार्यो **'विभाषा समासान्तो भवति इति।'** भाव यह है कि समासान्त प्रत्यय के अनित्यत्व ज्ञापन के लिए ही यह प्रस्तुत विचारणा की गई है। यदि समासान्त प्रत्यय नित्य होते तो कार्यो में संदेह की व्यावृत्ति के लिए कृत समासान्त का ही स्पस्ट उच्चारण 'मूर्धेषू' इस प्रकार करते। इस तरह का उच्चारण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

न करना ही समासान्त काअनित्यत्वे ज्ञापित कर रहा है— ऐसी अवस्था में जब समासान्त यय करेंगे तब भी बहुव्रीहि घटकत्वे समासान्त, समासान्त प्रत्यय को उदात्तस्वर होने से 'द्विमूर्धः' आदि प्रयोगों में यह स्वर सिद्ध होगा। समासान्त प्रत्यय न होने पर 'द्विमूर्धा' आदि प्रयोगों में भी अन्तोदात्तत्व की सिद्धि हो जाती है। प्रकृत ज्ञापन सर्वथा निर्दुष्ट तथा आवश्यक है। परिभाषेन्दुशेखर में भी **'समासान्त विधिरनित्यः'** परिभाषा के रूप में व्याख्यात हैं।

२२-२३. न यदणन्ते भवति, खित्यनन्तरस्य न भवति

'हृदयस्य हृल्लेख यदण्लासेषु' ६.३.५० सूत्र के भाष्य में यह विचार किया गया है कि इस सूत्र में यत् तथा अण् प्रत्यय है, प्रत्यय से प्रत्ययान्त गृहीत होता है। इसलिए पदान्त तथा अणन्त परे रहते ही हृदय के स्थान में हृद् आदेश होना चाहिए। इस तरह 'हृदयम्' हार्दम् प्रयोग सिद्ध नहीं होगा? इस आशंका के समाधान में प्रकृत ज्ञापन का उपन्यास किया है— **'यदण् ग्रहणे रूपग्रहणं द्रष्टव्यम्। कुतः? लेखग्रहणात्। यदयं लेखग्रहणं करोति तज्ज्ञापयत्याचार्यो न यदणन्ते भवति इति।** भाव यह है कि यदि यहां 'यत्' तथा 'अण्' प्रत्यय तदन्त का बोधक होता तो इस सूत्र में लेख ग्रहण व्यर्थ हो जाता 'हृदयं लिखति' विग्रह में 'कर्मण्यण्' सूत्र से अपर प्रत्यय में उपपद समास होने पर हृदय+लेख इस अवस्था में अणन्तत्वेनैव हृद् आदेश होकर 'हृल्लेखः' प्रयोग सिद्ध हो जायेगा। लेख ग्रहण सर्वथा व्यर्थ ही है। यही लेख ग्रहण ज्ञापित कर रहा कि एतत्सूत्र घटक प्रत्यय तदन्त के बोधक नहीं होते हैं। एतज्ज्ञापक पर भाष्य के प्रमाण से सूत्र में लेख ग्रहण अणन्त ही गृहीत होता है। अन्यथा लेख शब्द को लेकर लेख ग्रहण चरितार्थ है। भाष्य का ज्ञापकत्वेन उपन्यास असंगत ही हो जाता। यद्यपि यह ज्ञापन इस सूत्र मात्र के लिए प्रयुक्त हुआ है तथापि सर्वत्र उत्तरपदाधिकार में प्रत्यय ग्रहण से स्वरूप बोधन समझना चाहिए। प्रकरणापेक्ष ही ज्ञापक का आश्रयण किया जाता है न केवल योगापेक्ष ही ज्ञापक का आश्रयण उचित है। अतः इसी लेखग्रहण से **'उत्तरपदाधिकारे प्रत्यय ग्रहणे तदन्त ग्रहणं नास्ति'** यह सामान्य परिभाषा ज्ञापित होती है। अत एव 'कुमारी गौरितरा' इस कर्मधारय प्रयोग में प्रत्ययान्त उत्तरपद पडे रहते घरूपकल्पचेलड्ब्रुवगोत्रमतहतेषु' सूत्र से पुंवद्भाव को बोधकर ह्रस्व नहीं होता है। किन्तु पुंवद्भाव द्वारा परिनिष्ठित प्रयोग 'कुमारगौरितरा' यही होता है। इस पर यह आशंका होती है कि इस तरह के ज्ञापन से 'खित्यनव्ययस्य' सूत्र भी खित् प्रत्यय परे रहते ही प्रवृत्त होने खिदन्त परे रहते 'शुनिंधयः' आदि प्रयोगों में ह्रस्व विधान नहीं होगा? इसी शंका के समाधान में इस ज्ञापन का उपन्यास भाष्य में पक्षान्तर को लेकर किया है। **'अथवैतज्ज्ञापयत्याचार्यः खित्यनन्तरस्य न भवति इति यदयमनव्ययस्येति प्रतिषेधं शास्ति'** भाव यह है कि यदि खित् प्रत्यय परे रहते ही ह्रस्व का विधान 'खित्यनव्ययस्य' सूत्र से हो तो अनव्ययस्य यह निषेध व्यर्थ हो जायेगा। क्योंकि अव्यय से परे खित्प्रत्यय संभव ही नहीं है इस तरह यही 'अनव्ययस्य' यह प्रतिषेध वचन व्यर्थ होकर ज्ञापित करता है कि खित् से अव्यवहित पूर्व को ह्रस्व विधान नहीं होता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किन्तु खिदन्त से ही अव्यवहित पूर्व को ह्रस्व विधान होता है। तभी अनव्ययस्य यह निषेध सार्थक हो सकता है।

२४. नान्यत्र धातुग्रहण तदादिविधिर्भवति

भाष्य में 'समः समि:' ६.३.९३ तथा 'नाहिवृतिवृषिव्यधिरुचि सहि तनिषु क्वौ' ६.३.११६ भिन्न देशस्थ इन दोनों सूत्रों पर साथ ही विचार किया गया है। दोनों सूत्रों में विचार्य विषय की समानता होने के कारण एक ही साथ विचार करना संगत है। ये दोनों सूत्र 'क्विप्, 'क्विन्' आदि जो सर्वापहारी लोप के विषय होते हैं, वहीं प्रवृत्त होते हैं। 'समः समि: 'सूत्र क्विबाद्यन्त अञ्च्, धातु से परे रहते प्रवृत्त होता है 'नहिवृतिवृषिरुचिसहितानेषक्वौ' सूत्र क्विबाद्यन्त नह्यादि धातु परे रहते प्रवृत्त होता है। इन दोनों सूत्रों में 'क्विन्' ग्रहण की आवश्यकता पर विचार किया गया है। तमन्चनम्, 'उपनहनम्' आदि प्रयोगों में 'क्विप्' प्रत्यय न होने से समि आदि ओदशों की व्यावृत्ति को 'क्विन्' ग्रहण का प्रयोजन बताया गया। 'इह या भूत समञ्जद्रम्, उपनहनम्। इस प्रयोजन पर पुनः शंका की गई कि यहां उत्तर पद अधिकृत है, अञ्च धातु तथा नह आदि धातु 'क्विप्' प्रत्यय के बिना उत्तर पद नहीं बन सकते। ऐसी स्थिति में 'क्विप्' ग्रहण के बिना भी ये धातु क्विबन्त ही गृहीत होंगे, 'क्विब्' ग्रहण व्यर्थ है? यदि यह कहो की तदादि विधि द्वारा अन्चधात्वादि तथा नह प्रभृति धात्वादि उत्तर पद का ग्रहण करेंगे, ऐसी स्थिति में समञ्चनम्, उपहनम् आदि प्रयोगों में भी समि आदि आदेश प्रसक्त होंगे, उनकी व्यावृति के लिए 'क्विब्' ग्रहण आवश्यक है तो यह नहीं कह सकते क्योंकि यहां तदादि विधि प्राप्त ही नहीं है। 'यस्मिन् विधिस्तदादावल्ग्रहणे' इस वचन के अनुसार सप्तम्यन्त अल् बोधक विशेषण में ही तदादि विधि होती है। यहां विशेषणीभूत धातु है जो अल्बोधक नहीं है। अतः यहां तदादिविधि संभव नहीं है। धातु क्विन्त होकर ही उत्तर पदभूत हो सकते हैं। इसलिए 'क्विब' ग्रहण के बिना ही क्विन्त का लाभ हो जाता है। 'क्विब्' ग्रहण व्यर्थ ही है? इसी आशंका के समाधान में प्रकृत ज्ञापन का उपन्यास किया गया है। **एवं तर्हि सिद्धे सति यदञ्चति नह्यादिषु क्विब् ग्रहणं करोति तज्ज्ञापयत्याचार्योऽन्यत्र धातुग्रहणे तदादि विधिर्भवति इति।** भाव यह है कि उक्त रीति से व्यर्थ होकर यही 'क्विब्' ग्रहण ज्ञापित कर रहा है कि—अन्यत्र धातुग्रहण से षत्वादि ही गृहीत होते हैं। अत एव 'अतः कृ कमिकंसकुम्भपात्रकुशाकर्णीष्वनव्ययस्य' सूत्र में कृ धातु से कृ धात्वादि का ग्रहण होता है। 'अयस्कारः', अयस्कृत्' आदि प्रयोग सिद्ध होते हैं। प्रकृत ज्ञापन स्वीकार करने पर यहां भी तदादि विधि द्वारा 'समञ्चनम्' आदि प्रयोगों में अति प्रसक्ति हो जाती अतः 'क्विब्' ग्रहण यहां स्वांश में चरितार्थ हो गया।

२५. न चौ प्रत्यङ्गं भवति इति।

'चौ' ६.३.१३८ सूत्र के भाष्य में प्राचा', 'दधीचा' इत्यादि प्रयोगों की सिद्धि के लिए एक वचन पढ़ा गया है— **इहान्य आचार्यश्चौ प्रत्यङ्गस्य प्रतिषेधमाहुस्तदिहापि साध्यम्'**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसका अभिप्राय यह है कि 'प्राचा' प्रयोगों में प्रपूर्वक अन्च धातु से 'क्विन्' प्रत्यय में उपधा न लोप तथा समास के बाद अन्तरंगत्वात् सवर्ण दीर्घ हो जाने पर प्राच्+आ इस अवस्था में भ संज्ञा करके 'अचः' सूत्र से अकार लोप होने पर उससे पूर्व अच् न होने से दीर्घ प्राप्त नहीं होता है। इसी तरह 'प्रतीचा' प्रयोग में प्रति पूर्वक अन्च् धातु से भी 'क्विन्' प्रत्यय में प्रति+अच् इस अवस्था में अन्तरङ्गत्वाद् यण् होने पर प्रत्यच्+आ इस स्थिति में 'अचः' सूत्र से अकार लोप होने पर उससे पूर्व अच् का अभाव होने से दीर्घ नहीं प्राप्त होता है। 'चौ' सूत्र व्यर्थ ही है। अतः 'चौ' सूत्र विहित दीर्घ के विषय में अन्तरङ्ग का निषेध प्राचीन आचार्यों ने किया है। इस पाणिनि व्याकरण में भी निषेध की सिद्धि करनी चाहिए ? इसी आक्षेप के समाधान में प्रकृत ज्ञापन का उपन्यास किया गया है। **एतदेव ज्ञापयत्याचार्यो 'न चौ प्रत्यङ्गं भवति इति' यदयं चौ दीर्घत्वं शास्ति।**' भाव यह है कि 'चौ' सूत्र उक्त रीति से व्यर्थ होकर ज्ञापित कर रहा है कि 'चौ' सूत्र के प्रति जो अन्तरङ्ग सवर्णदीर्घादि कार्य हैं, वे प्रवृत्त नहीं होते हैं। यहां प्रत्यङ्ग शब्द से वर्णाश्रम कार्य यण् दीर्घ आदि गृहीत होते हैं। प्रत्यङ्ग शब्द का अर्थ यहां अन्तरङ्ग है। 'वैयाकरणसिद्धान्त कौमुदी' ग्रन्थ में भी यहां भट्टोजिदीक्षित ने 'अकृत व्यूह' परिभाषा का आश्रयण कर अन्तरङ्ग यणादि की व्यावृति की है। 'अकृतव्यूहाः पाणिनीयाः' परिभाषा आश्रयण का आश्रयण कर लेने पर यह ज्ञापन अनावश्यक ही है।

एकादश अध्याय

महाभाष्योक्त ज्ञापक और उनके मूल स्रोतों का अध्ययन

१. नोदात्तनिवृत्तिस्वरः शुन्यवतरति इति

'असिद्धवदत्राभावात्' ६.४.२२ सूत्र के भाष्य में 'आभात्' शब्द पर विचार किया गया है कि 'आभात्' में 'आङ्' शब्द होने से यह संदेह है कि भ संज्ञाधिकार से पूर्व में ही असिद्धात्व का विधान किया गया है कि भसंज्ञाधिकार के साथ असिद्धत्व का विधान है। जहां कहीं 'आङ्' का प्रयोग देखा जाता है, वहां ऐसा संदेह होता। जैसे 'आपाटलिपुत्राद् वृष्टो देवः' इस वाक्य से यह संदेह हो रहा है कि पाटलिपुत्र से पहले ही वर्षा हुई है अथवा पाटलिपुत्र में भी वर्षा हुई है। यहां यही विशेषता यह होगी कि यदि भ संज्ञाधिकार से पहले ही असिद्धत्व का विधान है तो 'श्वन्' शब्द के विषय में असिद्धत्व के उपसंख्यान की आवश्यकता बताई गई है, अन्यथा 'शुनः' 'शुना', आदि प्रयोगों में 'श्वयुवमघोनामतद्धिते' सूत्र से संप्रसारण करने पर '**वर्णादाङ्गं बलीयः**' 'परिभाषा से पूर्व रूप को बोध कर 'अल्लोपो नः' सूत्र से लोप की प्रसक्ति होने लगेगी। यदि अधिकार के साथ असिद्धत्व का विधान है तो 'अल्लोपो नः' सूत्र की कर्तव्यता में संप्रसारण के असिद्ध होने से 'न संयोगाद्वमन्तात्' सूत्र से अल्लोप निषिद्ध हो जायेगा। प्रयोगसिद्धि में क्षति नहीं होगी। यद्यपि संप्रसारण होने के अनन्तर शु अन्+अस् इत्यादि स्थिति में अकार की निवृत्ति पूर्वरूप द्वारा हो या अल्लोप द्वारा हो, कोई

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विशेषता नहीं होती। अत: अधिकार से पूर्व असिद्धत्व विधान स्वीकार करने में भी शुनः, शुना आदि प्रयोगसिद्धि में कोई क्षति नहीं होगी। तथापि अल्लोप द्वारा अकार की निवृत्ति होने पर श्व् शब्दोत्तर अकार प्रत्ययस्वर द्वारा उदात्त होने के कारण 'अनुदात्तस्य च यत्रोदात्त लोपः' सूत्र से उदात्त निवृत्ति स्वर द्वारा विभक्ति की उदात्तता प्रसक्त होने लगेगी।

अत: अल्लोप की कर्तव्यता में असिद्धत्व विधान आवश्यक है। यदि यह कहो कि 'न गोश्वन् साववर्णराडङ्क्रुङ्कृद्भ्यः सूत्र से विभक्त्युदात्तत्व का निषेध हो जायेगा, कोई दोष नहीं होगा तो यह ठीक नहीं है क्योंकि 'न गोश्वन्० सूत्र 'सावेकाचस्तृतीयादिर्विभक्तिः' सूत्र का ही निषेध है। 'शुनः पश्य' इत्यादि में जहां तृतीयादि विभक्ति नहीं है। वहां उदात्तनिवृत्तिस्वर द्वारा विभक्त्युदात्तत्व प्रसक्त होगा ही यदि कहो कि 'नंगो श्वनः' सूत्र को येन केनापि प्रकारेण प्राप्त विभक्ति स्वर मात्र का निषेधक मानेंगे तो 'बहु शुनी' आदि प्रयोगों में जहां विभक्ति की विषमता नहीं है वहीं भी **'बहवः श्वानो स्याम्'** इस विग्रह में बहुव्रीहि समास होने पर 'बहोर्नञ्वदुत्तरपदभूम्नि' सूत्र द्वारा अन्तोदात्त बहुश्वन् शब्द स्त्रीत्व की विवक्षा में'; अनउपधा–लोपिनोऽन्यतरस्याम्' सूत्र से ङीप् प्रत्यय होने पर उदात्त नि त्ति स्वर की प्रसक्ति होने लगेगी। यदि 'न गोश्वन्' सूत्र को उदात्तनिवृत्ति स्वर का भी मानें तो 'कुमारी' प्रयोग में अन्तोदात्त 'कुमार' शब्द से स्त्रीत्व की विवक्षा में 'वयसि प्रथमे' सूत्र से ङीप् प्रत्यय होने पर प्राप्त उदात्त निवृत्ति स्वर का भी प्रतिषेध प्रसक्त हो जायेगा। इस तरह 'न गोश्वन्:० यह निषेध सूत्र तृतीयादिस्वरका ही निषेधक हो सकता है। ऐसी स्थिति में 'शुनः पश्य' इत्यादि प्रयोग में अल्लोप होने पर उदात्तनिवृत्ति स्वर प्रसक्त होने लगेगा। अत. अधिकार से पूर्व असिद्धत्व का विधान स्वीकार करने पर 'शुनः' प्रयोग के सिद्ध्यर्थ असिद्धत्व का उपसंख्यान न आवश्यक ही होगा। इस आक्षेप के समाधान में प्रस्तुत ज्ञापन का उपन्यास किया गया है— **एवं तर्ह्याचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति नोदात्त निवृत्तिस्वरः शुन्यवतरति इति यदयं श्वन् शब्दं गौरादिषु पठति। अन्तोदातार्थं यत्नं करोति सिद्धं स्यान्ङिस्यैव।** भाव यह है कि यदि 'श्वन्' शब्द के विषय में उदात्तनिवृत्ति प्रवृत्त होता तो 'श्वन्' शब्द का गौरादिगण में पाठ द्वारा 'षिद्गौरादिभ्यश्च' सूत्र से ङीष् का विधान करके शुनी प्रयोग में अन्तोदात्तत्व का साधन करना व्यर्थ हो जाता। ङाप् प्रत्यय से भी उदात्तनिवृत्तिस्वर द्वारा अभीष्ट स्वर सिद्ध हो जाता है। यही 'श्वन्' शब्द का गौरादिगण में पाठ व्यर्थ होकर ज्ञापित कर रहा है कि श्वन् शब्द के विषय में उदात्तनिवृत्ति स्वर नहीं होता है। यह ज्ञापन भाष्य केवल उदात्तनिवृत्ति स्वर के निराकरण के ही लिए उपन्यस्त हुआ है। न कि अमाधिकार से पूर्व ही असिद्धत्व विधान का समर्थन कर रहा है। अन्त में माधिकार के ही असिद्धत्व विधान को भाष्य में सिद्धान्तित किया गया है। माधिकार के साथ असिद्धत्व विधान पक्ष में कोई दोष नहीं होता। यद्यपि भाष्य में कुछ प्रयोगों में अतिप्रसक्ति दिखाई गई है तथापि समानाश्रय की कर्तव्यता में ही असिद्धत्व की प्राप्ति का उपपादन कर समस्त अतिप्रसक्तियों का निराकरण कर दिया गया है।

२. भवतीह विप्रतिषेध इति

'जनसनखनां सञ्झलोः' ६.४.४२ सूत्र के भाष्य में वार्तिक द्वारा यह विचार प्रस्तुत

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किया गया है कि सन् धातु के तनादि होने से अनुदात्तोपदेशावनतितनोत्यादी नाममुनासिकलोपो झलि क्ङिति' ६.३.३७ सूत्र से 'सातः, सातवान्' इन प्रयोगों में अनुनासिक लोप भी प्राप्त है तथा इस सूत्र से आकार आदेश भी प्राप्त है इन दोनों को युगपत्प्राप्ति में आकारादेश की बलवत्ता विप्रतिषेध द्वारा ही है। क्योंकि अनुनासिक लोप विधायक सूत्र सन् से भिन्न तनोत्यादि में साव-काश है। यह सूत्र की जन् खन् धातु के विषय में सावकाश है। दोनों सावकाशों की 'सातः' 'सातवान्' प्रयोगों में युगपत्प्राप्ति होने पर विप्रतिषेधेनैव जनसनखनां सञ्झलोः' सूत्र बलवान् हो सकता है। यदि यह कहो कि सन् धातु को जो आत्व विधान किया गया है वह निरवकाशत्वेन अपवाद हो जायेगा यहां विप्रतिषेध संभव नहीं है तो यह ठीक नहीं है क्योंकि तनोत्यादि में सन् धातु का पाठ 'तनादिभ्यस्तथासोः' इत्यादि सूत्रों के प्रवृत्यर्थ सावकाश है। आत्व विधायक सूत्र में भी सन् का ग्रहण 'सनि च' 'ये विभाषा', सूत्रों के प्रवृत्यर्थ सावकाश ही है। ऐसा स्थिति में लोप तथा आत्व के विधायक दोनों सूत्र सावकाश होकर 'सातः' 'सातवान्' प्रयोगों में युग-पत्प्राप्त है। अतः यह विप्रतिषेध ही युक्त है। इस तरह विप्रतिषेध का उपपादन होने पर पुनः यह आशंका की गई कि ये दोनों सूत्र अभीष्ट होने से एक की कर्तव्यता में दूसरा असिद्ध हो जायेगा। ऐसी स्थिति में विप्रतिषेध कैसे संभव होगा ? जब दोनों का परस्पर की दृष्टि में अभाव है तो विप्रतिषेध सर्वथा ही असंभव ही है ? इसी आक्षेप के समाधान में प्रकृत ज्ञापन का उपन्यास किया गया है। **आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति—भवतीह विप्रतिषेध इति यदयं घुमास्थागापा जहातिसां हलीति हल्ग्रहणं करोति'**। भाव यह है कि 'घुमास्थागापजहातिसां हलि' सूत्र में हल् ग्रहण इसलिए किया गया है कि गोदः 'कम्बलदः' प्रयोगों में 'आतोऽनुपसर्गे कः' सूत्र से 'क' प्रत्यय में 'आतोलोप इटि च' सूत्र द्वारा प्राप्त आलोप को विप्रतिषेधेन बाँधकर ईत्व न हो। हल् ग्रहण न करने पर परविप्रतिषेधेन 'गोदः' 'कम्बलद' प्रयोगों में भी ईत्व की प्रसक्ति होती ही है। यदि 'आमीयत्वेन' परस्पर की दृष्टि में असिद्ध होने मात्र से विप्रतिषेध नहीं हो सकता है तो हल् ग्रहण व्यर्थ ही है। यही हल्ग्रहण व्यर्थ होकर ज्ञापित कर रहा है कि आमीयशास्त्रों में परस्पर विप्रतिषेध होता ही है। अर्थात् परस्पर असिद्ध होने पर भी तुल्यबलविरोध मात्र को लेकर विप्रतिषेध प्रवृत्त होता ही है। यद्यपि 'घुमास्थागापाजहातिसां हलिः' सूत्र में हल् ग्रहण व्यवस्थार्थ आवश्यक है ताकि हलादि परे रहते ईत्व हो। अजादि परे रहते ईत्व हो, अन्यथा गोदः आदि प्रयोगों में ईत्व हो जाने इ से पडादेश प्रसक्त होने लगेगा तथापि अजादि हलादि दोनों के परे रहते सामान्येन विहित ईत्व को अजादि में अपवादत्वेन लोप ही प्राप्त होगा हल् ग्रहण व्यर्थ ही है। यह भाष्य का तात्पर्य है।

३. यङ्लुग्भाषायां भवति।

'हुश्नुवोः सार्वधातुके' ६.४.८७ सूत्र में 'हु' 'श्नु' ग्रहण की अनर्थकता की शंका की गई है उसका भाव यह है कि 'हुश्नुवोः सार्वधातुके' सूत्र में क्ङिति अचि, असंयोगपूर्वस्य, ओः' इन पदों का अनुवर्तन कर के अचादि कित् ङित् सार्वधातुक परे रहते धात्वयवसंयोगपूर्वकत्वाभाववदु-वर्णान्त अनेकाच् अङ्ग को यण् हो ऐसी व्याख्या करने पर भी 'शृण्वन्ति' 'जुह्वति' इत्यादि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रयोग सिद्ध हो जाते हैं। क्योंकि अजादि कित् ङित् सार्वधातुक परे रहते एतादृश अङ्ग हु तथा श्नुप्रत्ययान्त स्थल में ही संभव है। अन्यत्र अतिप्रसक्ति का सर्वथा अभाव है। अतः 'हु', 'श्नु' ग्रहण व्यर्थ है यही भाष्य का अभिप्राय है। इस शंका के समाधान में कहा गया कि 'यङ्लुङर्थं तर्हि हुश्नुग्रहणं कर्तव्यम्'। अभिप्राय यह है कि यङ्लुगन्त- असंयोगपूर्वोवर्णान्त, अनेकाच् अङ्ग सुलभ है। तदर्थ हु, श्नु ग्रहण आवश्यक है अन्यथा 'ररुवति', योयुवति प्रयोगों में 'रो रू' 'यो यु' यङ्लुगन्त रु धातु यु धातु से लट् में 'म्यि' के स्थान में 'अदभ्यस्तात्' सूत्र से 'अति' हो जाने पर यणादेश प्रसक्त होगा। अतः हुश्नुग्रहण आवश्यक है। इस पर पुनः यह शंका होती है कि यङ्लुगन्त धातु छन्दोमात्र विषयक होने से छन्दस्युभयथा' सूत्र से लट् स्थानिक अति प्रत्यय की भी आर्धधातुक संज्ञा करके योयुवति, प्रयोग निष्पन्न किए जा सकते हैं। हु, श्नु ग्रहण व्यर्थ ही है। इस शंका के समाधान में प्रकृत ज्ञापन उपन्यस्त हुआ है —**एवं तर्हि सिद्धे सति यहुश्नु ग्रहणं करोति तज्ज्ञापयत्याचार्योयङ्लुग्भाषायां भवति' इति।** भाव यह है कि यदि हु श्नु ग्रहण उक्त रीति से व्यर्थ होकर ज्ञापित कर रहा है कि भाषा में भी यङ्लुक् का प्रयोग होता है। अतः भाषा में यङ्लुगन्त स्थल में यण् की निवृत्ति के लिए हुश्नु ग्रहण सार्थक है। अतएव 'बेभिदीति' चेच्छितीति' प्रयोग भाषा में भी सिद्ध होते हैं। अतः प्रकृत ज्ञापन निरवद्य तथा सप्रयोजन है।

४. सिद्धोऽभ्यासादेश एत्वे

५. रूपाभेदेन य आदेशादयो न तेषां प्रतिषेधो भवति

'अतएकहल्मध्येऽनादेशादे लिटि' ६.२.१२० सूत्र के भाष्य में विचार किया गया है कि लिट् परे रहते जिस धातु में आदेशादि न हुआ हो उस उस धातु में एत्व तथा अभ्यास लोप होता है। जैसे रण धातु से लिट् में अतुस् परे रहते रेणतुः। 'यम्' धातु से लिट् में 'येमतुः' इन प्रयोगों में एत्व तथा अभ्यास लोप निष्पन्न होता है। इस पर यह आशंका होती है कि इस तरह 'बभणतुः 'बभणुः' प्रयोगों में भणू धातु से लिट् में अतुस् आदि परे रहते अभ्यास में म के स्थान में 'अभ्यासे चर्च' सूत्र से जश् आदेश होने पर भी 'पूर्वत्रासिद्धम्' सूत्र से एत्व तथा अभ्यास लोप विधायक शास्त्र की दृष्टि में 'अभ्यासे चर्च' सूत्र त्रिपादीस्थत्वेन असिद्ध होने के कारण तत्प्रयुक्त कार्याभाव बुद्धया एत्वाभ्यास लोप प्राप्त है? इस शंका के समाधान में प्रकृत ज्ञापन उपन्यस्त है— **यदयं फलिभज्योर्ग्रहणं करोति तज्ज्ञापयत्याचार्यः— सिद्धोऽभ्यासादेश एत्व इति।** भाव यह कि— तृफलभजत्रपश्च' सूत्र द्वारा जो 'फल' तथा 'भज' धातु में पृथक् से एत्वाभ्यास लोप विधान द्वारा 'भेजतुः फेलतुः' प्रयोग सिद्ध किये गये हैं। यही फल् तथा भज् ग्रहण ज्ञापित कर रहा है कि एत्व कर्तव्य में अभ्यादेश सिद्ध ही रहता है। यदि एत्व कर्तव्य में अभ्यास देश सिद्ध हो जाता है। तो 'अतएकहल्मध्येऽनादेशादेलिटि' सूत्र से 'फल् तथा 'भज्, धातु स्थल में भी एत्वाभ्यास लोप हो जाता पृथक् से फल तथा भज् ग्रहण व्यर्थ ही होता।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस पर पुनः शंका होती है कि यदि एत्व कर्तव्य में अभ्यासादेश सिद्ध ही है तो पच् धातु में 'पेचतुः' दम् धातु में 'देभतु' प्रयोग भी नहीं सिद्ध होंगे क्योंकि इन धातुओं में भी 'अभ्यासे चर्चः' सूत्र द्वारा अभ्यास में प्रकृति 'चर' प के स्थान में प् आदेश हुआ है तथा 'दभ' घटक प्रकृति प के स्थान में द् आदेश हुआ है। यहां भी 'अत एकहल्मध्येऽनादेशादेः'० सूत्र की प्राप्ति लिट् को निमित्त मान कर आदेश होने के कारण नहीं होगी । इस शंका के समाधान में दूसरा भी ज्ञापक उपन्यस्त हुआ है— **यदयं शशि दधो प्रतिषेधं शस्ति तज्ज्ञापयत्याचार्यो— रूपाभेदेन प आदेशादयो न तेषां प्रतिषेधो भवति इति।** भाव यह है कि 'न शसृददवादिगुणानाम्' ६.४ सूत्र द्वारा जो 'शस्' तथा 'दद्' धातु में एत्वाभ्यासलोप का निषेध किया जाता है, वही व्यर्थ होकर यह ज्ञापित कर रहा है कि जहां रूपाभेदेन आदेशादि हुए हैं, वहां अनादेशादि प्रयुक्त निषेध की प्रवृत्ति नहीं होती है । अर्थात् वहां एत्वाभ्यास लोप होता ही है। इस तरह जहाँ वैरूप्य संपादक आदेशादि होंगे वहीं ही एत्वाभ्यास लोप नहीं होगा। 'पेचतुः', 'देमतुः' में प्रकृत्यभेदेन आदेश होने पर भी वैरूप्यसंपादक आदेश नहीं है, अतः यहां एत्वाभ्यास लोप होता है । यदि प्रकृत्यभेदेन आदेश होने पर भी अनादेशादिप्रयुक्त निषेध प्रवृत्त होता 'शस्', 'दद्' में भी इसी से निषेध हो जाता पुनः 'नशसददवादिगुणानाम्' सूत्र में इनका ग्रहण व्यर्थ ही हो जाता । अतः यह ज्ञापन निवद्य तथा सप्रयोजन ही है।

६. नैवं जातीयकानामेत्वं भवति इति ।

'थलि च सेटि'० ६.४.१२३ सूत्र के भाष्य में 'लुलविथ' एवं 'शशरिथ' प्रयोगों में एत्वाभ्यास लोप की आशका की गई है। दोनों प्रयोगों में से सेट् थल् परे रहते धातुमध्यस्थ अकार है। अतः एत्वाभ्यास होना चाहिए। इस आशंका के समाधान में 'न शसददवा दिमुणानाम्' सूत्र द्वारा निषेध को कारण बताया गया है । भाव यह है कि इस सूत्र में गुण शब्द से साक्षात्परम्परया वा गुण शब्द से भाषित आकार गृहीत हुआ है । इन प्रयोगों में भी 'लुलविथ' में गुण तथा अवादेश द्वारा अकार है, 'शशरिथ' में श्रृ धातु को गुण तथा रपर द्वारा ही भावित अकार है इसलिए यहां एत्वाभ्यासलोप का निषेध हो जाता है । यद्यपि यदि आशंका होती है कि 'शशरिथ' में गुण रपर होकर अर् के रूप में ही लक्ष्य में प्रवृत्त हुआ है। उस अर् में गुणत्व न होने के कारण तद्घटक अकार में एत्वादि का निषेध कैसे होगा ? इस शंका पर प्रकृत ज्ञापन उपन्यस्त हुआ है। **अथवा चार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति नैवं जातीयकानामेत्वं भवति इति। यदयंन्द फलभजत्रपश्चेतिन्द ग्रहणं करोति।**' भाव यह है कि तृ धातु में जो पृथक् से एत्वाभ्या–सलोप का विधान 'तेरतुः' आदि प्रयोगो में किया गया है वही व्यर्थ होकर ज्ञापन करता है ऋकार के स्थान में जो निष्पन्न अ–कार है एत्वाभ्यास लोप नहीं ही होता है । अन्यथा 'तृ' से भी एत्वादि कार्य स्वयं हो जाता हैं 'तृफलभजत्रपश्च'— सूत्र में पुनः तृ ग्रहण व्यर्थ हो जाता ।

७. भवत्येषा परिभाषा 'असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे'।

'वाह ऊठ्' ६.२.१३२ सूत्र के भाष्य में यह विचार किया गया है कि 'ऊठ्' वचन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्यों किया गया है संप्रसारण वचन से ही 'प्रष्ठौहः' आदि रूप की सिद्धि हो सकती है। 'प्रष्ठं वहति' विग्रह में प्रष्ठ के अपवाद रहते 'वह' धातु से ण्वि प्रत्यय करने पर 'प्रष्ठवाह्' शब्द से 'शस्' विभक्ति में प्रष्ठवाह+अस् इस अवस्था में वकार को संप्रसारण एवं पूर्वरूपैकादेश करने के बाद 'प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्' सूत्र से ण्वि प्रत्ययाश्रय लघूपध गुण हो जाने पर विश्व+ओह+अस् इस स्थिति में 'वृद्धिरेचि' से वृद्धि करने पर भी 'प्रष्ठौहः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। 'एत्येधत्यूठ्सु' सूत्र द्वारा वृद्धिविधानार्थ जो ऊठ्-वचन किया गया है वह व्यर्थ ही है। इस आक्षेप के समाधान में प्रकृत परिभाषा ज्ञापन का उपन्यास किया गया है— **एवं तर्हि सिद्धे सति यद्वाह ऊठं शास्ति तज्ज्ञापयत्याचार्यो भवत्येषा परिभाषा असिद्धं बहिरंगलक्षणमन्तरङ्गलक्षण इति।** भाव यह है कि— उक्त रीति से 'प्रष्ठौहः' आदि प्रयोग सिद्ध हो जाने पर जो वाह् को ऊठ् विधान किया गया है यही व्यर्थ होकर ज्ञापित कर रहा है कि अन्तरङ्गलक्षण कार्य की कर्तव्यता में बहिरङ्गलक्षण कार्य असिद्ध हो जाता है। इस ज्ञापन के होने पर सर्वनामस्थानभिन्नयजादि प्रत्यय निमित्तक यसंज्ञाश्रितत्वेन संप्रसारण वाहभूत निमित्तकतया बहिरङ्ग है। अतः तदपेक्षया अन्तर्भूतनिमित्तकत्वेन अन्तरङ्ग ण्विप्रत्ययाश्रय गुण की कर्तव्यता में वह असिद्ध हो जाता है। इस तरह गुण न होने से रूप की सिद्धि नहीं हो सकती है। अतः ऊठ् वचन आवश्यक है। ऊठ् वचन करने पर 'एत्येधत्यूठ्सु' सूत्र द्वारा वृद्धि होकर 'प्रष्ठौहः' आदि रूप सिद्ध होता है। इस सूत्र में ऊठ् ग्रहण परिभाषा ज्ञापकत्वेन स्वांश में चरितार्थ होता है। 'पचावेदम्' 'पचामेदम्' आदि प्रयोगों की सिद्धि इस परिभाषा का प्रयोजन है। पच् धातु से लोट के लकार उत्तम पुरुष में 'पचाव' 'पचाम' शब्दोत्तर 'इदम्' शब्द का योग होने पर 'आद्गुणः' से गुण जाने पर पूर्वान्तिवद्भावेन 'एत ऐ' सूत्र द्वारा 'ऐ' आदेश प्राप्त है। परन्तु इस परिभाषा के होने पर भिन्न पदाश्रितत्वेनवहिरङ्ग गुण की अपेक्षा 'एत ऐ' सूत्र के अन्तरङ्ग होने से उसकी कर्तव्यता में गुण असिद्ध हो जाता है। अतः 'ऐ' की प्रसक्ति नहीं होती है 'पचावेदम्' आदि प्रयोग निष्पन्न होते हैं। यह परिभाषा विस्तारपूर्वक परिभाषेन्दुशेखर ग्रन्थ में नागेशभट्ट द्वारा भी व्याख्यात है।

८. संनियोगशिष्टानामन्यतराभावे उभयोरप्यभावः

'विल्वकादिभ्यश्छस्य लुक्' ६.४.१५३ सूत्र के भाष्य में छ ग्रहण के प्रयोजन को लेकर विचार किया गया है कि '**छ ग्रहणं शक्यमकर्तुम्**' भाव यह है कि इस सूत्र में तद्धितस्य तथा तद्धिते दो पदों की अनुवृत्ति करके भसंज्ञक विल्वकादि से परे तद्धित का तद्धित परे रहते लुक् हो। इस तरह व्याख्या करने से **विल्वकस्य विकारः** 'वैल्वकः' आदि प्रयोगों में विल्वक शब्द से विकारार्थक अण् प्रत्यय करने पर उसके लुक् की प्रसक्ति नहीं होगी। क्यों कि यह तद्धित परे रहते नहीं है। इस तरह यह वचन व्यर्थ ही है। यदि कहो कि '**बिल्वाविद्यन्ते स्याम्**' इस विग्रह में 'नडादीनां कुक् च' सूत्र से 'छ' प्रत्यय एवं कुगागम करने पर विल्वकीया शब्द से **विल्वकीयायां भवः** — इस विग्रह में 'तत्र भवः' सूत्र से अण् प्रत्यय करके उसके परे रहते 'छ' का लुक् हो जाने पर वैल्वक शब्द से 'वैल्वकस्येदम्' विग्रह में 'वृद्धाच्छः'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सूत्र से छ प्रत्यय में वैल्वकीयम्' प्रयोग में भी 'छ' प्रयय परे रहते अण् के लुक् की प्रसक्ति हो जायेगी । इसलिए 'छ' ग्रहण आवश्यक है तो यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि 'वैल्वकीयम्' में 'छ' प्रत्यय परे रहते जो अण् प्रत्यय है वह विल्वक शब्द से विहित नहीं है । किन्तु 'विल्वकीय' शब्द से विहित है । विल्वकादि से विहित हीं तद्धित के लुक् का विधान तद्धित परे रहते होता है । इस तरह 'छ' ग्रहण सर्वथा व्यर्थ है ? इसी आक्षेप में प्रकृत ज्ञापन का उपन्यास भाष्य में किया गया है **एवं तर्हि सिद्धे सति यच्छ ग्रहणं करोति तज्ज्ञापयत्याचार्यो भवत्येषा संनियोगशिष्टानामन्यतराभावे उभयोरप्यभाव इति** । भाव यह है कि उक्त रीति से व्यर्थ होकर यही 'छ' ग्रहण ज्ञापित कर रहा है कि सद्भावेन विहित दो कार्यों में एक की निवृत्ति होने पर दोनों को निवृत्ति हो जाती है । इसी लिए यहां 'छ' ग्रहण किया गया है । 'छ' ग्रहण करने पर तत्सामर्थ्यात् 'छ' मात्र की ही लुक् द्वारा निवृत्ति होती है । लुक् को निवृत्ति नहीं हुई । अतः **विल्वकीयायां भवः वैल्वकः** प्रयोग सिद्ध होता है। यदि 'छ' ग्रहण नहीं होता तो 'छ' प्रत्यय के ही साथ विहित कुक् कगागम की भी निवृत्ति हो जाती । प्रयोग सिद्ध नहीं होता। अतएव रोहितत्व वर्णविशिष्टा स्त्री 'रोहिणी तस्या अपत्यम् रोहितेयः' प्रयोग में रोहिणी शब्द से 'स्त्रीभ्यो ढक्' सूत्र से प्रत्यय में 'यस्येति च' सूत्र से ङीप् का लोप होने पर 'वर्णादनुदात्तात्तोपधात्नः' सूत्र से उसके साथ ही विहित लादेश की भी निवृत्ति हो जाती है । यह परिभाषा भी परिभाषेन्दुशेखर में नागेश भट्ट द्वारा व्याख्यात है।

९. अङ्गवृत्ते पुनवृत्तावविधिः

१०. भाव्यमानेन सवर्णानां ग्रहणं न

ज्यायादीयसः' ६.४.१६० सूत्र के भाष्य में यह विचार किया गया है कि 'ज्यायादीयसः' सूत्र द्वारा ज्यादेश से परे 'ईयस' के आदि ईकार के स्थान में आकार आदेश क्यों किया गया है। प्रकृत लोप विधान ही क्यों नहीं किया। लोप करने पर भी 'ज्यायान्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ज्य+ईयस् इस स्थिति में ईकार का लोप हो जाने पर भी 'अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः' सूत्र से अङ्ग अन्त्यदीर्घ द्वारा रूप सिद्ध हो ही जायेगा ? इस आक्षेप में प्रकृत ज्ञापन का उपन्यास भाष्य में किया गया है-- **एवं तर्हि सिद्धे सति यज्ज्यात्परस्येयस आत्वं शास्ति तज्ज्ञापयत्याचार्यो भवत्येषा परिभाषा अङ्गवृत्ते पुनवृत्तावधिधिः इति** । भाव यह है कि उक्त रीति से व्यर्थ होकर यही 'ईयस् का आद्याकारादेश ज्ञापित कर रहा है कि अङ्गाधिकारी कार्य के प्रवृत्त हो जाने पर पुनः अन्य अङ्गाधिकारी कार्य विहित नहीं होता है। इस परिभाषा का यह फल होगा कि 'पिवति' प्रयोग में पा धातु के स्थान स्थान में अङ्गाधिकारी 'पिव्' आदेश प्रवृत्त होने पर पुनः अङ्गाधिकारी गुण की प्रवृत्ति नहीं होती है। अतएव 'पिवति' प्रयोग सिद्ध हुआ है। यह परिभाषा परिभाषेन्दुशेखर में भी व्याख्यात है।

इस पर पुनः यह आशंका की गई है कि ज्य से परे 'ईयस' के आदि के स्थान में दीर्घ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आकार का विधान क्यों किया गया है। ह्रस्व अकार का विधान करने पर भी आन्तरतम्याद् दीर्घ ईकार के स्थार में दीर्घ ही आकार होगा। दीर्घ विधान व्यर्थ ही है? इस आशंका में दूसरा ज्ञापन उपन्यस्त किया गया है— **एवं तर्हि सिद्धे सति यद्दीर्घं ग्रहणं करोति तज्ज्ञापयत्याचार्यो भवत्येषा परिभाषा 'भाव्यमानेन ऽवर्णानां ग्रहणं न इति।'** भाव यह है कि दीर्घ विधान उक्त रीतिसे व्यर्थ होकर ज्ञापन करता है कि विधीयमान से सवर्ण का ग्रहण नहीं होता। इस लिए दीर्घ विधान प्रकृत ज्ञापन द्वारा आवश्यक हो जाता है। अन्यथा ह्रस्व अकार से सवर्ण ग्रहण न होने से आन्तरतम्य द्वारा दीर्घ प्राप्त नहीं हो सकता। 'ज्यायान्' प्रयोग सिद्ध नहीं हो सकता। अत: यह ज्ञापन निवद्य तथा आवश्यक भी है। अतएव 'त्यदादीनाम:' आदि सूत्रों से विधीयमान जाति पक्षाश्रयेयादि सर्वण का बोधक नहीं होता है। यह परिभाषा परिभाषेन्दु शेखर में भी व्याख्यात है।

११. ताच्छीलिकेणो ण् कृतानि भवन्ति।

'कार्मस्ताच्छील्ये' सूत्र के भाष्य में यह विचार किया गया है कि 'कार्मः' प्रयोग में 'कर्मशीलयस्य' विग्रह में 'कर्मन्' शब्द से 'छत्रादिभ्यो णः' सूत्र से ण प्रत्यय में टिलोप का निपातन क्यों किया गया है 'नस्तद्धिते' सूत्र से ही टिलोप सिद्ध हो सकता है। यदि कहो कि 'अन्' सूत्र से प्राप्त प्रकृति भाव के बाधन के लिए टिलोप का निपातन किया गया है तो ठीक नहीं है क्यों कि 'अन्' सूत्र से प्रकृतिभाव अण् परे रहते होता है। यहां 'ण' प्रत्यय निमित्तक टिलोप करना है अत: यह टिलोप निपातन व्यर्थ ही है इस आक्षेप में प्रकृत ज्ञापन का उपन्यास किया है **एवं तर्हि सिद्धे सति यन्निपातनं करोति तज्ज्ञापयत्याचार्यस्ताच्छीलिकेणेऽण् कृतानिभवन्ति इति।** यह कि उक्त रीति से व्यर्थ होकर यही निपातन ज्ञापित कर रहा है कि तच्छील अर्थ में विहित 'ण' प्रत्यय में भी अण् में विहित कार्य होते ही हैं। एतज्ज्ञापकत्वेन यह निपातन स्वांश में चरितार्थ है। अन्यथा यहां भी 'अन्' सूत्र से प्रकृतिभाव हो ही जाता। इस ज्ञापन का प्रयोजन यह होगा कि चौरी, तापसी, 'चुराशीलमस्याः तपः शीलमस्याः' विग्रह में ये चुरा तथा तपः शब्द से 'छत्रादिभ्यो णः' सूत्र से 'ण' प्रत्यय करने पर टिड्ढाणञ् द्वयसज्दघ्नञ्मात्रच्तयप्ठक्ठञ्कञ्क्वरपः' से सूत्र अणन्तत्वप्रयुक्त ङीप् प्रत्यय सिद्ध होता है। अत: यह ज्ञापन निवद्य तथा आवश्यक है।

१२. न तद्धितंतत्व भवति इति।

'दाण्डिनायनहास्तिनायनाथर्वणिक जैह्माशिनेयवासिनायनिभ्रौणहत्य धैवत्य साखैक्ष्वाकमत्रेयहिरण्मयानि' ६.४.१७४ सूत्र के भाष्य में विचार किया गया है कि 'भ्रौण हत्य' शब्द से तकारनिपातन व्यर्थ ही है, क्योंकि 'हनस्तो चिण्णलो.' सूत्र से ही तकारान्तादेश सिद्ध हो जायेगा। भाव यह कि 'भ्रूणघ्नो भावः कर्म वा' इस अथ में 'गुणवचनब्राह्मणादिभ्यो कर्मणि च' सूत्र से ब्राह्मणादित्वात् ष्यञ् प्रत्यय में भ्रौण हन्+य इस अवस्था में 'हनस्तो चिण्णलो.' सूत्र से ही तकारान्तादेश सिद्ध हो सकता है। इस सूत्र द्वारा यहाँ तकार का निपातन सर्वथा व्यर्थ है। यदि यह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कहा जाये कि 'नस्तद्धिते' सूत्र से प्राप्त टिलोप के बाधनार्थ यह निपातन सार्थक है तो यह ठीक नहीं होगा क्यों कि 'नस्तद्धिते' सूत्र से प्राप्त टिलोप को बाधकर परत्वात् 'हनस्तो चिण्णलो:' सूत्र से तकार ही होगा । 'भ्रौणहत्य' प्रयोग सिद्ध हो जायेगा तकार निपातन व्यर्थ ही है ? इस आक्षेप में प्रकृत ज्ञापन का उपन्यास किया गया है— **एवं तर्हि ज्ञापयत्याचार्यो 'न तद्धिते तत्वं' भवति इति** । भाव यह है कि यहाँ तकार निपातन उक्तरीत्या व्यर्थ होकर ज्ञापन करता है कि तद्धित प्रत्यय परे रहते 'हन्' धातु को तकारान्तादेश नहीं होता है । अतएव **'भ्रौणघ्न:' 'वार्त्रघ्न:'** ये प्रयोग सिद्ध होते हैं । 'भ्रूणघ्न:' अयम् वृत्रघ्न: अयम् विग्रह में भ्रूणहन् तथा वृत्रहन् शब्द से 'तस्येदम्' सूत्र से इदमर्थ में अण् प्रत्यय करने पर तकारान्तादेश नहीं हुआ है । इस तरह यह ज्ञापन निरवद्य तथा सप्रयोजन है ।

१३. विभाषा आत्वम इति

'अष्टाभ्य औश्' ७.१.२१ सूत्र के भाष्य में शंका की गई है कि **'अष्ट तिष्ठन्ति' अष्ट पश्य—** इन प्रयोगों में 'अष्टन्' शब्द परे जस्, शस के स्थान में औश् आदेश क्यों नहीं हुआ है । इस शंका के समाधान में कहा गया है कि जहां 'अष्टन्' शब्द के स्थान में आकार अन्तादेश होता है वहां ही जस्, शस् के स्थान में औश् आदेश होता है । क्यों कि 'अष्टाभ्य औश्' सूत्र में कृताकार ही अष्टा का निर्देश किया गया है । अन्यथा लाघवात् अष्टभ्य यही निर्देश होता । इस तरह आत्व पक्ष में ही 'औश्' आदेश होता है । आत्वभाव पक्ष में औश् की प्राप्ति न होने से 'अष्ट प्रयोग भी साधु है । इस पर यह आशंका होती है कि 'अष्टन आ विभक्तौ' सूत्र से आत्व विधान नित्य होता है । आत्वाभाव पक्ष कैसे संभव होगा । इसी आशंका में प्रकृत ज्ञापन का उपन्यास किया गया है **एतदेव ज्ञापयत्याचार्यो 'विभाषा आत्वम्' इति** । भाव है कि आचार्य ने जो लाघव की उपेक्षा कर कृताकार निर्देश किया है यही ज्ञापित कर रहा है कि 'अष्टन्' शब्द को आत्व विकल्प से होता है । अतएव 'अष्टनो दीर्घात्' सूत्र में दीर्घ ग्रहण भी चरितार्थ होता है ।

१४. विभक्त्योर्ग्रहणम् इति ।

'ङेप्रथमयोरम्' सूत्र ७.१.२८ के भाष्य में यह विचार किया गया है कि इस सूत्र में 'प्रथयो:' शब्द से प्रथम दो विभक्तियों त्रिकों का ग्रहण है अथवा प्रथम दो प्रत्ययों का ही ग्रहण है । इस संशय में विभक्ति पक्ष को ही स्वीकार किया जाता है । भाष्य में कहा गया है कि जैसे प्रथयो: पूर्व सवर्ण:' ६.१ सूत्र में प्रथमयो:' पद से प्रथम दो विभक्तियां ही गृहीत होती है । उसी तरह यहां प्रसिद्धिवशात् प्रथम विभक्तियां ही गृहीत होती हैं । यदि यह कहो कि 'प्रथमयो: पूर्वसवर्ण:' सूत्र में 'तस्माच्छसो न: पुंसि' सूत्र में प्रकान्त पूर्व सवर्ण के प्रतिनिर्देश से ज्ञापित होता है कि 'प्रथमयो:' पद से प्रथम दो विभक्तियां ही गृहीत होती हैं तो यहां भी प्रथम विभक्ति का ग्रहण ज्ञापक द्वारा संभव है । इसी अभिप्राय से प्रकृत ज्ञापन का उपन्यास किया गया-- **'यत्तर्हि युष्मदस्मदो-**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रनादेशे' द्वितीयायां चेत्याह तज्ज्ञापयत्याचार्यो विभक्त्योर्ग्रहणम् इति ' **इस तरह द्वितीया विभक्ति परे रहते** भी 'युस्मदस्मदोऽरनादेशे' सूत्र से ही आत्व सिद्ध ही होता 'द्वितीयां च' सूत्र द्वारा आत्वविधान व्यर्थ हो जाता है। यही 'द्वितीयायां च' सूत्र में भी 'प्रथमयोः पद से प्रथम विभक्ति द्वारा ही गृहीत होता है। प्रत्यय गृहीत नहीं होते हैं। यदि कहो कि 'द्वितीयायां च' सूत्र द्वारा आत्व विधान 'योऽचि' सूत्र से प्राप्त यकारादेश के बाधन लिए किया गया है। उससे यह ज्ञापन संभव नहीं है तो यह ठीक नहीं है क्यों कि यदि मकारादेश का बाधन ही प्रयोजन है **है तो 'यो च्यनमौटोः'** ऐसा सूत्र कर के द्वितीया में यादेश के प्रतिषेध कर देने से आत्व की सिद्धि हो सकती है। पृथक् से 'द्वितीयायां च' सूत्र व्यर्थ ही हो जाता है। इस तरह यह ज्ञापन निर्दोष ही है। ऐसा प्रदीप व्याख्या में कैयट ने स्पष्ट किया है।

१५. अन्तरङ्गानपि विधीन् बहिरङ्ल्यब् बाधते।

'समासे नन्पूर्वे क्त्वो ल्यप्' ७.१.३१ सूत्र के भाष्य में एक वार्तिक पढ़ा गया है— **उपदेशावस्थायां ल्यब् भवतीतिवक्तव्यम्** इसके द्वारा क्त्वा के उपदेश काल में ही 'ल्यब्' आदेश की आवश्यकता बताई गई है। क्त्वा के उपदेश काल में समास की प्रसक्ति न होने से 'समासे' पद में विषयसप्तमी का आश्रयण करना होगा। इस तरह समास की विषयता में समास के बिना ही 'क्त' प्रत्यय के उपदेश काल में ल्यप्' आदेश होगा। फल यह होगा कि हित्व, दत्व, आत्व, इत्व, दीर्घत्व श् उठ् आदेश ल्यप् में नहीं होंगे। धा धातु से क्त्वा में 'हित्वा' प्रयोग होता है। जबकि ल्यप् आदेश करने पर 'प्रधाय' होता है। खन् धातु से क्त्वा में जब 'जनसनरवनां सज्जलोः'० सूत्र से आत्व होकर 'खात्वा' रूप होता है। ल्यप् प्रावन्य होता है। 'स्था' धातु से '–त्वा' में इत्व होकर 'स्थित्वा' प्रयोग होता है। जबकि ल्यप् में प्रस्थाय प्रयोग होता है। 'पा' धातु से क्त्वा में 'पीत्वा' तथा ल्यप् में 'प्रयाय' प्रयोग होता है। शम् धातु से क्त्वा में दीर्घ द्वारा शान्त्वा प्रयोग होता है जबकि ल्यप् में प्रशम्य प्रयोग होता है। प्रच्छ धातु से क्त्वा में श् आदेश होकर 'पृष्ट्वा' रूप होता है जबकि ल्यप् में आपृच्छ्य होता है। दिव धातु से क्त्वा में ऊठ होकर पूत्वा प्रयोग होता है तो ल्यप् में प्रदीव्य होता है। इसी तरह 'उदितो वा' सूत्र से क्त्वा में विकल्प से इडागम' देवित्वा' रूप होता है तो ल्यप् में प्रदीव्य होता है। इसलिए ल्यवादेश में इन कार्यों की व्यावृति के लिए उपदेश काल में ही व्यवादेश करना चाहिए। अन्यथा ये आदेश अन्तरङ्ग होने से समास सापेक्ष ल्यप् की अपेक्षा प्रथम ही प्रवृत्त हो जायेगी। इष्ट रूप की सिद्धि नहीं हो सकेगी। अतः उपदेशावस्था में ल्यप् विधानार्थ वचन करना आवश्यक है। इस आक्षेप के समाधान में प्रकृत ज्ञापन का उपन्यास किया गया है— **आचार्य प्रवृत्तिर्ज्ञाप्यति—अन्तरङ्गानपि विधीन् बहिरङ्गोऽपि** ल्यप् बाधते। इति। **यदयंमदे जग्धिर्ल्यप्तिकिति इति कितीत्येव सिद्धे ल्यव् ग्रहणं करोति**। भाव यह है कि 'अदोजग्धिर्ल्यप्ति किति' सूत्र से ल्यप् तथा तादि कित् प्रत्यय परे रहते अद् के स्थान में 'जग्ध' आदेश का विधान किया जाता है। यदि ल्यवादेशापेक्षया भी अन्तरङ्ग विधि बलवान् होती तो प्रजग्ध्य आदि प्रयोगों में क्त्वावस्था में अन्तरङ्गत्वात् तादि प्रत्यय निमित्तक ही 'जग्ध' आदेश हो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जाता । पुनः इस सूत्र में 'ल्यप्' का ग्रहण व्यर्थ हो जाता है। यह ल्यप् ग्रहण व्यर्थ होकर ज्ञापित कर रहा है कि अन्तरङ्ग विधि को भी बांधकर बहिरङ्ग भी ल्यब् आदेश होता है । इस तरह प्रधाय प्रदाय आदि प्रयोग सिद्ध होते हैं । ज्ञापन होने से 'ल्यप्' ग्रहण में चरितार्थ हो जाता है । यह ज्ञापन सर्वथा निरवद्य तथा आवश्यक ही है ।

१६. इयमिह परिभाषा भवति प्रत्ययग्रहण इतीयं न भवति बृग्ग्रहण इति ।

'समासे नञ्पूर्वे क्त्वोल्यप्' सूत्र के भाष्य में **'स्नात्वाकालकः'** आदि प्रयोगों में समास घटकतया क्त्वा के स्थान में प्राप्त ल्यबादेश के प्रतिषेध की कर्तव्यता आशंकित हुई है— **स्नात्वा-कालकादिषु च प्रतिषेधो वक्तव्यः स्नात्वा कालकः** 'पीत्वा स्थिरकः' मुक्त्वासुहितकः इति' । ये समस्त प्रयोग मयूरव्यंसकादि गण में नियमित हैं । इन प्रयोगों में क्त्वा के स्थान में ल्यप् प्राप्त है । उसका निषेध करना चाहिए। यह शंकाकार का अभिप्राय है । इसके समाधान में पक्षान्तरतया **'अनञो वा परस्य'** एक वार्तिक उपन्यस्त हुआ है । इसका अभिप्राय यह है कि इस सूत्र में क्त्वा के प्रत्यय होने के कारण **'प्रत्ययग्रहणे यस्यात्सविहितस्तदादेस्तदन्तग्रहणम्'** परिभाषा द्वारा क्त्वा से क्त्वान्त का ग्रहण होगा । इसी तरह सूत्र में अनञ् पद लुप्त सप्तम्यन्त हो कर 'पूर्वे' का विशेषण हो जायेगा । **अर्थात् 'पूर्वे सति समासे क्त्वाल्यव् भवति'** इस तरह सूत्रस्थ पदों का संबन्ध करके समास में अनञ् से परे जो क्त्वा प्रत्ययान्त, तदवयव-निदिश्यमान क्त्वा के स्थान में ल्यप् आदेश हो ऐसा सूत्रार्थ संपन्न हो जाता है । इस तरह 'स्नात्वा कालकः' आदि प्रयोगों में ल्यप् की प्रसक्ति नहीं होगी। इस पर पुनः यह आशंका हो गई कि जसे प्रत्यय ग्रहण परिभाषा द्वारा क्त्वा से क्त्वान्त गृहीत होता है, उसी तरह **'कृग्ग्रहणे गतिकारक पूर्वस्यापि ग्रहणम्'** परिभाषा द्वारा गतिकारक पूर्वक क्त्वान्त भी क्त्वा से गृहीत हो जायेगा । इस तरह प्रकृत्य, प्रहृत्य इन प्रयोगों में नञ् भिन्न पूर्वकत्वाभाव होने से ल्यबादेश नहीं होगा। इसका समाधान भाष्य में यह किया गया है कि अनिष्टापत्ति के भय से **'कृग्ग्रहणे गतिकारकपूर्वस्यापि** ग्रहणम् यह परिभाषा यहां आश्रयिमाण नहीं होती है । अन्यथा प्रकृत्य इत्यादि गतिपूर्वक इष्ट प्रयोग असिद्ध हो जायेंगे । 'परमकृत्वा', 'उत्तमकृत्वा' इन प्रयोगों में गतिकारक पूर्वत्वाभाव होने पर भी अनिष्ट ल्यबादेश प्रसक्त हो जायेंगे। अत **'कृग्ग्रहणे गतिकारक पूर्वस्यापि ग्रहणम्'** यह परिभाषा यहां नहीं प्रवृत्त होती है । इस पर पुनः यह आशंका होती है कि जब दोनों परिभाषाएं **'प्रत्ययग्रहणे यस्मातविहितस्तदादेः' तथा कृग्ग्रहणं गतिकारक पूर्वस्या पिग्रहणम्**— समान रूप से उपस्थिति हैं। **'प्रत्ययग्रहणे'** यही परिभाषा यहां प्रवृत्त होगी 'कृग्रहण' यह परिभाषा नहीं प्रवृत्त होगी। इसमें क्या वाचोयुक्ति होगी । इसी आक्षेप के समाधान में प्रकृतज्ञापन का उपन्यास किया गया है— **आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति— इयमिह परिभाषा भवति प्रत्यग्रणण इति इयंन भवति कृग्ग्रहण इति, यदमनञिति प्रतिषेधं शास्ति।** भाव यह है कि यहां जो अनञ् से नञ् पूर्वक त्व में ल्यबादेश का निषेध किया गया है वही ज्ञापित कर रहा है

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कि यहां 'क ग्रहणे' परिभाषा प्रवृत्त नहीं होती है। क्यों कि जब यह नञ् न गति है, न कारक ही है तो तत्पूर्वक क्त्वादेश का कोई प्रसंग ही नहीं था किन्तु नञ् पूर्वक का निषेध किया गया है, इससे यह स्पष्ट है कि आचार्य यह देख रहे हैं कि यहां प्रत्यय ग्रहणे परिभाषा तो प्रवृत्त होती है 'कृग्ग्रहणे' परिभाषा प्रवृत्त नहीं होती है । आर्थात् गतिकारक पूर्वक्त्वान्त का ग्रहण नहीं होता है।

१७. नायमचामन्त्यात्परो भवति।

'आमिसर्वनाम्नः सुट्', **'येरूद्यं ह्रस्वनद्यापो नुट्'** ७.१.५२,५४ सूत्रों के भाष्य में यह विचार किया गया है कि इस सूत्र में **'आम्'** शब्द से किस 'आम्' का ग्रहण किया जायेगा । क्यों कि इस शास्त्र में अनेक 'आम्' शब्द हैं । 'कास्प्रत्ययादाममन्त्रे लिटि'— सूत्र से विहित भी आम् प्रत्यय है । षष्ठी विभक्ति का बहुवचन 'आम्' प्रत्यय है । **'किमेत्तिङव्ययघादाम्वद्रव्य प्रकर्षे' सूत्र** विहित आम् प्रत्यय है तथा 'ङेराम्नद्याम्नीभ्यः'— सूत्र से 'ङि' के स्थान मे विहित भी आम् है। किस 'आम' का ग्रहण हो । इस संशय में षष्ठो बहुवचन आम् का ही ग्रहण इस सूत्र में सिद्धान्तित किया गया है। शेष 'आम्' का ग्रहण करना यहाँ संभव नहीं है। यदि ग्रहण किया भी जाये तो निष्प्रयोजन सिद्ध होता है। अतः षष्ठो विभक्ति का बहुवचन ही आम् यहां गृहीत हुआ है । इस पर आक्षेप किया गया है कि 'कास्प्रत्ययादाममन्त्रे लिटि' सूत्र विहित आम् को नुडागम क्यों नहीं होता है? इसके उत्तर में कहा गया है कि **'अननुबन्धकग्रहणे न सानुबधककस्य ग्रहणम्'** इस परिभाषा से निरनवन्धक आम् के ग्रहण से जो सानुबन्धक आम 'कासप्रत्ययादाममन्त्रेलिटि' सूत्र से विहित है वह गृहीत नहीं होगा । 'कासप्रत्ययादाममन्त्रे लिटि सूत्र से विहित जो आम है, उसमें मकार को इत्संज्ञा से परिमाणार्थ अकार अनुबन्ध आवश्यक है। अन्यथा आम् में मकार की इत्संज्ञा 'हलन्त्यम्' सूत्र से होकर मित्व प्रयुक्त 'मिदचोऽन्त्यात्परः' सूत्र द्वारा अन्त्य अच् परे विहित होने लगेगा। जबकि प्रत्ययान्त धातु से परे ही इसका विधान इष्ट है। यदि कहो कि प्रत्ययान्त धातु सभी अकारान्त हैं, उनमें अन्त्याच् से परे ही अथवा प्रत्ययान्त से परे हो कोई विशेषता नहीं होगी तो यह ठीक नहीं होगा क्योंकि प्रत्ययान्त स्थल में विशेषता न होने पर भी 'इजादेश्च गुरुमतोऽनृच्छः' इत्यादि सूत्रों के विषयक 'ईहाञ्चकार' आदि में विशेषता होती ही । अतः मित्व प्रयुक्त अतिप्रसक्ति के निवारणार्थ 'कास्प्रत्ययादाम-मन्त्रे' लिटि' सूत्र विहित आम् को सानुबन्धक अवश्य स्वीकार करना चाहिए। इस तरह यह आम सानुबन्धक होने से यहां 'आम्' के ग्रहण से गृहीत नहीं होगा । इस पर पुनः पूर्वपक्षी ने 'कासप्रत्ययादाममन्त्रे लिटि' सूत्र विहित 'आम्' के भी निरनुबन्धकत्व साधन के लिए प्रकृत ज्ञापन का उपन्यास किया है— **अत्रापि' आस्कासोराम् वचनं ज्ञापकम्—नायमचामन्त्यात्परो भवति इति ।** भाव यह है कि 'दयायासश्यच' सूत्र द्वारा आस् धातु से आम् का विधान किया गया है। कास् धातु से 'आम्' प्रत्यय का विधान 'कास्प्रत्ययादानमन्येलिटि' सूत्र से हो रहा है। इस तरह 'आस्' तथा कास्' धातु से जो आम् का विधान किया गया है वह यदिमित् होकर अन्त्य अच् से परे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हो तो सवर्ण दीर्घ हो जाने पर विशेषभावाद् व्यर्थ ही हो जाता है। इस तरह आस, कास् धातु से आम् विधान ही उक्तरीत्या व्यर्थ होकर ज्ञापित कर रहा है कि आम् प्रत्यय मित्वेन अन्त्य अच् से पर नहीं होता है। किन्तु धातु से परे ही होता है। इस तरह यह भी आम् निरनुबन्धक ही है । यहां भी नुडागम की प्रसक्ति होगी ही । यही पूर्वपक्षी का आशय है। यह ज्ञापन पूर्वपक्षीय है । सिद्धान्त में 'कासप्रत्ययादाममन्त्रेलिटि' सूत्र विहित 'आम्' को नुडागम की प्रसक्ति ही नहीं होगी । 'कारयाञ्चकार' आदि प्रयोगों में नित्यत्वात् नुडागम को बांधकर णि के स्थान में अयादेश हो जायेगा । 'जिहीर्षाञ्चकार' में नित्यत्वेन 'अतो लापः' सूत्र से लोप ही हो जायेगा। पुनः निमित्ताभावादेव नुडागम प्रसक्त नहीं होगा । कोई दोष नहीं होगा। इसलिए धातु विहित 'आम्' का ग्रहण यहां अनावश्यकतया नहीं होता है । यह सिद्धान्ती का अभिप्राय है।

१८. भवत्ययेकार इति ।

'तृज्वत् क्रोष्टुः' ७.१.९५ 'स्त्रियां च ७.१.९६ सूत्र के भाष्य में विचार किया गया है कि 'स्त्रियां च' इसमें विभक्ति का अनुवर्तन होता है कि नहीं ? विशेषता यह होगी कि यदि इस सूत्र में भी विभक्ति ग्रहण अनुवृत्त होगा तो 'क्रोष्ट्री भक्तिः' प्रयोग सिद्ध नहीं होगा। 'क्रोष्ट्री भक्तिः' अस्य—इस विग्रह में क्रोष्टृ+सु भक्ति+सु इस अवस्था में **'अन्तरङ्गानपि विधीन् बहिरङ्गो लुग्बाधते'** इस न्याय से समास तथा विभक्ति लुक् हो जाने पर विभक्त्यभावत्तृज्वद्भाव नहीं होगा । तृज्वद्भाव के अभाव में तत्प्रत्युक्त 'ऋन्नेभ्यो ङीप्' सूत्र से ङीप् भी नहीं होगा। इस आक्षेप के समाधान में कहा गया है **'ईकार एव तृज्वद्भावं वक्ष्यामि'** भाव यह है कि सूत्र घटक स्त्री शब्द में ईकार का प्रश्लेष कर ईकार परे रहते पी तृज्वद्भाव का विधान होगा। 'क्रोष्ट्री भक्ति' प्रयोग में कोई क्षति नहीं होगी । इस पर यह आशंका होती है कि ईकार परे रहते तृज्वद्भाव होगा तृज्वद्भाव होने पर ही 'ऋदन्तत्व प्रयुक्त ईकार प्रत्यय ऋन्नेभ्यो ङीप्' सूत्र से होगा । इस तरह अन्योन्या श्रयतापत्ति हो जायेगी । अन्योन्याश्रय कार्य संभव नहीं होते है । इस आशंका में प्रकृत ज्ञापन का आश्रय लिया गया है— **एवं तर्हि एतज्ज्ञापयत्याचार्यो भवत्यत्र ईकार इति । यदयं मीकारे तृज्वद्भावं शास्ति ।** भाव यह है कि स्त्रियां च' सूत्र में ईकार का प्रश्लेषकरके ईकार परे रहते तृज्वद्भाव का विधान किया गया है, यही विधान अन्यथानुपपत्या ज्ञापित कर रहा है कि यहां ईकार प्रत्यय होता ही है । इस तरह ज्ञापक बलेन ङीप् अथवा ङीष् में स्वर भेद नहीं होगा क्योंकि ङीप् में भी तृजन्तत्वेन अन्तोदात्त क्रोष्टृ + ई इस अवस्था में यण् हो जाने पर 'उदात्तयणोहल्पूर्वात्' सूत्र से अन्तोदात्तत्व ही स्वर होगा । वस्तुतः 'स्त्रियां च' सूत्र में अन्य कोई निमित्त अपेक्षित नहीं हैं केवल अङ्ग सञ्ज्ञा मात्र अपेक्षित है— **'अङ्गस्य क्रोष्टुस्तृज्वद् भवति स्त्रियाम्'** यही इस सूत्र का अर्थ है । 'क्रोष्ट्रीभक्तिः' आदि प्रयोगों में प्रत्यय लक्षणे न अङ्ग संज्ञा सिद्ध ही हो जाती है । कोई दोष नहीं होगा । न लुमताङ्गस्य' निषेध लब्धाङ्गसंज्ञक को कार्य करने में प्रवृत्त होता है। अङ्ग संज्ञा करने में प्रवृत्त नहीं हो सकता है । इस तरह ज्ञापक बलात् ईकार प्रत्यय स्वीकार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करने में ङीन् प्रत्यय की प्रसक्ति की भी आशंका हो सकती है यह भाष्य में स्पष्ट है।

१९. न रादेशोनुटं बाधते इति।

तृज्वत्क्रोष्टुः' सूत्र ७.१.९५, भाष्य में **'नुमचिरतृज्वद्भविभ्योनुट् पूर्वविप्रतिषेधेन'** एक वार्तिक पढा गया है। इसका तात्पर्य है कि नुट् 'अचिरऋतः' सूत्र विहित टादेश तथा तृज्वद्भाव को बांध कर पूर्वविप्रतिषेधेन नुडागम का ही विधान होना चाहिए। इस तरह 'भपूणाम्', 'जतूनाम्' प्रयोगों में 'इकोऽचिविभक्तौ' सूत्र से नुम् को बांधकर नुट् होता है। 'तिसृणाम्', 'चतसृणाम्', प्रयोगों में तिसृ+आम् चतसृ+आम् इस अवस्था में 'अचि र ऋतः' सूत्र से प्राप्त 'र' आदेश को बांधकर नुडागम हुआ है। 'क्रोष्ट्रनम्' प्रयोग में क्रोष्टृ+आम् इस अवस्था में 'विभाषा तृतीयादिष्वचि' सूत्र से प्राप्त 'तृज्वद्भाव को बांधकर नुडागम ही हुआ। इस वार्तिक के विषय में ही यह आशंका होती है कि 'तिसृणाम्' आदि प्रयोगों में 'पूर्व विप्रतिषेध स्वीकार करने पर भी सिद्धि संभव नहीं है जब तक कि नुट् के विषय में रादेश का प्रतिषेध नहीं किया जायेगा। क्यों कि रादेश सर्वापवादतया जैसे गुण तथा पूर्वसवर्ण का बाध 'तिस्रः तिष्ठन्ति' तिस्रः पश्य' प्रयोगों में करता है वैसे ही 'तिसृणाम्' आदि प्रयोगों में नुडादेश का भी बाध कर सकता है। अतः नुट् के विषय में रादेश का ज्ञापन करना आवश्यक है। इसी आक्षेप में प्रकृत ज्ञापन का उपन्यास किया गया है। **आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति—न रादेशो नुटं बाधते इति यदयं न तिसृ चतसृ' इति प्रतिषेध शास्ति।** नापि दीर्घत्वस्य। भाव यह है कि 'तिसृणाम्' आदि प्रयोगों में 'नामि' सूत्र से प्राप्त दीर्घ का निषेध 'न तिसृ चतसृ' सूत्र द्वारा आचार्य ने किया है। यदि रादेश नुट् का बोधक होता तो तिसृ+आम् इस अवस्था में नुडागम ही नहीं हो सकता। नामि सूत्र से दीर्घ की प्रसक्ति भी नहीं होती 'न तिसृ चतसृ' सूत्र द्वारा दीर्घ निषेध करना व्यर्थ ही हो जाता। इस तरह यही दीर्घ निषेध विधान व्यर्थ होकर ज्ञापित कर रहा है कि सर्वापवाद भी रादेश नुट् का बाध नहीं करता है।

२०. उभयोः स प्रत्यारम्भः 'वृङ्वृञोर्ग्रहणात्'

'नेड्वशिकृति' सूत्र के भाष्य में कृसृभृवृस्तुद्रुस्रुश्रुवोर्लिटि' सूत्र के विषय में यह निश्चय किया गया है इस सूत्र में कृसृभृग्रहण नियमार्थ है— स्तुद्रुस्नुश्रु का ग्रहण निषेधार्थ है तथा 'वृ' का ग्रहण ज्ञापनार्थ है। वृ ग्रहण द्वारा ज्ञापित अर्थ का विषय इसी सूत्र के भाष्य में सूत्र घटक कृद्ग्रहण के प्रयोग विचार के प्रसंग में बताया गया है। विचार है कि 'नेड्वशिकृति' सूत्र में कृत् का ग्रहण क्यों किया गया। कृद्ग्रहण न करते तो भी कोई अतिप्रसक्ति नहीं होती, ऐसा पूर्वपक्षी का अभिप्राय है। उत्तर में विभिदिव' 'विभिदिम' प्रयोगों में भिद् धातु लिट् लकार के वस् मस् प्रत्यय में इट् का प्रतिषेध प्रसक्त न होने के लिए कृत् ग्रहण आवश्यक बताया गया। इस पर पुनः आशंका की गई कि 'विभिदिव' आदि प्रयोगों में **'कृसृभृ' नियम** से ही इट् हो जायेगा। इसके लिए कृद्ग्रहण व्यर्थ ही है। यदि यह कहो कि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'कसृभृ' नियम केवल 'एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्' सूत्र से प्राप्त प्रकृत्याश्रय इण्निषेध का ही निवर्तक होगा। 'नेड्वशि' से प्रत्ययाश्रय निषेध प्राप्त है। इसका निवर्तक यह नियम नहीं हो सकता है। नियमशास्त्र सजातीय में ही प्रवृत होता है। प्रकृत्याश्रय इण्निषेध को ही लेकर कसृभृ नियम प्रवृत्त होता है इसलिए प्रकृत्याश्रय 'इण्निषेध' का ही निवर्तक होगा। प्रत्ययाश्रय निषेध नहीं होगा। इस तरह नेड्वशि द्वारा प्राप्त प्रत्ययाश्रय निषेध यहां प्रसक्त न हो इसलिए 'नेड्वशि कृति' सूत्र में कृग्रहण आवश्यक है तो यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि 'कसृभृ नियम प्रकृत्याश्रय प्रत्ययाश्रय दोनों तरह के इण्निषेध का निवर्तक है, यह 'कृसृभृवृस्तुद्रुस्रुश्रुवोलिटि' सूत्र में सामान्य वृ से उपात्त वृञ् ग्रहण से ज्ञापित होता है— **उभयोः स प्रत्यारम्भः। कथ ज्ञायते वृङ् वृञोग्रहणात्**। इसका भाव यह है कि ये दोनों वृङ् तथा वृञ् धातु उदात्त है। इन में 'एकाच उपदेशे इनुदात्तात्' सूत्र से इण्निषेध प्राप्त नहीं है। यदि यह क्रादि नियम प्रकृत्याश्रय निषेध का ही बाधक हो 'श्र्युकः किति' नेड्वसि' सूत्र द्वारा प्राप्त प्रत्ययाश्रय का निर्वतक न होता ववृसे ववृमहे प्रयोगों में निषेध सिद्ध ही था। इस सूत्र में वृ शब्द द्वारा वृङ् वृञ् का ग्रहण व्यर्थ हो है। यह वृ शब्दोपात्त वृङ् वृञ् ग्रहण व्यर्थ होकर ज्ञापित कर रहा है कि 'उभयोः स **प्रत्यारम्भ इति**' प्रकृत्याश्रय प्रत्ययाश्रय दोनों तरह के इण्निषेध का निवर्तक यह नियम होता है। यदि कहो कि 'थल्' में 'इण्निषेधाथ वृ ग्रहण आवश्यक है तो यह कहना संभव नहीं है क्यों कि 'बभूथाततन्थजागृम्भववर्थेति निगमे' सूत्र द्वारा छन्द ववर्थ निपातन से लोक में 'ववरिथ' प्रयोग ही अभिमतत्वेन ज्ञात हुआ है अतः यह ज्ञापन सर्वथा निरवद्य ही है।

२१. यदुपाधेर्विभाषा तदुपाधेः प्रतिषेधः इति।

आदितश्च ७.२.१६ विभाषा भावादिकर्मणोः ७.२.१७ सूत्रों के भाष्य में दोनों सूत्रों के के योगविभाग पर आक्षेप किया गया कि **'किमर्थो योगविभागो न आदितो विभाषा भावादिकर्मणोदित्येवोच्येत'**। इस पर यह समाधान किया गया कि यदि 'विभाषाभावादिर्मणोः' के साथ ही 'आदितश्च' एक सूत्र में बद्ध करते हैं तो कर्ता में विहित क्त प्रत्यय में इट् का निषेध नहीं होगा 'प्रफुल्लः' आदि प्रयोग सिद्ध नहीं हो सकेंगे। अतः' आदितश्च' सूत्र पृथक् होना चाहिए। इस पर यह कहा गया कि 'यस्य विभाषा' सूत्र से ही 'प्रफुल्तः' आदि प्रयोगों में इण्निषेध हो जायेगा। योगविभाग व्यर्थ ही है। इसी आक्षेप के समाधान में प्रकृत ज्ञापन का उपन्यास किया गया है— **एवं तर्हि सिद्धे सति यद्योगविभागं करोति तज्ज्ञापयत्याचार्यः— यदुपाधेर्विभाषा तदुपाधेः प्रतिषेधः इति**। भाव यह है कि यही योग विभाग उक्त रीति से व्यर्थ होकर ज्ञापित कर रहा है कि जिस निमित्त को मान कर विभाषा विहित है उसी निमित्त में प्रतिषेध भी प्रवृत्त होता है। इस तरह यहाँ भाव तथा आदि कर्म में विहित क्त प्रत्यय में विकल्प का विधान होने से कर्ता कर्म में विहित क्त प्रत्यय के विषय में निषेध प्रवृत्त नहीं हो सकता है अतः प्रकृत ज्ञापन के आश्रयण में 'आदितश्च' यह पृथक् सूत्र आवश्यक सिद्ध होता है। इस ज्ञापन का प्रयोजन यह होगा कि **'यस्य विभाषा विदेः'** यह वार्तिक नहीं करना पडेगा। क्यों कि **'वि= हितः' विहितवान् ये प्रयोग** अदादि 'विद ज्ञाने' धातु के हैं। ० **'नुदविदोन्यत्राघ्राह्रीभ्यो**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

न्यतरस्यां सूत्र द्वारा जो निष्ठा को विकल्प से नादेश विधान किया गया है वह तौदादिक वह है विद् धातु के विषय में है। अतः दोनों के निमित्त में भेद होने से आदादिक विद् धातु में निषेध प्रवृत्त नहीं होगा। इस तरह यह ज्ञापन निवद्य तथा सप्रयोजन है।

२२. विशब्देन घुषेर्विभाषा णिज्भवति।

घुषिरविशब्दने' ७.२.२२ सूत्र के भाष्य में विचार किया गया है कि इस सूत्र में अवि-शब्द ने क्यों कहा गया है। क्योंकि भौवादिक घुष धातु तो अविशब्दनार्थक ही है। विशब्दनार्थक जो घुष धातु है वह चुरादि है। उससे 'णिच्' प्रत्यय ही है, यहां केवल घुष् धातु ही पढ़ा गया है जो अविशब्दनार्थक ही है। इस तरह विशब्दन का प्रतिषेध व्यर्थ ही है। इसी आक्षेप के समाधान में प्रकृत ज्ञापन का उपन्यास किया गया हैं। **एवं तर्हि सिद्धे सति यदयं भवि-शब्देन इत्याह तज्ज्ञापयत्याचार्योविशब्दने घुषेर्विभाषा णिज्यवति इति**। इसका यह भाव है कि **घुषिरवि शब्दने घुषेर्विभाषा णिज्यवति इति**। इसका यह भाव है कि घुषिरवि शब्द सूत्र में उक्त रीति से व्यर्थ होते हुए जो 'अवि शब्दने' कहा गया है वही व्यर्थ होकर ज्ञापित कर रहा है कि विशब्द-नार्थक घुष धातु से णि प्रत्यय विकल्प होता है। इस तरह विशब्दनार्थक घुष् धातु से णिजभाव में भी यह निषेध प्रवृत्त नहीं इसलिए' 'अविशब्दने' यह वचन सार्थक होता है। इस ज्ञापन का प्रयोजन भी भाषा में ही उद्धृत किया गया है। **महीपाल वचः श्रुत्वा जुघुषुः'** इस वाक्य में 'घोषयाञ्चक्रुः' के स्थान में अतएव 'जुघुषुः' प्रयोग किया गया है। अतः यह ज्ञापन भी स्वरूपतः निर्दुष्ट तथा सप्रयोजन ही है। इस सूत्र का उदाहरण 'घुष्टा रज्जुः' प्रयोग होता है।

२३. एकाज्ग्रहणमेव तर्हि ज्ञापकम् कृते द्विर्वचने य एकाच्

'वस्वोकाद्घसाम्' ७.२.६७ सूत्र के भाष्य में इस सूत्र की व्याख्या एकाच् आदन्त तथा घसि धातु से परे वसु को इट् का आगम होता है इस तरह को गई है। एतदनन्तर एकाच् ग्रहण के प्रयोजन में बताया गया है **इह मा भूत् 'विभिद्वान्' 'चिच्छिद्वान्'** इति। भाव यह है कि यदि एकाच् ग्रहण नहीं करते है तो भिद्, छिद् धातु से क्वसु प्रत्यय करने पर 'विभिद्वान्' 'चिच्छिद्वान्' प्रयोगों में भी इडागम प्रसक्त होगा। इस पर पुनः यह आशंका होती है कि 'भिद्' धातु 'छिद्' धातु तो एकाच् ही है अतः एकाच् ग्रहण करने पर भी यहां इडागम होना ही चाहिए ? इस आक्षेप के समाधान में प्रस्तुत ज्ञापन का उपन्यास हुआ है— **'एवं तर्हि कृते द्विर्वचने य एकाच् किं वक्तव्यमेतत् ? नहि। कथमनुच्यमानं गंस्यते। एकाज्ग्रहण सामर्थ्यात्'** इसका भाव यह है कि कोई धातु अनेकाच् नहीं है। जिसकी व्यावृत्ति के लिए इस सूत्र में एकाच् ग्रहण आवश्यक होता। किन्तु एकाच् ग्रहण जो आचार्य ने किया है तत्सामर्थ्याद् ज्ञात हो रहा है कि द्विर्वचन करने पर भी जो एकाच् हो वही एकाच् ग्रहण से गृहीत होगा। 'विभिद्वान्' आदि प्रयोग द्विर्वचनानन्तर एकाच् नहीं है। अतः यहां इट् नहीं होता है। यदि कहो कि जागृ धातु द्वित्व से पहले भी एकाच् है। यहां इट् की व्यावृत्ति के लिए एकाच् ग्रहण साव-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

काश है। इससे ज्ञापन नहीं किया जा सकता है तो 'आद्' ग्रहण ही इस अर्थ का ज्ञापक हो सकता है। क्यों कि कोई आकारान्त धातु द्विवचन से पहले अनेकाच् नहीं है। सभी आकारान्त धातु एकाच् ही हैं। इस तरह यहां भी एकाच्त्वे इडागम द्वारा 'पपिवान् अभिवान्' प्रयोग सिद्ध हो जाता। पुनः आद् ग्रहण व्यर्थ ही हो रहा है। यही व्यर्थ होकर ज्ञापित करता है कि एकाच् ग्रहण से द्विर्वचन करने पर जो एकाच् है वहीं इस सूत्र में गृहीत है। यही कहो कि 'दरिद्रा' धातु अनेकाच् है एतदर्थ आद् ग्रहण इस सूत्र में आवश्यक हो सकता है। ऐसी स्थिति में आद् ग्रहण इस अर्थ का ज्ञापक नहीं हो सकता है तो एकाच् ग्रहण ही इस अर्थ का ज्ञापक हो सकता है **'एकाज्ग्रहणमेव तर्हि ज्ञापकम्'**। यदि यह कहते हो कि एकाच् ग्रहण जागृ धातु की व्यावृत्ति के लिए है। वह कैसे ज्ञापक होगा तो यह ठीक नहीं है क्योंकि एक मात्र उदाहरण एकाज्ग्रहण को सार्थक नहीं बना सकता है यदि यही प्रयोजन है तो **'जागर्तेः'** यही कह देते 'सामान्यतः' एकाच् शब्द का उपादान करके जो इसकी व्यावृत्ति की गई है वह निर्बाध इस अर्थ का ज्ञापक हो सकता है।

२४. अन्तरङ्गानपि विधीन् वाधित्वा बहिरङ्गो लुग्भवति

'प्रत्ययोत्तर पदयोश्च' ७.२.९८ सूत्र के भाष्य में इस सूत्र के प्रयोजन का विचार किया गया है— **'किमर्थमिदमुच्यते नत्यावेकवचन इत्येव सिद्धम्?'** इसका भाव यह है कि 'त्वत्पुत्रः मत्पुत्रः' प्रयोगों में युस्मद्+अस्+पुत्र सु+तथा अस्मद्+अस् पुत्र+सु इस विग्रहावस्था में 'त्वमावेकवचने' सूत्र से ही त्व में य आदेश सिद्ध हो सकते हैं। पुनः इस सूत्र का क्या प्रयोजन है! यदि यह कहो कि समास होने के अनन्तर ही विभक्ति का लुक् हो जायेगा। न लुमताङ्गस्य' सूत्र से निषिद्ध होने के कारण 'प्रत्यय लोपे प्रत्यय लक्षणम्' सूत्र से प्रत्ययलक्षण कार्य की प्रवृत्ति नहीं होगी अतः 'त्वमावेकवचने' से 'त्वम्' आदेश सिद्ध नहीं होता है। अतः यह सूत्र आवश्यक है तो यह ठीक नहीं है क्यों कि यह विचारणीय है कि यहां पहले लुक् एवं तत्प्रयोजक समास किया जाये अथवा त्व, य आदेश किये जायें। दोनों में परत्वाद् अन्तरङ्गत्वाच्च त्व म आदेश ही प्राप्त होगा। इस तरह 'प्रत्ययोत्तर पदयोश्च'— यह सूत्र पृथक् से करना व्यर्थ ही है? इसी आक्षेप के समाधान में प्रकृत ज्ञापन का उपन्यास किया गया है— **एवं तर्हि सिद्धे सति यत्प्रत्ययोत्तरपदयोस्त्वमौ शास्ति तज्ज्ञापयत्याचार्योऽन्तरङ्गानपि विधीन् वाधित्वा बहिरङ्गो लुग्भवति इति।** भाव यह है कि उक्त रीति से 'प्रत्ययोत्तरपदयोश्च' सूत्र से पृथक् 'त्व', 'म' आदेश का विधान ही व्यर्थ होकर ज्ञापित कर रहा है कि अनन्तरङ्ग कार्यों को भी बाध कर बहिरङ्ग होता हुआ भी लुक् प्रयोजक की मूल सामासादि तथा लुक् ही होता है। एतएव **'गोमान् प्रियो यस्य'** ऐसे विग्रह में बहुव्रीहि समास करने पर 'गोमात्प्रियः' यवमात्प्रियः इत्यादि प्रयोगों में अन्तरङ्ग भी विभवित निमित्तक नुमादि कार्य बहिरङ्ग लुक् द्वारा बाधित हुआ है यदि यह कहो कि 'प्रत्ययोत्तर पदयोश्च', यह सूत्र 'तव पुत्रः= त्वापुत्रः' तुभ्यं 'हितम्=त्वद्धितम्' आदि प्रयोगों में 'तव ममौ ङसि' 'तुभ्यमह्यौ ङसि' सूत्रों से विहित तव आदि आदेशों के बाध के लिए आवश्यक है यह इस अर्थ का ज्ञापक नहीं हो सकता है तो इस सूत्र में जो 'मपर्यन्तस्य' की अनुवृत्ति की गई

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है वही इस अर्थ का ज्ञापक हो सकता है क्यों कि यदि 'त्वत्पुत्रः' आदि प्रयोगों में तब आदि आदेश प्रसक्त होते तथा उनके बाध के लिए ही 'प्रत्ययोत्तर पदयोश्च' सूत्र होता तो 'मपर्यन्तस्य' की अनुवृत्ति व्यर्थ हो जाती। क्यों कि अपवाद शास्त्र उत्सर्ग समानादेश में ही प्रवृत्त होते हैं। तब आदि आदेश 'मपर्यन्त' के स्थान में होते हैं। अतः तदपवादभूत 'प्रत्ययोत्तरपदयोश्च' सूत्र स्वयं ही मपर्यन्त के स्थान में ही प्रवृत्त होगा। पुनः इस सूत्र के मपर्यन्तानुवृत्ति व्यर्थ ही होगी। यही मपर्यन्तानुवृत्ति ज्ञापित कर रही है कि अन्तरङ्ग भी विभक्ति निमित्तक कार्य को बाधकर लुक् प्रवृत्त होता है। यद्यपि 'श्नम्' 'बहुच', 'अकच् प्रत्ययों उत्सर्गापेक्षया भिन्नदेशत्व भी देखा जाता है तथापि वहां मित्व, 'पुरस्ताद्, प्राक् टेः' आदि निर्देश के कारण अपवाद में उत्सर्गमानदेशत्व का बाध होने पर भी यहाँ इसके परित्याग में कोई प्रमाण नहीं है। अतः यह ज्ञापन निरवद्य है। परिभाषेन्दु शेखर में स्पष्ट है।

२५. प्राक् ततो त्वं भवति

'त्यदादीनामः' ७.२.१७२ सूत्र के भाष्य में **'त्यदादीनां द्विपर्यन्तामत्वं वक्तव्यम्'** वार्तिक पढ़ा गया है। इसका अभिप्राय यह कहना है कि द्विपर्यन्तत्यदादि के स्थान में ही अकारान्तादेश का वचन करना आवश्यक है ताकि 'अस्मद्' शब्दान्त त्यदादि को न हो। अथवा भवत शब्दान्त त्यदादि को न हो। जो लोग युस्मद्, भवत्, अस्मद् इस क्रम से गण–पाठ स्वीकार करते हैं उनके मत में अस्मद् शब्दान्त त्यदादि की व्यावृत्ति आवश्यक है। जो लोग युस्मद्, अस्मद्, भवत् इस क्रम से गण पाठ मानते हैं उनके मत में भवदन्तत्यदादि कहा गया है।' 'किम्' शब्द के स्थान में 'कादेश' हो जाता है। इस लिए किम् शब्द के अन्त में होने पर कभी मन्त नहीं कहा गया है। इस तरह युस्मदादि शब्दों में अकारान्तादेश की व्यावृति के लिए **'द्विपर्यन्तानां त्यदादीनामत्वम्'** यह वचन करना ही चाहिए। इसी आक्षेप को लेकर भाष्य में प्रकृत ज्ञापन का उपन्यास किया गया है— **न वक्तव्यम्। यदयं त्यदादीनामत्वेन सिद्धे युष्मदस्मदोः शेषे लोपं शास्ति तज्ज्ञापयत्याचार्यप्राक् ततो त्वं भवति न सर्वेषाम् इति।** इसका अभि ाय यह बताना है कि 'शेषे लोपः' सूत्र से युष्मद् अस्मद् शब्द के अन्त्य का लोप विधान किया गया है। यदि 'त्यदादीनामः' सूत्र युष्मदादि में भी प्रवृत्त होते तो अकारान्तादेश से ही इष्ट सिद्धि संभव हो जाती 'शेषेलोपः' सूत्र से लोप विधान व्यर्थ ही हो जाता। वही लोप विधान व्यर्थ होकर ज्ञापित कर रहा है। कि 'युस्मदादि से पहले ही त्यदादि को अकारान्तादेश होता है। समस्त त्यदादि शब्दों को नहीं होता है। इस प्रकार **'द्विपर्यन्तानामत्वम्'** वचन पृथक् से कर्तव्य नहीं है। प्रकृत ज्ञापन से ही यह अर्थ सिद्ध है।

एतदनन्तर फिर आशंका की गई है कि 'शेषे लोपः' सूत्र उपसर्जन युस्मदादि के लिए आवश्यक है। यह ज्ञापक कैसे हो सकता है। 'अति यूयम्' 'अति वयम्'–प्रयोगों में 'युष्मान् अतिक्रान्ताः" अस्मान् अतिक्रान्ताः इस विग्रह में **अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीया** वार्तिक से प्रादि समास होने पर अतियुष्मद् शब्द से पृथकैकवचन जस् विभक्ति में उपसर्जनीभूत युष्मद्, अस्मद् के स्थान में प्रवृत्त नहीं हो सकेगा। **"संज्ञोपसर्जनीभूतास्तु न सर्वादयः"** इस वचन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से संज्ञा तथा उपसर्जन में सर्वादि तथा सर्वाद्यन्तगण कार्य का निषेध किया गया है। दूसरी बात बात यह है कि "शेषेलोपः" सूत्र वस्तुतः अन्त्यलोप का विधान नहीं करता है बल्कि युष्मद् अस्मद् शब्द के मपर्यन्त से टि भाग का ही लोप करता है । अन्यथा लोप मात्र का उत्सर्जन विधान करने तदपवादतया अमादेश इत्यादि विभक्ति में आकारान्तादेश अजादि विभक्ति में मकारान्तादेश विधान कर देने मात्र से अतिप्रसक्ति नहीं होती विभक्ति विशेषणतया शेष ग्रहण व्यर्थ ही हो जायेगा । इससे ज्ञात होता है कि शेष शब्द से मपर्यन्त से अच् टिमात्र का ग्रहण होता है। अत एव 'त्वं स्त्री, 'अहं स्त्री' इस प्रयोग में युष्मद्, अस्मद् शब्द से सुविभक्ति में मपर्यन्त के स्थान में 'त्वाहौ सौ' से त्व, अह आदेश होने पर अन्तरङ्गत्वात् पररूप के अनन्तर 'शेषे लोपः' से शेष 'अद्' भाग का लोप हो जाने पर अकारान्तत्वाभावाद् टाप् प्रसक्त नहीं हुआ है। अन्त्यलोप होने पर तो सु के स्थान में हुए आदेश के साथ 'अमिपूर्वः' सूत्र से प्राप्त पूर्वरूप को बाँध कर अन्तरङ्गत्वात् 'टाप्' प्रसक्त हो जायेगा। अतः 'शेषे लोपः' सूत्र द्वारा उक्त ज्ञापन नहीं हो सकता है। इसके लिए पृथक् वचन आवश्यक ही होगा । तो ऐसी स्थिति में किमः कः', 'सूत्र द्वारा का देश विधान को इस अर्थ का ज्ञापक बताया गया है।

द्वादश अध्याय

महाभाष्योक्त ज्ञापक और उनके मूल स्रोतों का अध्ययन

१. न सर्वेषाम् त्यदादीनामत्वम् भवति। इति।

'एवं तर्ह्याचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति—न सर्वेषां त्यदादीनामत्वं भवति इति।' यदयं 'किमः कः' इति का देशं शास्ति। **इतरथा हि किमोऽद्भवतीत्येव ब्रूयात्।** इसका अभिप्राय यह कहना है कि यदि द्विशब्द से परवर्ती शब्दों को भी अकारान्तादेश होता तो 'कि' शब्द के स्थान में का विधान नहीं होता । केवल 'किमः' मात्र पढ़ा गया होता । "त्यदादीनामः" सूत्र से अकार की अनुवृत्ति इसमें करते। 'किम्' शब्द के स्थान में 'त्यदादीनाम्: सूत्र से अकारान्तादेश कर के दोनों के स्थान में 'अतोगुणे' सूत्र से पररूपैकादेश द्वारा 'कः' इत्यादि प्रयोग सिद्ध हो जाते। पुनः 'किमः' कः' पढ़कर जो विशिष्ट 'कादेश' का विधान किया गया है यही उक्त रीति से व्यर्थ होकर ज्ञापित कर रहा है कि सभी त्यदादि शब्दों के स्थान में अकारान्तादेश नहीं होता है। यदि कहो कि यदि 'किमः' सूत्र से अनन्त्य वर्ण के स्थान में अकारादेश करने पर ककार को भी प्रसक्त हो सकता है । 'इकम्' को ही अकार आदेश हो इसमें कोई प्रमाण नहीं है तो ऐसी स्थिति में 'किम्' के ग्रहण को इस अर्थ में ज्ञापक बताया गया है— **यत्तर्हि किमोग्रहणं करोति। इतरथा कादद् भवतीत्येव ब्रूयात्।**" इसका भाव यह है कि केवल 'कात्' सूत्र किया जा सकता है, **'त्यदाऽदीनामः'** सूत्र की अनुवृत्ति करके त्यदादि शब्द संबन्धी ककार से परे अकारादेश होता है ऐसी व्याख्या द्वारा 'किम्' शब्द को 'त्यदादीनामः' सूत्र से अकारान्तादेश होने पर ककारात्य इकार के स्थान में अकारदेश तथा दोनों अकारों का पररूपैकादेश द्वारा 'कः' प्रयोग की सिद्धि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हो जाती। इस प्रकार किम् का ग्रहण व्यर्थ होकर ज्ञापित करता है कि समस्त त्यदादि शब्दों के स्थान में अकारान्तादेश नहीं होता है। वस्तुतस्तु 'अकच्' प्रत्यय विशिष्ट 'ककिम्' शब्द के स्थान में भी तन्मध्यपतित न्यायेन कादेश हो– इसलिए 'किमः कः' यह विशिष्ट आदेश आवश्यक ही है। 'कुतिहोः क्वाति'– आदि सूत्रों में अनुवृत्यर्थ 'किम्' का ग्रहण भी आवश्यक है। इसका ज्ञापकत्व संभव नहीं है। इस प्रकार **'द्विपर्यन्तानामत्वं वक्तव्यम्'** यह वचन आवश्यक ही है। यह भाष्य में स्पष्ट है।

२. पूर्वोत्तरपदयोस्तावत्कार्यं भवतीह नैकादेश ।

'अदसः औ सुलोपश्च' ७.२.१७७ सूत्र के भाष्य में एक वार्तिक पढ़ा गया है— **उत्तरपदभूतानां त्यदादीनामादेश उपदेशिवद्भावो वक्तव्यः**' परमाहम्, परमामम्, परमानेन' इसका तात्पर्य यह बताया गया है कि समास होने पर उत्तरपद भूत त्यदादि शब्दों को आदेश करने की विवक्षा में उपदेशावस्था में जैसे आदेशादि होते हैं, वैसे ही हों। अर्थात् पूर्वपद घटकवर्णों के साथ एकादेश होने से पहले ही आदेश किए जा सकें। 'परमाहम्' परमश्चासौ अहं च' 'परमसु अस्मद्सु' इस विग्रह में समासादि होने पर परम अस्मद् इस अवस्था में अन्तरङ्गत्वात् प्राप्त एकादेश से पहले समासविहित विभक्ति निमित्तक 'त्वाहौ सौ' सूत्र से आदेश होता है। इसी तरह 'परमामम्' प्रयोग में परम सु इदम् सु ... समास होने पर परम, इदम् इसी अवस्था में एकादेश से पहले ही विभक्ति निमित्तक 'इदोऽयं पुंसि' सूत्र से अयम् आदेश होता है। परमानेन इस प्रयोग में भी समासोत्तर परम इदम् इसी अवस्था में समासोत्तर जायमान टा निमित्तक 'अनाप्यकः' सूत्र से अन् आदेश भी प्राप्त होता है। अन्यथा अन्तरङ्गत्वात् एकादेश ही पहले प्रवृत्त होते क्यों कि समासोत्तर विभक्ति निमित्तक आदेशों की अपेक्षा एकादेश अन्तरङ्ग हैं। 'असिद्धं बहिरङ्गे' परिभाषा द्वारा बहिरङ्गे' परिभाषा द्वारा बहिरङ्गे' के असिद्ध होने से अन्तरङ्ग एकादेश ही प्रथमतः प्रवृत्त होते। अतः उपदेशिवद्भाव का वचन करना ही चाहिए? इसी आक्षेप के समाधान में प्रकृत ज्ञापन का उपन्यास किया गया है। **न वक्तव्यः आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति–पूर्वोत्तरपदयोस्तावत्कार्यं भवति नैकादेश इति। यदयं नेन्द्रस्य परस्येति प्रतिषेधं शास्ति।** कहने का भाव यह है कि यदि समास होने पर पूर्वोत्तरपद सबन्धी आदेशापेक्षया अन्तरङ्गत्वाद् पूर्वोत्तरपद घटक वर्णों का एकादेश ही किया जायेगा तो 'सोमेन्द्रः' प्रयोग में **सोमेन्द्रौ देवते अस्य** विग्रह में सोम इन्द्र शब्दों का द्वन्द्व होने पर 'सास्य देवता' सूत्र से अण् प्रत्यय परे रहते द्व्यच्क इन्द्र शब्द में प्रथम एक अच् एकादेश द्वारा अपहृत हो जायेगा। दूसरा 'यस्येति च' सूत्र से लुप्त हो जायेगा। इस तरह इन्द्र शब्द अच् से रहित हो जायेगा। इस तरह 'देवताद्वन्द्वे च' सूत्र द्वारा इन्द्र शब्द को अजभावात् जब वृद्धि की प्रसक्ति ही नहीं रह गई तो— 'नेन्द्रस्य परस्य' सूत्र द्वारा उसका निषेध करना व्यर्थ ही है। यही 'नेन्द्रस्य परस्य' सूत्र द्वारा निषेध विधान उक्त रीति से व्यर्थ होकर ज्ञापन करता है कि पूर्वोत्तरपद संबन्धी कार्य ही प्रथमतः होता है। पूर्वोत्तरपदघटक वर्णों का एकादेश पहले नहीं होता है। अतः इन्द्र शब्द के इकार की वृद्धि के निषेध के लिए 'नेन्द्रस्य परस्य' सूत्र स्वांश चरितार्थ हुआ। यह ज्ञापन निरवद्य ही है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

धातोः कार्यमुच्यमान तत्प्रत्यये भवति ।

'मृजेर्वृद्धिः' सूत्र के भाष्य मे कंसपरिमृड्भ्याम् कंस परिमृड्भिः प्रयोगों में कंस शब्द के उपपद रहने पर परिपूर्वक मृण् जातु के क्विवन्त कंसपरिमृड् शब्द से भ्याम् तथा भिस् विभक्ति आने पर इस सूत्र से विभक्तिनिमित्तक वृद्धि की आशंका में **'धातोः स्वरूपग्रहणे तत्प्रत्ययेकार्य-विज्ञानम्'** परिभाषा द्वारा समाधान दिया गया है। इस परिभाषा का अर्थ है कि जहां धातु के स्वरूप का ग्रहण किया गया है वहाँ धातु संबन्धी कार्य धातु विहित प्रत्यय परे रहने पर ही होगा। इस तरह यहां स्वरूपेण गृहीत मृज् धातु से विहित प्रत्यय क्विप् है, उसके परे रहते 'क्ङिति च' सूत्र से वृद्धि प्रतिसिद्ध है। क्विवन्त से विहित भ्यामादि प्रत्यय परे रहते धातु विहित प्रत्ययत्वाभावादेव वृद्धि प्राप्त नहीं होती है। इस परिभाषा के अनेक प्रयोजन भाष्य में दिए गए हैं रज्जुसृड्भ्याम् रज्जुसृड्भिः प्रयोगों में रज्जुपूर्वक सृज् धातु से 'क्विप्' प्रत्यय में भ्या-भादि प्रयुक्त 'सृजिदृशोर्झल्यमकिति' सूत्र द्वारा अमागम नहीं हुआ है। ऐसे ही भस्ज् तथा नश् धातु में क्विवन्त से भ्यामादि विभक्ति निमित्तक उदकभाग्भ्याम्' प्रणड्भ्याम् इत्यादि प्रयोगों में मस्जिनशोर्झलि' सूत्र से नुमागम नहीं हुआ वार्त्रघ्नः प्रयोगों में क्विवन्त वृत्रहन् भ्रूणहन् शब्द से शसादिविभक्ति में 'हनस्त चिण्णलोः' से तकारान्तादेश नहीं हुआ । देवगिरौ, देवगिरः प्रयोगों में क्विवन्त देवगिर् शब्द से औठ जसादि विभक्ति में 'अचिविभाषा' सूत्र से रेफ के स्थान में लत्व भी नहीं हुआ है। यद्यपि' **धातोः स्वरूप ग्रहणे'** ऐसा कहने में प्रसृब्भ्याम्, प्रसृब्भिः प्रयोग में क्विवन्त प्रपूर्वक सृप् धातु से 'भ्यामादि विभक्ति में 'अनुदात्तस्य चर्दुपधस्यान्यतरस्याम् सूत्र से अमागम प्राप्त हो सकता है क्योंकि यहां धातु के स्वरूप का ग्रहण न होने से यह परिभाषा प्रवृत्त नहीं होती है। तथापि **'धातोः कार्यमुच्यमानं तत्प्रत्यये भवति'** इस तरह परिभाषा का आकार स्वीकार करने पर यहां भी कोई दोष नहीं हो सकता है। ऐसी स्थिति में यह विचारणीय है कि यदि यह परिभाषा आवश्यक है तो इसका वचन करना चाहिए था ? इस आक्षेप में कहा गया है— **न कर्तव्या** आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति—

३. भवत्येषा परिभाषा यदयं भौणहत्ये तत्वं शास्ति ।

इसका भाव यह है कि 'दाण्डिनापनहास्तिनापनाथर्वणिकजेह्माशिनेषवाशिनापति-भ्रौणहत्य' निपातन द्वारा तत्व का विधान किया गया है। यदि धातु का कार्य अन्य प्रत्यय परे रहते होता तो भ्रूणहन्+य इस अवस्था में ञित् ष्यञ् प्रत्यय परे रहते 'हनस्तो चिण्णलोः' सूत्र से ही कारान्तादेश हो जाता। यहां निपातन द्वारा तकारविधान व्यर्थ है। यही तकार विधान उक्त रीति से व्यर्थ होकर ज्ञापित कर रहा है कि धातु को विहित कार्य धातु विहित प्रत्यय परे रहते ही होता है। इस तरह यहां निपातन द्वारा नकारविधान चरितार्थ होता है। यह ज्ञापन निरवद्य है।

४. न्यग्रोधे च केवलग्रहणान् मन्यामहे आद्यज्विशेषणम् देविकावदयः

'आद्यज्विशेषेणं देविकादयः'— 'देविकाशिशंपादित्यवाड्दीर्घसत्रश्रेयसामात्' ७.३.१ सूत्र के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भाष्य में वार्तिक द्वारा देविकादि शब्दों में तदादिग्रहण की कर्तव्यता बताई गई है । इसका प्रयोजन 'दाविकाकूलाः शात्ययः शांशपास्थला देवाः' ये प्रयोग बताए गए हैं। 'देत्रिकाकूले भवाः इस विग्रह में देविकाकूल शब्द से भवार्थक अण् प्रत्यय परे रहते देविकादि देविकाकूल शब्द के आद्यच् के स्थान में भी आकार आदेश होता है । इसी तरह 'शिंशणस्थले भवाः' इस विग्रह में शिंशपास्थल शब्द से अण् प्रत्यय परे रहते भी शिंशपादि शिंशपास्थल शब्द के आद्यच् को आकार आदेश हुआ है । अन्यथा देविकादि शब्द अङ्ग के विशेषण होकर तदन्त के बोधक होंगे या स्व के ही बोधक होंगे । उक्त प्रयोगों की सिद्धि नहीं होगी । इसका समाधान किया गया है कि देविका आदि शब्द आद्यच् के विशेषण स्वीकार करने पर कोई दोष नहीं होगा । अभिप्राय यह है कि देविका आदि शब्दों को अङ्ग विशेषणतया देविकादि रूप अङ्ग के आदि अच् को वृद्धि हो त्रिपादि प्रत्यय परे रहते इस तरह के सूत्र की व्याख्या नहीं करेंगे । किन्तु ञित् णित् प्रत्ययाव्यवहित पूर्व अङ्ग के आदि अच् को वृद्धि होती है । यदि वह देवि-कादि शब्दों का अवयव आदि अच् होता हो इस तरह की व्याख्या में सकल इष्ट सिद्धि हो जाती है। कोई दोष नहीं होगा । यद्यपि देविका आदि शब्दों में 'तद्धितेष्वचामादेः' सूत्र से विहित वृद्धि के प्रसंग में ही इन शब्दों में आकार मात्र के नियम के लिए 'देविकादि' सूत्र स्वीकार कर लिये जायें तो भी कोई दोष प्रसक्त नहीं होगा तथापि विधि शास्त्र के प्रकरण में पठित होने के कारण इन सूत्रों में परिभाषात्व स्वीकार करना प्रक्रमभेद प्रसंगाद उचित नहीं होगा । अतः देविकादि शब्दों को आदि अच् का विशेषण मानना ही उचित है। इस पर यह विचारणीय है कि देविकादि अच् के ही विशेषण होंगे अङ्ग के विशेषण नहीं होंगे। इस में विनिगमक कहा है, इसी विचार में विनिगमकतया प्रस्तुत ज्ञापन उपयन्यस्त है।

न्यग्रोधे च केवलग्रहणान्मन्यामहे — आद्यज्विशेषणां देविकादय इति भाव यह है कि "न्यग्रोधस्य च केवलस्य" सूत्र में केवल ग्रहण से केवल न्यग्रोध शब्द घटक यकार से पूर्व ही आगम होता है । 'न्यग्रोधमूले भवाः चाग्रोधमूलाः शरलयः प्रयोग में ऐ का आगम नहीं होता है क्योंकि यहाँ केवल 'न्यग्रोधः' शब्द नहीं है । यदि आदि अच् के विशेषण देविका आदि शब्द नहीं है तो इस सूत्र में केवल शब्द सार्थक नहीं होगा । यदि कहो कि तदन्त विधि की व्यावृत्ति के लिए केवल ग्रहण सार्थक हो सकता है तो यह भी ठीक नहीं है क्यों कि अङ्ग की न्यग्रोध का विशेषण मानने पर तदन्तविधि भी प्राप्त नहीं है। इस तरह न्यग्रोध रूप अङ्ग को विधीयमान ऐ का आगम तदादि तथा तदन्त दोनों को प्राप्त नहीं हैं । केवल ग्रहण व्यर्थ ही हो रहा है । यही केवल ग्रहण उक्त रीति से व्यर्थ होकर ज्ञापित कर रहा है कि इस प्रकरण में गृह्यमाण देवकादि शब्द आदि अच् के ही विशेषण हैं । अन्यथा यह केवल ग्रहण अनर्थक हो जायेगा ।

५. अन्यत्रश्वादिग्रहणे तदादिविधिर्भवति

'श्वादिरिञि' ७.३.८ सूत्र के भाष्य में यह विचार किया गया है कि द्वारादि गण में केवल श्वन् शब्द पढ़ा गया है । ऐसी स्थिति में यदि केवल 'श्वनू' शब्द में ही ऐजागम

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्राप्त है श्वादि शब्द में ऐजागम की प्रसक्ति ही नहीं है। तो निषेध विधान व्यर्थ ही है। यदि कहो कि तदादि विधि द्वारा अङ्गावयव आदि यकार वकार के पूर्व ऐजागम नहीं होता है यदि वह मकार वकार द्वारादिघटक हों। इस तरह की व्याख्या में श्वादि को भी ऐजागम प्राप्त है। तन्निषेधार्थ यह सूत्र आवश्यक हो सकता है तो यह संभव नहीं है क्यों कि निषेध प्रकरण में तदादि विधि स्वीकार करने में कोई प्रमाण नहीं है। इस आक्षेप में प्रकृत ज्ञापन द्वारा तदादि विधि को प्रामाणिक सिद्ध किया है— **तज्ज्ञापयत्याचार्यः— अन्यत्र च श्वन् ग्रहणे तदादिविधिर्भवति।** भाव यह है कि यही श्वादि ग्रहण उक्त रीति से ज्ञापित करता है कि इस प्रकरण में देविकादि शब्दों की भांति द्वारादि शब्द भी 'आद्यच्' के ही विशेषण होने से तदादिविधि होती ही है। इस तरह श्वादि शब्द में भी 'द्वारादीनां च' सूत्र से ऐजागम प्राप्त है। तन्निषेधार्थ 'श्वादेरिञि' सूत्र स्वांश में चरितार्थ है। इसका प्रयोजन 'शौवहानम् नाम नगरम्', शौवदंष्ट्रो मणिः' इन प्रयोगों की सिद्धि में है। 'जिहतेऽस्मिन्' विग्रह में 'हा' धातु से ल्युट् प्रत्यय कर के 'शुनां हानम्' विग्रह में षष्ठी समास हुआ। 'श्वहानमस्मिन्नस्ति' विग्रह में 'तदास्मिन्नस्तीतिदेशे तन्नाम्नि' सूत्र से अण् प्रत्यय में 'द्वारादीनां' सूत्र से ऐजागम होकर 'शौवहानम्– प्रयोग सिद्ध हुआ। इसी तरह शुनो दंष्ट्रा—श्वादंष्ट्रा तत्र भवः विग्रह में श्वादंष्ट्रा शब्द से 'तत्र भवः' सूत्र से अण् प्रत्यय में 'द्वारादीनां च' सूत्र से ऐजागम होकर 'शौवादंष्ट्रः' प्रयोग भी सिद्ध हुआ है। इस तरह यह ज्ञापक निरवद्य तथा सार्थक है।

६. अन्यत्र ग्रामग्रहणे नगरग्रहणं न भवति।

'प्राचांग्रामनगराणाम्' ७.३.१४ सूत्र के भाष्य में यह विचार किया गया है कि इस सूत्र में नगर ग्रहण क्यों किया गया। 'प्राचां ग्रामाणाम्' एतावन्मात्र सूत्र से ही निर्वाह हो सकता हैं क्यों कि जननिवासार्थक ही दोनों शब्द हैं। यद्यपि यह कहा जा सकता है कि ग्राम नगर से भिन्न है। कोई पूछता है कि क्या आप ग्राम से आ रहे हैं ? तो उत्तर मिलता है 'नहीं' नगर से में आ रहा हूँ। इस व्यवहार से स्पष्ट है कि ग्राम से नगर भिन्न है। तथापि जनसमूहार्थत्वेन दोनों में कोई वास्तविक भेद नहीं कहा जा सकता है। अतएव जो कार्य ग्राम में निषिद्ध होता है वह नगर में भी निषिद्ध ही देखा जाता है। ग्राम्य सूकर खाना निषिद्ध है तो नगर सूकर और भी निषिद्ध माना जाता है। ग्राम में वेदाध्ययन निषिद्ध है तो नगर में और भी निषिद्ध देखा जाता है। इस तरह जननिकायनितासार्थत्वेन ग्राम नगर में भेद न होने के कारण ग्राम ग्रहण से पृथक् नगर का ग्रहण करना इस सूत्र में व्यर्थ ही है। इसी आक्षेप में प्रकृत ज्ञापन का उपन्यास किया गया है— **एवं तर्हि सिद्धे सति यद्ग्राम ग्रहणे नगरग्रहणं करोति तज्ज्ञापयत्याचार्योऽन्यत्र ग्राम ग्रहणे नगरग्रहणं न भवति इति।** भाव यह है कि ग्रामग्रहण रहते जो नगर ग्रहण किया गया है यह ज्ञापित कर रहा है कि अन्यत्र ग्राम ग्रहण से नगर का ग्रहण नहीं होता है। अतएव 'विशिष्टलिङ्गो नदीदेशोऽग्रामाः' सूत्र में **'अग्रामा' इत्यत्र नगरप्रतिषेधोवक्तव्यः मथुरापाटलिपुत्रम्'** यह वचन नहीं करना होगा। क्योंकि 'अग्रामाः' इस वचन से नगर के एक-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वद्भात्र कानिषेध प्राप्त ही नहीं होगा । इस वचन की आवश्यकता नहीं रह जाती है । वस्तुतस्तु 'उदीच्यग्रामाच्च बह्वचोन्तोदात्तात्' इत्यादि सूत्र स्थल में जहां ग्राम के ग्रहण से नगर भी इष्ट हैं वहां पृथक् से नगरग्रहण करना पड़ेगा। इसलिए लक्ष्यानुसार जहां ग्राम ग्रहण से नगर ग्रहण इष्ट नहीं है वहां निषेध कर देने में ही लाघव होगा । अन्यथा अनेक स्थलों में नगरग्रहण करना गुरुतर होगा । अतः यह ज्ञापन विशेष आवश्यक नहीं है । एकदेशीय ही है। इस तरह इस नगरग्रहण का प्रत्याख्यान ही है । यही भाष्य का तात्पर्य है ।

७. भवत्येवं जातीयकानामपीत्वम् ।

'प्रत्ययस्थात् कात्पूर्वस्यात इदाप्यसुपः' सूत्र के भाष्य में यह विचार किया गया है कि इस सूत्र में क ग्रहण से 'क' क+अ संघात गृहीत होता है अथवा क वर्ण मात्र गृहीत होता है। इसमें विशेषता यह है कि यदि क संघात गृहीत होता है तो एतिकाश्चरन्ति प्रयोग सिद्ध नहीं होगा यहां एतद् शब्द से 'अकच्' प्रत्यय करके 'एतकद्' शब्द से जस् विभक्ति में 'त्यदादीनामः' से अकारान्तादेश होने पर स्त्रीत्व की विवक्षा में टाप् प्रत्यय करने के बाद इस सूत्र से जो इत्व का विधान होता है वह नहीं होगा क्यों कि 'अकच्' प्रत्यय में ककारोत्तर अकार उच्चारणार्थ 'क' मात्र है। यहां क + अ संघात नहीं है । यदि कहो कि सूत्रारम्भ सामर्थ्यादेव 'एतिकाः' प्रयोग में इत्व हो सकता है तो यह ठीक यहीं है क्यों कि 'कारिका' 'हारिका' प्रयोगों में कारक, हारक शब्द से टाप् करने पर 'क' संघातपूर्वक अकार के स्थान में इत्व विधान कर के यह सूत्र सावकाश हो जाता है । ऐसी स्थिति में यदि क से वर्णमात्र गृहीत करें तो कारिका आदि प्रयोगों में कारक+आ इस स्थिति में अकार का व्यवधान होने से आप्परकत्वाभावेन इत्व की सिद्धि नहीं होगी। यदि यह कहो कि सवर्ण दीर्घ होने पर अव्यवधान हो जायेगा तो यह भी संभव नहीं है, क्यों कि 'अचः परस्मिन् पूर्वविधौ' सूत्र से पूर्व के स्थान में इत्व विधान करने में एकादेश स्थानिवद् हो जायेगा, व्यवधान अनिवार्य है। इस तरह यदि 'क' से वर्णमात्र का ग्रहण करना ठीक नहीं है तो संघात ग्रहण ही ठीक है । यदि यह कहो कि संघात ग्रहण करने पर 'एतिकाश्चरन्ति' प्रयोग में इत्व नहीं प्रवृत्त होगा तो ऐसी स्थिति में सूत्रारम्भ सामर्थ्यादेव यहाँ इत्व विधान करेंगे । यदि कहो कि यह सूत्र तो कारिका, हारिका प्रयोगों में चरितार्थ है तो कारिका, हारिका प्रयोगों में भी टाप् के साथ सवर्ण दीर्घ हो जाने पर क संघात में आप् परकत्व न मिलने के कारण यह सूत्र प्राप्त नहीं हो सकेगा । यदि कहो कि एकादेश में परादिवद्भावेन आप् परकत्व मिल जाता है तो तदव्यवहित पूर्व क+अ संघात असंभव हो जायेगा । एकादेश के उभयतः आश्रयण में अन्तादिवद्भाव नहीं होता है । ऐसी स्थिति में पूर्वविधि में एकादेश के स्थानिवद्भाव से ही 'क' संघात में आप् परकत्व हो जाने से इत्व विधान द्वारा सूत्र सावकाश है । एतिकाश्चरन्ति प्रयोग में वचन सामर्थ्यात् इत्व विधान संभव नहीं होगा । संघातग्रहण पक्ष में यह प्रयोग कैसे सिद्ध होगा इस आक्षेप में प्रकृत ज्ञापन का उपन्यास किया गया है - **एवं तर्ह्याचार्यप्र-**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वृत्तिर्ज्ञापयति—भवत्येवंजातीयकानामपीत्वम् इति। यदयं न यासयोरतिप्रतिषेधं शास्ति। भाव यह है कि 'न यासयो:' सूत्र द्वारा 'य का' 'सका' प्रयोगों में यद् तद् शब्द 'अकच्' प्रत्यय करने पर सु विभक्ति में 'त्यदादीनाम:' से अकारान्तादेश तथा 'अजाद्यस्टाप्' सूत्र से टाप् करने पर प्राप्त इत्व का निषेध किया जाता है। यदि यहाँ 'क' संघातपूर्वत्वाभावात् इत्व प्रसक्त नहीं तो 'न यासयो:' सूत्र द्वारा इत्व का निषेध करना भी व्यर्थ हो जाता यही निषेध विधान व्यर्थ होकर ज्ञापित करता कि 'अकच् प्रत्ययवान्' शब्दों में भी टाप् परे रहते कात्पूर्वत्वेन इत्वविधान होता है। अतएव यह निषेधाविधान सार्थक हुआ है। 'एतिका:' आदि प्रयोग भी सिद्ध होते हैं।

८. अन्यत्र ण्यधिकस्य कुत्व भवति इति।

'हेरचङि्' सूत्र के भाष्य में यह विचार किया गया कि इस सूत्र में 'अचङि' यह प्रतिषेध नर्थक है क्यों कि यहाँ 'अचङि' ग्रहण 'प्राजीहयत्' प्रयोग में प्र पूर्वक ण्यन्त 'हि' धातु से लुङ् लकार तिप् प्रत्यय में च्लि के स्थान में 'णिश्रिद्रुस्रुभ्य: कर्तरिचङ्' सूत्र से 'चङ्' प्रत्यय तथा द्वित्वाभ्यास तथा प्रयुक्त कार्य के अनन्तर अभ्यास से परे कुत्व की व्यावृत्ति के लिए किया गया है ताकि 'प्राजीघयत्' प्रयोग न हो। किन्तु 'प्राजीहयत्' प्रयोग में ण्यन्त धातु से ही 'चङ् प्रत्यय की प्रसक्ति है। जबकि इस सूत्र से शुद्ध 'हि' धातु के अभ्यासोत्तर में कुत्व का विधान हुआ है तो ण्यन्त धातु में कुत्व का प्रसंग था कि अचङि् निषेध किया गया? इसी आक्षेप में प्रकृत ज्ञापन का उपन्यास किया गया है— **एवं तर्हिज्ञापयत्याचार्यो न्यत्रऽण्यधिकस्य कुत्वं भवति इति।** भाव कहने का यही अचङि् निषेध उक्तरीति से व्यर्थ होकर ज्ञापित कर रहा है कि 'चङ्' से पृथक् णि प्रत्यय के अधिक होने पर भी अथात् ण्यन्त में भी कुत्व होता है। इस तरह 'अचङि्' निषेध भी सार्थक है। 'प्रतिघाययिषति' प्रयोग भी प्रपूर्वक ण्यन्त 'हि' धातु से इच्छा में सन् प्रत्यय करने पर द्वित्व तथा अभ्यासादि कार्य के अनन्तर 'हेरचङि' सूत्र से कुत्व विधान द्वारा सिद्ध होता है। इस तरह यह ज्ञापन निरवद्य तथा सार्थक है।

९. अङ्गवृत्ते पुनर्वृत्तावविधि:।

'ज्ञाजनोर्जा' ७.३.७९ सूत्र के भाष्य में 'ज्ञा' तथा 'जन' धातु के स्थान में विधीयमान जा आदेश के दीर्घत्व को लेकर विचार किया है कि जा आदेश दीर्घ क्यों किया गया है। लाघवात् 'ज्ञाजनोज:' ऐसा ही सूत्र करके ह्रस्व 'ज' आदेश ही क्यों न किया गया क्यों कि 'जानाति, जायते,' ये प्रयोग ह्रस्व 'ज' आदेश करनें पर भी 'अतोदीर्घोयञि' सूत्र से दीर्घ द्वारा सिद्ध हो जायेगा। इस आक्षेप के समाधान में इस ज्ञापन का उपन्यास किया गया है— **एवं तर्हि सिद्धे सति यद्दीर्घोच्चारणं करोति तज्ज्ञापयत्याचार्यो भवत्येषा परिभाषा अङ्गवृत्ते पुनर्वृत्तावविधिरिति।** भाव यह है कि यही दीर्घोच्चारण उक्त रीति से व्यर्थ होकर ज्ञापित करता है कि अङ्ग संबन्धी कार्य होने के बाद पुन: अङ्ग कार्य का विधान नहीं होता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है इस तरह अङ्गाधिकारी 'ज' आदेश हो जाने पर पुनः अङ्गाधिकारी कार्य 'अतोदीर्घोयञि' सूत्र द्वारा दीर्घ नहीं हो सकेगा। इसलिए दीर्घोच्चारण स्वांश में चरितार्थ हो गया। इस ज्ञापन का प्रयोजन यह होगा कि **'पिबतेर्गुणप्रतिषेधोवक्तव्यः'** यह वचन जो 'पिबति' प्रयोग में गुण की व्यावृत्ति के लिए किया गया है– वह नहीं करना पड़ेगा। क्यों कि पिबति प्रयोग में पा के स्थान में एक अङ्गाधिकारी कार्य पिबादेश हो जाने के बाद पुनः अङ्गाधिकार कार्य लघूपध गुण प्राप्त ही नहीं होगा। इसका निषेध विधान नहीं करना होगा। इस तरह यह ज्ञापन निर्दुष्ट तथा सप्रयोजन है। ज्यादादीयसः' सूत्र के भाष्य में भी यह ज्ञापन स्पष्ट किया गया है। परिभाषेन्दुशेखर कार नागेश भट्ट ने भी इसकी परिभाषा के रूप में व्याख्या की है।

१० - ११ भवत्येवं जातीयकानां वृद्धिः भवत्येवं जातीयकानां गुणः

'पुगन्तलघूपधस्य च' सूत्र के भाष्य में वार्तिक पढ़ा गया है 'संयोगे **गुरूसंज्ञायां गुणो भेत्तुर्न सिद्धयति**' इसका तात्पर्य इस शंका में है कि भेत्ता, भेत्तुम् इत्यादि प्रयोगों में भिद् धातु से तृच् प्रत्यय अथवा 'तुम्' प्रत्यय करने पर धात्वन्त-प्रत्ययादि दो हल्वर्णों के आनन्तर्येण् से संयोग संज्ञा होने के कारण 'संयोगे गुरु' सूत्र से गुरु संज्ञा द्वारा लघुसंज्ञा के वाधित होने से गुण कीं प्राप्ति नहीं होगी। इसके उत्तर में कहा गया है **'विध्यपेक्षं लघोश्चासौ'** इसका तात्पर्य यह है कि यहां विधिसोपक्ष गुण विधान स्वीकार करने से लघुपध से विहित जो सार्वधातुक आर्धधातुक प्रत्यय उससे अव्यवहित पूर्व जो अङ्ग तत्संबन्धी इक् के स्थान में गुण होता है इस तरह की व्याख्या में कोई दोष नहीं होगा। यदि कहो कि कुदिराहे इत्यादि इदित् धातु स्थल में अङ्गाधिकारी 'इदितो नुम् धातोः' सूत्र से विहित नुमागम प्रत्यय विधान के अनन्तर ही होगा ऐसी स्थिति में कुण्डिता, हुण्डिता इन प्रयोगों में भी गुण श्रवण होना चाहिए तो यह ठीक नहीं है क्यों कि 'इदितो नुम्' धातोः' सूत्र में धातुग्रहण सामर्थ्यात् धातुपदेशकाल में ही नुमागम होता है। नुमागम के अनन्तर ही तृजादि प्रत्यय होने से 'कुण्डिता' आदि प्रयोगों में कोई दोष नहीं होगा। फिर शंका होती है कि रन्ज् धातु से घञ्प्रत्यय करने पर 'घञिच, भावकरणयोः" सूत्र से न लोप होने पर " अत उपधाया :" सूत्र से वृद्धि होनी चाहिए, क्यों अकारोपध से घञ् प्रत्यय की विधि नहीं है किन्तु रन्ज से हुई है, इसी आशंका के समाधान में प्रस्तुत ज्ञापन का उपन्यास हुआ है— **यदयं स्यन्दिश्रन्ध्यो । विध्यर्थं निपातनं करोति तज्ज्ञापयत्याचार्यो भवत्येवं जातीयकानां वृद्धिरिति ।** इस कथन का अभिप्राय यह है कि 'स्यदो जवे' अवोदैधोद्मप्रश्रथ हिमश्रथाः' सूत्रों द्वारा स्यन्द धातु से श्रन्थ धातु घञ् प्रत्यय में जो वृद्धयभाव का निपातन किया गया है यही उक्त रीति से व्यर्थ होकर ज्ञापित कर रहा है कि इस वृद्धि विधि में विध्यपेक्षत्व का आश्रयण नहीं होता है। अथात् नलोपानन्तर भी अकरोपधत्व प्रयुक्त वृद्धि होती ही है। अन्यथा अकारोपध से विधान न होने के कारण वृद्धि प्राप्त ही नहीं है। तन्निवत्यर्थ निपातन व्यर्थ ही हो जायेगा। यदि कहो कि नलोपार्थ ही यह निपातन है तो यह कहना ठीक नहीं है क्यों कि यदि नलोपार्थ ही यह निपातन होता तो 'रन्जेश्च – घञि च भावकरणयोः' इसके अनन्तर स्यन्द श्रन्थ स्वरूपतः पढ़ देते, निपातन करना व्यर्थ ही

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। अनेक प्रयोजन सिद्धयर्थ ही निपातन होता है। अतः वृद्धयभाव भी निपातित ही है। उसके द्वारा किया गया यह ज्ञापन निर्बाध ही है।

इसके अनन्तर पुनः यह विचार किया गया कि विध्यपेक्षत्व स्वीकार करने में दध्ना सक्थ्ना आदि प्रयोगों में दधि सक्थि आदि शब्दों से टा विभक्ति में 'अस्थिदधिसक्थ्यक्ष्णा मनङुदात्तः' सूत्र से अनङ् आदेश करने पर दधन्+आ सक्थन्+आ ऐसी स्थिति में 'अल्लोपो नः' सूत्र से अल्लोप भी प्राप्त नहीं होगा क्यों कि विध्यपेक्षत्व का आश्रयण करने पर अन्नन्त से विहित प्रत्यय परे रहते ही अल्लोप हो सकता है। यहां टा विभक्ति अन्नन्त से विहित नहीं है। इसी तरह कुण्डानि, वनानि प्रयोगों में कुण्ड, वन शब्द से जस् विभक्ति को इसी आदेश के अनन्तर नुमागम होने पर नान्त से विहित प्रत्ययपरक न होने कोरण 'सर्वनामस्थाने चासंबुद्धौ' से दीर्घ भी नहीं होगा। इस लिए षष्ठीनिर्देश को विधि विशेषण स्वीकार करना दोषवशात् उचित नहीं है। ऐसी स्थिति में भेत्ता, भेत्तुम् इन प्रयोगों में गुण की सिद्धि नहीं होगी। अतः इस शंका का समाधान ज्ञापन के आश्रयण से किया जा रहा है **यदयं 'नाभ्यस्तस्याचि पिति सार्वधातुके, इत्यज्ग्रहणं करोति तज्ज्ञापयत्याचार्यो' भवत्येवं जातीयकानां गुण' इति।** इस कथन का तात्पर्य यह है कि 'नाभ्यस्तस्याचि पितिसार्वधातुके' सूत्र से अतादि णित् सार्वधातुक परे रहते लघुपध गुण का निषेध किया गया है। यहाँ अच् के ग्रहण का यह फल है कि 'नेनेक्ति' प्रयोग में हलादि 'ति' प्रत्यय परे रहते निषेध न हो। यदि हलादि प्रत्यय परे रहते धात्वन्त वर्ण के संयोग से लघुपधत्व के अभाव में गुण की प्राप्ति ही नहीं है। तो हलादि प्रत्यय में गुणनिषेध की व्यावर्त्यर्थ यहां अच् का ग्रहण ही व्यर्थ हो जाता है। यही अज्ग्रहण उक्त क्रम से व्यर्थ होकर ज्ञापित कर रहा है कि ऐसे स्थल में अर्थात् हलादि प्रत्यय परे रहते लघुपध गुण होता है। यदि कोई यह कहे कि **'अनेनेक्'** लङ् लकार में प्रत्यय के लोप होने पर प्रत्ययलक्षणेन प्राप्त गुण के निषेध की व्यावृत्ति के लिए अज्ग्रहण आवश्यक है तो ऐसी परिस्थितियों में 'त्रसिगृधि धृषि क्षिपे क्नुः' सूत्र द्वारा विहित प्रत्यय को 'क्षिप्नुः' 'गध्नुः' आदि प्रयोगों में 'क्ङिति च' सूत्र से गुण निषेध के लिए कित् किया गया हैं। इसी तरह 'विभत्सति' आदि प्रयोगों में गुण निषेधार्थ ही 'हलन्ताच्च' सूत्र द्वारा सन् प्रत्यय को जो कित्व विधान किया गया है। यही उक्त क्रम से व्यर्थ होकर इस अर्थ के ज्ञापक हो सकते है। जैसा कि भाष्य में स्पष्ट है— **य यं त्रसि गृधि धृषि क्षिपेः क्नुः' इकोझल् हलन्ताच्चेति क्नुसनौ कितौ करोति तज्ज्ञापयत्याचार्योभवत्येवं जातीयकानां गुण इति।**

१२. णावेव ह्रस्वत्वं भवति।

'णौ चङ्युपधाया ह्रस्वः' ७.४.१ सूत्र के भाष्य में यह विचार किया गया कि इस सूत्र में 'चङ्' ग्रहण क्यों किया गया। णि परे रहते ही उपधा को ह्रस्व क्यों नहीं किया गया। यह कहो कि यदि 'णौउपधाया ह्रस्वः' इतना ही सूत्र किया जायेगा तो 'कारयति,' 'हारयति' प्रयोगों में भी उपधा को ह्रस्व होने लगेगा तो यह संभव नहीं है। क्यों कि आचार्य की प्रवृत्ति से यह ज्ञापित है कि सर्वत्र णि परे रहते ह्रस्व नहीं होता है— **आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञा पयति—**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

न णावेव ह्रस्वत्वं भवति इति यदयं मितांह्रस्वत्वं शास्ति। इसका भाव यह है कि 'मितां ह्रस्वः' सूत्र से णि परे रहते मित्संज्ञक धातु के उपधा को जो ह्रस्व विधान किया गया है यह ज्ञापित कर रहा है कि सर्वत्र णि परे रहते ह्रस्व नहीं होता है । यदि सर्वत्र णि परे रहते उपधाको ह्रस्व होता तो 'मितां ह्रस्वः' सूत्र से ह्रस्व विधान व्यर्थ ही हो जाता। इस तरह व्यर्थ होकर 'मिता ह्रस्वः' सूत्र एतदर्थ ज्ञापकत्वेनैव सार्थक होता है। वस्तुतः ऐसा ज्ञापन स्वीकार करने पर 'अचीकरत्', 'अजीहरत्' प्रयोगों में भी 'हारयति' 'कारयति' प्रयोगों की भांति उपधा ह्रस्व दुर्लभ हो जायेगा। यदि कहो कि 'णावुपधायाः' इस वचनारम्भ के सामर्थ्य से 'अचीकरत्' आदि प्रयोगों में ह्रस्व विधान हो जायेगा तो इसी तरह वचनारम्भ के सामर्थ्य से 'कारयति' आदि प्रयोगों में भी ह्रस्व की अति प्रसक्ति हो सकती है। इसलिए चङ् ग्रहण आवश्यक है। ज्ञापन स्वीकार करने से दोष की निवृत्ति नहीं संभव होगी।

१३. द्विर्वचनाद्ध्रस्वत्वं वलीयः।

'णौ चङ्युपधाया ह्रस्वः' ७.४.१ सूत्र के भाष्य में ण्यन्त अठ्, अश् आदि धातु से लुङ् लकार चङ् में किस तरह का रूप होगा ऐसा विचार प्रस्तुत किया गया है— **अथेह कथं भवितव्यम् मा भवानटिटदिति, आहोस्विदन्याभवानाटिटदिति।** इस कथन का अभिप्राय यह है कि अट् धातु से 'णिच्' प्रत्यय में आटि धातु से लुङ् लकार तिप् प्रत्यय में 'च्लि' के स्थान में 'चङ्' आदेश हो जाने पर आटि + अत् इस अवस्था में 'णौ चङ्युपधाया ह्रस्वः' सूत्र से ह्रस्व भी प्राप्त है, 'चङि' सूत्र से आदिभूत अच् से परे द्वितीय एकाच् टि शब्द को द्वित्व भी प्राप्त है। यदि ह्रस्व पहले होकर द्वित्व हो तो 'मा भवान् आटिटत्' रूप होगा। यदि पहले द्वित्व होगा तो द्वित्वोत्तर पर के व्यवधान मे ह्रस्व की प्राप्ति न होने से 'मा भवानाटिटत्' रूप होगा। इस पद में 'मा भवानाटिटदिति भवितव्यम्' ऐसा भाष्य में कहा गया है । इसका अभिप्राय यह था कि पहले द्वित्व ही होगा। द्वित्व के बाद ह्रस्व की प्राप्ति न होने से मा भवानाटिटत् यही प्रयोग हो सकेगा । यदि कहो कि द्वित्वापेक्षया परत्वात् ह्रस्व ही होगा । द्वित्व नहीं होगा तो ह्रस्वापेक्षया भी नित्यत्वेन बलवान् होकर द्वित्व ही प्रसक्त है। क्योंकि द्वित्व ह्रस्व के करने तथा न करने पर उभयथा प्राप्त होने से कृताकृत प्रसङ्गित्वेन नित्य है। उपधा ह्रस्वापेक्षया अन्तभूतनिमित्तकत्वेन अन्तरङ्ग भी है। इस तरह 'मा भवानाटिटत्' यही प्रयोग प्रसक्त हो रहा है । किन्तु यह इष्ट नहीं है। इसलिए प्रकृत ज्ञापन का आश्रयण करते हुए ह्रस्व को बलवान् बोधन किया गया है— **एवं तर्ह्याचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति द्विर्वचनाद्ध्रस्वत्वं बलीय इति यदयं मोणिभृदितं करोति।** इसका अभिप्राय यह है कि 'ओणृ अपनयने' धातु को ऋदित् पढ़ा गया है । ऋदित्करण का प्रयोजन यह है कि ण्यन्त ओण धातु से लुङ् चङ् में ओणि अत् इस अवस्था में 'णौ चङ्युपधाया ह्रस्वः' सूत्र से प्रसक्त उपधा ह्रस्व का 'नाग्लोपिशास्वृदिताम्' सूत्र से निषेध किया जा सके। यदि यहां पहले ही द्विवर्चन किया जायेगा तो पर के व्यवधान होने पर ह्रस्व की प्रसक्ति ही नहीं होगी। तन्निषेधार्थं ऋदित्करण व्यर्थ हो जायेगा। किन्तु आचार्य देख रहे हैं कि द्विर्वचनापेक्षया ह्रस्वत्व बलवान् है, इसीलिए 'ओणृ' को ऋदित् किया है। प्रकृत

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ज्ञापन के आश्रयण से ही ओण्ट का ऋदित्करण भी सार्थक हो रहा है। इस प्रकार मा 'भवान् 'अटिटत्' यही प्रयोग सिद्ध होता है।

१४. वृद्धेर्लोपोबलीयान्।

'णौ चङ्युपधाया ह्रस्वः' ७.४.१ सूत्र के भाष्य में एक वार्तिक पढ़ा गया है **'उपधाह्रस्वत्वे णे णिच्युम संख्यानाम्'** इस वार्तिक का अभिप्राय यह बताया गया है कि **'वाहितवन्तं प्रयोजितवान् अवीवदद वीणां परिवायकेन** प्रयोग की सिद्धि के लिए णिच् परक णि में भी उपधा ह्रस्व का उपसंख्यान करना चाहिए। **'वीणा अवादीत् परिवादकः प्रैरिरत्=इत्यर्थे परिवादको वीणामवीवदत्'**। वद धातु से 'हेतुमचि' सूत्र से णिच् प्रत्यय में लुङ् में अवादि+अत् इस अवस्था में णिलोप, उपधाह्रस्व द्वित्व अभ्यास कार्य होकर अवविदत् प्रयोग निष्पन्न होता है। तदनन्तर **'परिवादको वीणामवीवदत्, इतरः प्रैरिरत्'** इस अर्थ में वादि धातु से पुनः हेतुमण्णिच् करके 'णेरनिटि' सूत्र से प्रथम णि का लोप कर देने पर वादि धातु से लुङादि कार्य के अनन्तर अ वादि अत् इस अवस्था में चङ् परे रहते णिलोप हो जाने पर उपधा ह्रस्व की प्राप्ति प्रथम णि का व्यवधान होने के कारण नहीं हो रही है। अतः णिच् परक णि में भी उपधा-ह्रस्व का उपसंख्यान करना चाहिए। यही प्रकृत ग्रन्थ का तात्पर्य है। यदि कहो कि प्रथम णि का लोप हो जाने पर व्यवधान नहीं होगा तो यह ठीक नहीं है। क्योंकि ह्रस्व लक्षण पूर्व विधि मे णिलोप का स्थानिवत्भाव हो जाने से व्यवधान रहेगा ही। यदि यह कहो कि चङ् परक ह्रस्व विधि में स्थानिवद्भाव का निषेध कहा गया है। अतः यहाँ स्थानिवद्भाव नहीं होगा तो भी अग् लोपित्वेन 'नाग्लोपि शास्वृदिताम्' ७.४.२ सूत्र से ह्रस्व का निषेध तो हो ही जायेगा। प्रकृत प्रयोग सिद्ध नहीं हो सकेगा। यदि कहो कि प्रथम ण्यन्त वादि से द्वितीय णिच् होने पर 'णेरनिटि' से णिलोपापेक्षया परत्वाद् वृद्धि करने के बाद ही स्थानिवत्वात् प्रथम णि का लोप प्राप्त है। वृद्धि करने पर एक का ही लोप होगा। अतः अलोपित्व प्रयुक्त उपधा ह्रस्व का निषेध नहीं होगा। उक्त प्रयोग सिद्ध हो जायेगा। यह संभव नहीं है क्यों कि ज्ञापन वशात् वृद्ध्यपेक्षया लोप ही बलवान् हैं। इसी प्रसंग में प्रकृत ज्ञापन का उपन्यास किया गया— **एवं तर्हि आचार्य प्रवृत्तिर्ज्ञापयति वृद्धेर्लोपो बलीयानिति यदयं नग्लोपिनां नेति निषेधं शास्ति** भाव यह हुआ कि यदि वृद्धि करने पर ही णि का लोप होगा तो कहीं भी नग्लोपित्व संभव नहीं हो सकेगा ऐसी स्थिति 'अग्लोपि' में ह्रस्वत्व का निषेध ही व्यर्थ हो जायेगा। यही व्यर्थ होकर ज्ञापित कर रहा है कि वृद्ध्यपेक्षया णिलोप बलवान् है। अतः वृद्धि से पहले ही लोप होता है। यदि कहो अग्लोपि का निषेध वचन वृद्धि करने पर भी जहां अग्लोपित्व है वहां चरितार्थ हो रहा है अत्यनूराजत् प्रयोग में 'राजानमति क्रान्तवान्' इस विग्रह में 'राजन्' शब्द से **'प्रातिपदिकाद्धात्वर्थे'** से णिच् प्रत्यय करने पर 'अत उपधायाः' से वृद्धि होने पर भी टिलोप द्वारा अग्लोपित्व है ही। यहां उपधात्ह्रस्व के निषेधार्थ अग्लोपि में निषेध वचन चरितार्थ है तो जो अग्लोप में अक् प्रत्याहार का आश्रयण किया गया है। वह तो व्यर्थ हो ही जायेगा। अन्यथा अलोपि मात्र में ही निषेध कर देते। इस तरह प्रत्याहार द्वारा जो इ, उ के लोप को भी गृहीत किया गया वह वृद्धि की बलवत्ता में व्यर्थ हो ही जाता है। इस तरह वृद्धेर्लोपो बलीयान्

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह ज्ञापन सर्वथा निरवद्य ही है। इस तरह णिच् परक णि में ह्रस्व का उपसंख्यान आवश्यक ही होगा। यही भाष्य का अभिप्राय है।

१५. इत उत्तरं स्थानिवद्भावो न भवति।

'नाग्लोपि शास्वृदिताम्' ७.४.२ सूत्र के भाष्य में अग्लोपि ह्रस्वत्व निषेध के आनर्थक्य की आशंका की गई है। इसका तात्पर्य यह है कि — 'मालामाख्यत्' इत्यादि प्रयोगों में माला से **'तत्करोति तदाचष्टे'** सेणिच् प्रत्यय परे रहते टि लोप होने पर मालि धातु में अमालः अत् होने पर टिलोप के स्थानिवद्भाव से ही ह्रस्वत्व की प्राप्ति नहीं होगी। अग्लोपि में निषेध विधान क्यों किया गया ? यदि कहो कि जहां स्थानिवद्भाव की प्राप्ति नहीं है वहां ह्रस्वत्व के निषेधार्थ आवश्यक हो सकता है। अत्य राजत् आदि प्रयोगों में **राजानमतिक्रान्तवान्** विग्रह में 'राजन्' शब्द से 'प्रातिपदिकाद्धात्वर्थे' से णिच् प्रत्यय में टिलोप होने पर लुङ् में अति अराज् अत् इस अवस्था में उपधा ह्रस्व की व्यावृत्ति के लिए अग्लोपि निषेध है। क्यों कि यहां टिलोप अज्झलादेश है। अच् मात्रस्थानिक आदेश न होने के कारण स्थानिवद्भाव की प्रसक्ति नहीं होगी। तो यह कहना ठीक नहीं है, क्यों कि जैसे टिलोप लक्षण अज्झलादेश अजादेश न होने से स्थानिवद्भाव नहीं होता है वैसे ही 'राजन्' अन् का लोप अगनग्लोप होने के कारण अग्लोपित्व प्रयुक्त ह्रस्व निषेध भी नहीं हो सकता है। यदि अक्, अनक् दोनों का लोप होने पर भी अग्लोप मान कर ह्रस्वत्व निषेध किया जा सकता है तो अज्झलादेश होने पर भी अजादेश प्रयुक्त स्थानिवद्भाव भी हो ही सकता है। इस तरह अग्लोपिस्थान में स्थानिवद्भावेन ह्रस्वत्व नहीं होगा। अग्लोपि में ह्रस्व निषेध करना व्यर्थ ही है— इसी आक्षेप में प्रकृत ज्ञापन का उपन्यास किया गया है— **एवं तर्हि सिद्धे सति यदग्लोपिनां तेतिप्रतिषेधं शास्ति तज्ज्ञापयत्याचार्यः इत उत्तरं स्थानिवद्भावो न भवतीति**। भाव यह है कि अग्लोपि में ह्रस्वत्व निषेध उक्त रीति से व्यर्थ होकर ज्ञापित कर रहा है कि इससे उत्तर में स्थानिवद्भाव नहीं होता है। इस ज्ञापन का यह प्रयोजन होगा कि **'पूर्वत्रासिद्धे न स्थानिवत्'** जो यह वचन पढ़ा जा चुका है वह नहीं करना पड़ेगा। यद्यपि ऐसा ज्ञापित होने पर 'आदीधकः', 'आवेवकः' प्रयोगों में दीधी, वेवी धातु से णिच् प्रत्यय में 'दीधीवेवीटाम्' गुणवृद्धि का निषेध होने के कारण दीधीङ् वेवीङ् से ण्वुल् प्रत्यय में णिलोप होने पर उसका स्थानिवद्भाव न होने के कारण इवर्ण परकत्वाभाव में 'यीवर्णयार्दीधीवेव्योः' सूत्र से लोप नहीं हो सकेगा तथापि 'यीवर्णयोः' यहां वर्ण ग्रहण सामर्थ्य से भूतपूर्व इ वर्ण को लेकर भी लोप हो जायेगा। प्रकृत ज्ञापन निरवद्य ही है।

१६. भवत्येषा परिभाषाङ्गवृत्ते पुनर्वृत्तावविधिः।

'रीङ ऋतः' ७.३.२७ सूत्र के भाष्य में विचार किया गया है कि ऋकार के स्थान में विधीयमान रीङ् आदेश को दीर्घ क्यों पढ़ा गया है यदि कहो कि 'मात्रीयति' 'पित्रीयति' प्रयोगों मे मातृ शब्द पितृ शब्द से 'क्यच्' प्रत्यय में दीर्घ सिद्धि के लिए दीर्घ पढ़ा गया है तो दीर्घ की सिद्धि 'अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः' सूत्र से ही दीर्घ सिद्ध हो जायेगा। रीङ में दीर्घोच्चारण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्यर्थ है। इसी आक्षेप पर यह ज्ञापन उपन्यस्त हुआ है— **एवं तर्हि सिद्धे सति यद्दीर्घोच्चारणं करोति तज्ज्ञापयत्याचार्यो भवत्येषा परिभाषा अङ्गवृत्तेपुनर्वृत्तावविधि निष्ठितस्य'** भाव यह है कि उक्त रीति से यही दीर्घोच्चारण ज्ञापित कर रहा है कि अङ्गाधिकारी कार्य करने पर पुनः पुनः अङ्गाधिकारी कार्य नहीं होता है। इस ज्ञापन का यह प्रयोजन होगा कि 'पिबति' प्रयोग में जो 'पा' धातु के स्थान में 'पिब' आदेश होने पर पुनः अङ्गाधिकारी कार्य लघुपध गुण प्रवृत्त नहीं होगा। इसलिए एतदर्थ जो गुणनिषेध वचन पढ़ा गया है, वह नहीं करना पड़ेगा। यह ज्ञापन 'ज्यायादीयसः' 'ज्ञाजनोर्जा' सूत्रों पर भी व्याख्यात हुआ है। परिभाषेन्दुशेखर में भी नागेश भट्ट द्वारा व्याख्यात है।

१७. भाषायामर्तेः श्लुर्भवति।

'अर्तिपिपर्त्योश्च' ७.४.७७ सूत्र के भाष्य में यह विचार किया गया है कि इस सूत्र में अर्ति अर्थात् ऋ धातु का ग्रहण क्यों लिया गया है। जब कि ऋ धातु छान्दस होने से 'बहुलं छन्दसि' ७.४.७२ सूत्र से ही यहाँ अयास को इत्व सिद्ध होगा। भाव यह है कि ऋ, सृ गतौ जुहात्यादि में पढ़ा गया है। वहां घृ क्षरणादोप्त्योः से लेकर 'गा स्तुतौ, धातु पर्यन्त एकादेश धातु छन्द वेद में ही विहित है— **'घृप्रभृतय एकादशच्छन्दसि'** यह जुहोत्यादिगण का सूत्र है तदन्तः पाती ऋ धातु में 'बहुलं छन्दसि' ७.४.७८ सूत्र से ही सिद्धि संभव है। इस सूत्र में अर्तिग्रहण क्यों किया गया? इसी आक्षेप में प्रकृत ज्ञापन का उपन्यास किया गया है— **एवं तर्हि सिद्धे सति यदर्तिग्रहणं करोति तज्ज्ञापयत्याचार्यो भाषायामर्तेः श्लुर्भवति इति।** इसका भाव यह है कि यही एतत्सूत्रस्थ अति ग्रहण ही उक्त रीति से व्यर्थ होकर ज्ञापित कर रहा है कि 'ऋ' धातु से भाषा में भी श्लु प्रत्यय होता है। अर्थात् जुहोत्यादिगण पठित ऋ धातु भाषा में भी प्रयुक्त होती है। अत एव भाष्य में भी 'इयर्ति' प्रयोग 'ऋ' धातु से लट् के तिप् प्रत्यय में शप् को श्नु होने पर द्वित्व अभ्यास को 'उरत्' सूत्र से अत्व होने पर इस सूत्र से इत्व तथा 'अभ्यासस्यासवर्णे' सूत्र से 'इयङ्' आदेश होने पर **'इयर्ति'** प्रयोग सिद्ध हुआ। इस ज्ञापन के रहने पर भाषा में प्रयुज्यमान ऋ धातु में 'बहुलं छन्दसि' सूत्र की प्रवृत्ति संभव नहीं है। अतः अतिग्रहण स्वांश में चरितार्थ हो गया।

१८. किदन्तस्याभ्यासस्यालोन्त्यविधिर्न भवति।

'दीर्घो कितः' ७.४.८३ सूत्र के भाष्य में इस सूत्र के 'अकिद्ग्रहण' को लेकर कहा गया है कि **'अकिद्ग्रहणं शक्यमकर्तुम्'** इसका भाव यह है कि 'दीर्घो कितः' सूत्र द्वारा अकित् अभ्यास अच् को दीर्घ विधान किया गया है। इस तरह अकिद्ग्रहण न होने पर **'पंपम्यते,' रंरम्यते** प्रयोगों में 'यम्,' 'रम्' धातु से यङ् प्रत्यय में द्वित्व तथा अभ्यासकार्य होने पर 'नुगतो नुनासिकान्तस्य' सूत्र से अभ्यास को नुक् का आगम हो जाने पर 'यंयम्य, रंरम्य इस अवस्था, में इस सूत्र से दीर्घ प्रसक्त होता है। उसकी निवृत्ति के लिये यहाँ अकिद् ग्रहण किया गया है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अकिद्ग्रहण करने पर कित् नुगागम से विशिष्ट अभ्यास कित् हो गया है। अतः यहां 'अकितः' निषेध द्वारा दीर्घ निषिद्ध हो जाता है। 'यंयम्यते,' आदि प्रयोग सिद्ध होते हैं। किन्तु 'दीर्घो कितः' सूत्र में दीर्घ श्रुति से 'अचः' परिभाषा की उपस्थिति होने से अजन्त अभ्यास के अन्त्य अल् को ही दीर्घ इस सूत्र से दीर्घ प्राप्त होगा। 'यंयम्यते' आदि प्रयोगों में नुगागम हो जाने के बाद अभ्यास अजन्तत्वाभाव से ही दीर्घ प्रसक्त नहीं होगा। इसकी निवृत्ति के लिए इस सूत्र में अकिद्ग्रहण अनावश्यक ही है। यही इस भाष्य का तात्पर्य है। इसी आक्षेप के समाधान में प्रकृत ज्ञापन का उपन्यास किया गया है— **अकिद्वचनं क्रियते ज्ञापकार्यम् किं ज्ञाप्यम् ? एतज्ज्ञापयत्याचार्योऽन्यत्र किदन्तस्यभ्यासस्यलोऽन्त्य विधिर्न भवति इति।** इसका भाव यह कहना है कि यही अकिद्वचन उक्त रीति से व्यर्थ होकर यह ज्ञापित कर रहा है कि अन्यत्र किदन्त अभ्यास में 'अलोऽन्त्यस्य' परिभाषा प्रवृत्त नहीं होती है अत एव 'चच्छसुः' 'चच्छुः' प्रयोगों में छो, छेदने धातु के लिट् लकार के तस् झि प्रत्ययों में छा अतुस् छा+उस् यहां द्वित्व तथा अभ्यास कार्य करने पर चा, छा+अतुस् का छा+उस् इस अवस्था में अन्तरङ्गत्वात् 'दीर्घात्' सूत्र से कित् तुगागम हो जाने पर भी 'ह्रस्वः' सूत्र से अभ्यास हो ह्रस्व होकर चच्छतुः, चच्छुः प्रयोग निष्पन्न होता है। अन्यथा यहां तुक् हो जाने पर अभ्यास के अजन्तत्वाभाव से ह्रस्व नहीं प्रसक्त हो सकता था इसी तरह अनेक प्रयोगों में अभ्यास कार्यों की सिद्धि के लिए यह ज्ञापन आवश्यक है तदर्थं अकिद्ग्रहण किया गया है। वस्तुतः 'दीर्घोऽकितः' आदि सूत्रों में अचः' परिभाषा के उपस्थित होने पर भी विशेषण–विशेष्य भाव में कामचार होने के कारण 'अभ्यासावयव जो अच्' इस क्रम से व्याख्यान करने पर 'यंयम्यते, इत्यादि प्रयोगों अभ्यासावयव अच् को दीर्घ प्राप्त होगा ही। तद्व्यावृत्त्यर्थ इस सूत्र में दीर्घ ग्रहण आवश्यक ही है। ज्ञापनार्थ नहीं कहा जा सकता है। इस क्रम से व्याख्यान करने पर चच्छतुः प्रयोगों में 'ह्रस्वः' सूत्र से नुगागम हो जाने पर भी ह्रस्व की प्राप्ति निर्बाध ही है। इस ज्ञापन का कोई अनन्यथासिद्ध प्रयोजन भी नहीं है। इस तरह यद्यपि 'दीर्घोऽकितः' सूत्र में अकिद्वचन 'यंयम्यते' आदि प्रयोगों में दीर्घ निषेधार्थ आवश्यक हो रहा है। तथापि नुगागम के दीर्घसदा अपवाद होने से नुगागम के विषय में दीर्घ की प्रवृत्ति नहीं होगी। अकिद्वचन अनावश्यक ही है। क्यों कि अवश्य प्राप्ति में ही नुगागम का विधान किया गया है। **'येन नाप्राप्तौ यो विधिरारभ्यते स तस्य बाधको भवति'** इस न्याय से नुगागम दीर्घ का अपवाद है। अपवाद के विषय में उत्सर्ग शास्त्र की प्रवृत्ति नहीं होती है। ऐसी स्थिति में सूत्र में अकिद्वचन क्यों किया गया ? इसी आक्षेप को हृद्गत कर द्वितीय ज्ञापन का उपन्यास किया गया है। **एवं तर्हि सिद्धे सति यदकित इति प्रतिषेधं शास्ति तज्ज्ञापयत्याचार्यो—भवत्येषा परिभाषा—अभ्यास विकारेषु बाधका न बाधन्त इति।** भाव यह है कि यही अकिद्वचन उक्त रीति से व्यर्थ होकर ज्ञापित कर रहा है कि अभ्यास संबन्धी कार्यों में बाध्यबाधक भाव नहीं होता है। इस ज्ञापन की अनेक आवश्यकता 'गुणो यङ्लुकोः' सूत्र के भाष्य में बताई गई हैं। जैसे 'अचीकरत् अजीहरत्' इन प्रयोगों में सन्वद्भाव का बाध 'दीर्घोलघोः' सूत्र द्वारा नहीं हुआ है। इसी तरह 'अजीगणत्' प्रयोग में 'ई च गणः' सूत्र से 'हलादिः शेषः' का बाध नहीं हुआ है। इसी तरह 'मानवधदानूशान्भ्यो दीर्घश्चाभ्यासस्य' सूत्र द्वारा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विहित दीर्घत्व से 'मीमांसते' इत्यादि प्रयोगों में 'सन्यतः सूत्र' विहित इत्व का बाध नहीं हुआ है। इस तरह इस परिभाषा के ज्ञापनार्थ ही इस सूत्र 'दीर्घोऽकितः' सूत्र में अकिद्ग्रहण किया गया है। यही भाष्यकार का तात्पर्य है।

२०. भवत्येवं जातीयकानामित्वम्।

'सन्वल्लघुनि चङ्परे ऽनग्लोपे' सूत्र के भाष्य में विचार किया गया है कि 'अजजागरन्' प्रयोग में सन्वद्भाव क्यों नहीं हुआ। इसका भाव यह है कि 'जागृ निद्राक्षये' जागृ धातु से णित् प्रत्यय करने पर जागादि धातु लुङ् लकार में तिबादि कार्य होने पर णिलोपः तथा उपधाह्रस्व के अनन्तर अजजागर्+अत् इस अवस्था में सन्वद्भाव क्यों नहीं हुआ। इसके समाधान में कहा गया है कि चङ् परक णि परे रहते जो लघु हो, तत्परक अभ्यास को सन्वद्भाव होता है। चङ्परक णि परे रहते जो लघु 'ग' घटक अ है, तदव्यवहित पूर्व अभ्यास नहीं है किन्तु जा से व्यवहित हो गया है। इसलिए यहां सन्वद्भाव नहीं होता है। इस पर यह आशंका होती है कि इस तरह 'अचीकरत्' 'अजीहरत्' आदि प्रयोगों में भी अच कर् अत् अजहर् +अत् इस अवस्था में चङ्परक णि परे रहते जो लघु 'क' घटक, 'ह' घटक अकार है वह भी क्, ह् से व्यवहित है। यहां भी सन्वद्भाव नहीं होना चाहिए ? इस शंका के समाधान में कहा गया है कि **'येन नाव्यवधानं तेन व्यवहितेऽपि'** इस न्याय से एकवर्ण का व्यवधान अपरिहार्य होने से यहां व्यवहित में भी सन्वद्भाव होगा किन्तु 'अजजागरत्' में वर्ण समुदाय 'जा' के व्यवधान में सन्वद्भाव नहीं होगा। इस पर पुनः शंका हुई कि इस तरह 'अचिक्षयात्' प्रयोग में भी सन्वद्भाव नहीं प्राप्त होगा। क्यों कि यहां भी अच+क्षण्+अत् इस अवस्था में चङ्परक णि परे रहते लघु क्षघटक 'ह' है वह भी क्ष वर्णसंघात से व्यवहित होने के कारण अभ्यास को सन्वद्भाव नहीं होगा ? इसी शंका के समाधान में प्रकृत ज्ञापन का उपन्यास किया गया है— **'एवं तर्ह्याचार्य प्रवृत्तिर्ज्ञापयति—भवत्येवं जातीयकानामित्वम् इति यदयंमत्स्मृहृत्वा प्रथम्रतस्तृस्पशामितीत्वबाधनार्थमत्वं शास्ति**। भाव यह है कि 'अस स्मरत्' इत्यादि प्रयोगों में सन्वद्भावेन प्राप्त 'सन्यतः' सूत्र से इत्व के बाधानार्थ जो 'अतस्मृ हृत्वर् प्रथम्रदस्तृस्पशाम्' सूत्र से अत्व का विधान किया गया है वही ज्ञापित करता है कि हल् वर्ण के समुदाय का व्यवधान होने पर भी लघु परक अभ्यास को सन्वद्भावेन इत्व होता ही है। अन्यथा 'अससरत्' प्रयोग में चङ्परक णि परे रहते जो लघु स्म घटक अ है वह उसके 'स्म' समुदाय के व्यवधान में होने से अभ्यास को सन्वद्भाव तथा इत्व प्राप्त ही नहीं था। तद्बाधनार्थ इस सूत्र से अत्व का विधान व्यर्थ ही हो जायेगा। इस तरह ज्ञापन आवश्यक तथा निर्बाध ही है।

२१. न द्विशब्द आदेशो भवति।

'सर्वस्य द्वे' ८.१.१ सूत्र के भाष्य में यह विचार गया है— **इदं तावदयं प्रष्टव्यः—नित्यवीप्सयोर्द्वे भवतः इत्युच्यते, 'द्वि' शब्द आदेशः कस्मान्न भवति। इसका** तात्पर्य यह कहना है कि 'सर्वस्य द्वे' सूत्र के अधिकार 'में पठित नित्यं वीप्सयोः' ८.१.२ सूत्र का यह अर्थ होगा कि नित्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एवं वीप्सा अर्थ की विवक्षा में संपूर्ण पद को द्वित्व होता है। इस तरह संपूर्ण पद के स्थान में द्वि शब्द ही आदेश क्यों नहीं होता है ? इसी शंका के समाधान में इस प्रकृतज्ञापनका उपन्यास किया गया है— **आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति न द्विशब्द आदेशो भावतीति—यदयं तस्य परमाम्रेडितम् अनुदात्तं चेत्याह।** इसका भाव यह है कि यदि संपूर्ण पद के स्थान में 'द्वि' शब्द आदेश किया जाये तो एकाच् द्वि शब्द एक ही पद होगा। उसमें कोई पर अच् संभव नहीं है जिसको अनुदात्त प्राप्त हो अथवा एक ही द्वि शब्द का कोई पर अवयव भी नहीं है, जिसकी आम्रेडित संज्ञा होगी। किन्तु पर अवयव की आम्रेडित संज्ञा की गई है तथा पर अवयव को अनुदात्त स्वर विधान किया गया है। इससे यही ज्ञात हो रहा है कि आचार्य देख रहे हैं कि 'द्वि' शब्द आदेश नहीं होता है। इसीलिए यहां आम्रेडित संज्ञा तथा अनुदात्त का विधान किया गया है। यदि यह कहो कि यदि **द्वि** शब्द आदेश नहीं होता है तो क्या होता है जो द्वि शब्द से कहा जायेगा। तो यह **द्वि** शब्द संख्या शब्द है। **इसका संख्येय होता है**। इस तरह द्वित्व संख्या विशिष्ट दो पद होता है न कि द्वि शब्द आदेश प्रसक्त होगा।

२२. भवत्येवं जातीयकेभ्यस्तद्धितोत्पत्तिः।

'सर्वस्य द्वे' सूत्र के भाष्य में यह बताया गया कि षष्ठी निर्देशार्थ सर्वग्रहण यहां करना आवश्यक है ताकि षष्ठीनिर्दिष्ट के स्थान में द्विर्वचन विधीयमान हो अन्यथा 'द्वे' मात्र सूत्र करने से उच्चारण क्रिया का अध्याहार कर '**शब्दस्य द्व उच्चारणे भवतः**'— इस तरह की व्याख्या से **द्विः** प्रयोग मात्र ही विहित होगा। इस तरह '**आम् पचसि चिसि देवदत्तः**'— इस प्रयोग में एकान्तरता नहीं होगी। भाव यह है कि **आम् पचसि पचसि देवदत्तः** प्रयोग में आम् से उत्तर 'पचसि' शब्द का 'नित्यंवीप्सयोः' से द्वित्व होने पर एकान्तर आष्टमिक 'आमन्त्रितस्य च' सूत्र द्वारा आमन्त्रितान्त देवदत्त को निघात प्राप्त होने पर '**आम एकान्तरभामन्त्रितमनन्ति के**' सूत्र द्वारा होगा।

२३. प्रतिषेधं शास्ति तज्ज्ञापयत्याचार्योऽनन्त्यस्याप्यनुदात्तत्वं भवति।

इसका अभिप्राय यह है कि 'गत्यर्थलोटाल्लृणनचेत्कारकं सर्वान्यत्' ८.१.५१ सूत्र से '**आगच्छ देव ग्राम द्रक्ष्यसि**' प्रयोग में लृडन्त के निघात का निषेध किया जाता है। सभी लृडन्त लसार्वधातुकानुदात्तक होने के कारण मध्योदात्त है। यदि 'अलोऽन्त्यय' परिभाषा से अन्त को ही निघात हो तो लृडन्त में निष्प्रयोजनता' 'तिङ्तिङः' ८.१.२८ सूत्र की प्रवृत्ति तथा उसका निषेध व्यर्थ ही है। इस तरह यहीं लृन्त के निधात का निषेध व्यर्थ होकर ज्ञापित कर रहा है कि अन्त्य को भी निधात नहीं होता है। यदि कहो कि 'भोक्ष्ये' यह लृन्त 'एकादेश उदात्तेनोदात्तः' सूत्र से एकादेशोदात्तकत्वेन अन्तोदात्त है। यहां प्राप्त निघात की व्यावृत्ति के लिए निषेध सार्थक है। उक्त ज्ञापन संभव नहीं होगा तो यह कहना ठीक नहीं है। सर्वग्रहण के अभाव में भी अनुदात्त विधि में अवयव षष्ठी मानने से भी निर्वाह हो जायेगा। सर्वग्रहण अनावश्यक ही है। भाष्यकार ने कहा है '**ननु चेदमस्ति भोक्ष्य इति**' ? **उक्तम् वा किमुक्तम्। न वा पदाधिकारस्य विशेषणत्वादिति।**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

२४. भवत्यत्र नाऽभावः ।

'नमुने' ८.२.३ सूत्र के भाष्य में यह विचार किया गया है कि यदि इस सूत्र का यह अर्थ किया जाये कि न परे रहते तो कार्य प्राप्त हो उसके प्रति नुभाव असिद्ध नहीं होता है तो 'अमुना' प्रयोग में ना भाव ही प्राप्त नहीं होगा। यदि कहो कि इस परिस्थिति में 'न मुटा देशे' ऐसा सूत्र करेंगे तो यदि टा के स्थान में आदेश करने में मुभाव को असिद्धि की प्रतिषेध करोगे तो टा में आदेश परे रहते जो कार्य प्राप्त है उसी के प्रति असिद्धि का निषेध नहीं होगा। ऐसी स्थिति में 'अमुना' प्रयोग में 'सुपि च' सूत्र द्वारा दीर्घ प्राप्त होने लगेगा। यदि कहो कि दोनों समास 'टाया' आदेशे 'टायाम्' आदेशे=टादेशे इस तरह स्वीकार करेंगे तो भी सूत्र भेद हो ही जायेगा। इस आक्षेप पर न्यास की यथास्थिति ही स्वीकार कर दोष का परिहार ज्ञापन के आश्रयण से किया जा रहा है, **नैष दोषः—इहेङ्गितेन चेष्टितेन निमिषितेन महता वा' सूत्र निबन्धेनाचार्यामभिप्रायो लक्ष्यते। एवदेव ज्ञापयत्याचार्यो भवत्यत्र ना भाव इति यदयं ने परतो, सिद्धत्वं प्रतिषेधं शास्ति।** भाव यह है कि 'नमुने' सूत्र से न परे रहते जो असिद्धत्वाभाव का ज्ञापन किया गया है यही ज्ञापित कर रहा है कि यहाँ 'आङ्गोनास्त्रियाम्' सूत्र से 'नाभाव' होता है। यदि नाभाव न होता तो न शब्द परे रहते असिद्धत्व की प्रसक्ति कहाँ होती जिसका निषेध किया जाता। इस तरह यहां कोई दोष प्रसक्त नहीं है।

अनोदरप्यनुदात्तत्वम् भवति। अनन्त्याप्यनुदात्तत्वं भवति।

'अनुदात्तं सर्वमपादादौ' ८.१.१८ सूत्र के भाष्य में एतत्सूत्र घटक सर्व ग्रहण के प्रयोजन पर विचार किया गया है। समाधान में कहा गया है **सर्ववचनमनादेरनुदात्तर्थम्'** इसका भाव यह है कि यदि सर्वग्रहण नहीं किया गया होता तो 'पदात्' का अधिकार होने से 'आदेः परस्य' परिभाषा की उपस्थिति द्वारा पर के आदि को ही अनुदात्त प्राप्त होने लगेगा। ऐसी स्थिति में 'देवदत्तः पचति'—इस प्रयोग में पचति धातु स्वर से आद्युदात्त होने के कारण 'तिङतिङः' सूत्र से अनुदात्तत्व की प्राप्ति होगी। किन्तु 'देवदत्तः करोति' प्रयोग में करोति 'उ' प्रत्यय को लेकर मध्योदात्त है। यहाँ 'तिङतिङः' सूत्र निष्प्रयोजनतया प्राप्त नहीं होगा। इसलिए सर्वग्रहण आवश्यक है। ताकि संपूर्ण पद को अनुदात्त विधान हो सके। इस तरह सर्वग्रहण का प्रयोजन सिद्ध होने पर भी उसको अन्यथासिद्ध करने के लिए ज्ञापन का उपन्यास किया गया है— **'लुटिंप्रतिषेधात्सिद्धम्' यदयं लुटि प्रतिषेधं शास्ति तज्ज्ञापयत्याचार्योऽनादेरप्यनुदात्तत्वं भवतीति।** इसका भाव यह है कि 'न लुट्' सूत्र द्वारा श्वः **कर्ता** इत्यादि प्रयोगों में लुडन्त के निघात का निषेध किया गया है। यदि 'आदेः परस्य' परिभाषा द्वारा आदिक अच् को ही निघात प्राप्त होता तो लुडन्त के निघात का निषेध व्यर्थ हो जाता। क्योंकि लुडन्त में 'तास्यनुदात्तेन्ङिदुपदेशाल्लसार्वधातुकमनुदात्तमह्विङ्गो' सूत्र से तास् से परे ल सार्वधातुक के अनुदात्त होने से टिलोप के विषय में कर्ता आदि लुडन्त उदात्तनिवृत्तिस्वर से आतोदात्त है 'कर्तारौ' इत्यादि मध्योदात्त है, इस तरह आदि में निघात का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ही प्रसंग होने के कारण 'तिङतिङः' की प्रसक्ति तथा उसके निषेधार्थ 'न लुट्' सूत्र व्यर्थ हो है। यही निषेध व्यर्थ होकर ज्ञापित कर रहा है कि आदि को निघात नहीं होता है। इसलिए सर्वग्रहण के अभाव में भी कोई दोष नहीं होगा। यही इस ग्रन्थ का तात्पर्य है। इस पर यह शंका होती है कि इस तरह आदि की व्यावृत्ति होने पर भी अलोऽन्त्यस्य परिभाषा द्वारा अन्त्य अल् को ही निघात प्रसक्त होगा। इस तरह 'देवदत्तयज्ञदत्तौ कुरुतः' प्रयोग में 'कुरुतः' स्वर से अन्तोदात्त होने के कारण यहां 'तिङतिङ' सूत्र से निघात की प्राप्ति होगी किन्तु 'देवदत्तः करोति' प्रयोग 'करोति' मध्योदात्त होने के कारण 'तिङतिङः' सूत्र निष्प्रयोजनतया प्रवृत्त नहीं होगा। अतः सर्व-ग्रहण आवश्यक ही है। ताकि समस्त तिङन्त का निघात सिद्ध हो सके। इस तरह सर्वग्रह की आवश्यकता सिद्ध होने पर भी उसकी अन्यथा सिद्ध करने के लिए पुनः ज्ञापन का आश्रयण किया गया है — **'लृटिप्रतिषेधात्सिद्धम् — यदयं लृटि निषेध होकर** षाष्ठ 'आमन्त्रि-तस्य' सूत्र द्वारा आद्युदात्त होता था। यदि द्विः प्रयोग होगा तो यह पद मध्य में आज ने के कारण एकान्तरत्व के अभाव में यहाँ आष्टमिक निघात का निषेध नहीं होगा। इसी तरह 'पुनः पुनः भवः' विग्रह में पौनापुनिकः प्रयोग में द्विः प्रयोग पक्ष में 'पुनः पुनः' शब्द रूप से भवार्थ में 'कालाट्ठञ्' सूत्र से ठञ् प्रत्यय नहीं होगा। स्थाने द्विर्वचन पक्ष में एक पद के स्थान में द्विर्वचन होने पर भी स्थानिवद्भावेन एकपदत्व लाकर सभी कार्य हो सकते हैं। इस तरह स्थाने द्विर्वचनपक्ष में संभावित दोषों का निराकरण कर 'स्थानेद्विर्वचनम्' पक्ष सिद्धान्ति कर दिया गया। एतदनन्तर 'द्वि' प्रयोग पक्ष की भी उपपादनयिता दिखाते हुए भाष्य में कहा गया कि अथवा 'पुनरतु द्विः प्रयोगो द्विर्वचनम्'। अर्थात् द्विः प्रयोग पक्ष भी हो सकता है। यदि कहो कि 'आम् पचसि पचसि देवदत्त ३' इस प्रयोग में एकान्तरत्व प्रयुक्त आष्टमिक निघात का प्रतिषेध नहीं होगा तो ऐसा नहीं हो सकता क्यों कि द्विः प्रयोग पक्ष में भी पच् धातु है आदि में जिसके ऐसा तद्धित प्रत्य-यान्त समुदाय 'पचति पचति' समुदाय है ही। इस तरह पचति पचति, समुदाय की भी पद संज्ञा हो सकती है। एकपदत्व की हानि नहीं होगी। यदि कहो कि द्विः प्रयोग पक्ष में पौनः पुनिकः प्रयोग कैसे बनेगा ? क्योंकि सुबन्त से तद्धित प्रत्यय होता है। सुबन्त समुदाय से तद्धित प्रत्यय कैसे होगा तो यह कहना भी अकिंचित्कर है। पूर्वोक्त रीति से पुनः पुनः समुदाय को भी समर्थ विभक्त्यन्त मान कर प्रत्यय होने में कोई वाधा नहीं है। यदि कहो कि **'प्रातिपदिकात्तद्धितोत्पत्तिः'** इस पक्ष में यहाँ कैसे तद्धित प्रत्यय होगा। प्रातिपदिक समुदाय तो प्रातिपदिक नहीं हो सकता तो इस पक्ष में प्रकृत ज्ञापन के आश्रयण से दोष की व्यावृत्ति की गई है— **अथवाचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञा-पयतिभवत्येवं जातीयकेभ्यस्तद्धितोत्पत्तिरिति यदयं कस्कादिषु कौतस्कुत शब्दं पठति।** भाव यह है कि 'कुतः कुत आगमतः' इस विग्रह में कुतः कुत समुदाय से 'तत आगतः' सूत्र से अण्×प्रत्यय में पूर्वपद घटक विसर्ग के स्थान में स्वरादेश विधानार्थ जो कस्कादिगण में 'कौतस्कुतः' शब्द का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पाठ किया गया है यही ज्ञापित कर रहा है कि द्विरुक्त प्रातिपदिक से भी तद्धितोत्पत्ति होती है अन्यथा 'कौतस्कुतः' इस अणन्त शब्द का पाठ कस्कादिगण में अनुपपन्न हो जायेगा। इसी ज्ञापन से पौनः पुनिकः आदि प्रयोग निष्पन्न हो जायेंगे। द्विः प्रयोग पक्ष भी निर्बाध है यही भाष्यकार का अभिप्राय है।

२५. सिद्धः एकादेशस्वरः शतृस्वरे।

'स्वरितो वानुदात्ते पदादौ' सूत्र के भाष्य में एक वार्तिक पढ़ा गया है **'एकादेशस्वरोऽन्तरङ्गः सिद्धो वक्तव्यः'** इसका तात्पर्य यह है कि एकादेश प्रयुक्त 'एकादेशउदात्तेनोदात्तः' सूत्र विहित स्वर अन्तरङ्गत्वेन पहले ही प्रवृत्त होता है। इसके सिद्धत्व का विधान करना चाहिए। ताकि सपादसप्ताध्यायीस्थ कार्य करने में त्रिपादीस्थत्वेन यह असिद्ध न हो। इसके अनेक प्रयोजन भाष्य में दिखाए गए हैं। उन्हीं प्रयोजनों में एक प्रयोजन शतृ स्वर बताया गया है। 'तुदती' 'नुदती' प्रयोगों में तुद्, नुद् धातु से शतृ प्रत्यय करने पर 'तुदादिभ्यः शः' सूत्र से 'श' प्रत्यय करने पर तुद्+अत् नुद+अत् इस अवस्था में 'तास्यनुदात्ते ङिददुपदेशाल्लसार्वधातुकमनुदात्तमह्निवङोः' सूत्र से शतृ प्रत्यय अनुदात्त है। 'श' प्रत्यय प्रत्यय स्वर से उदात्त है। दोनों का 'अतोगुणे' सूत्र से पररूपैकादेश होने पर 'एकादेश उदात्तेनोदात्तः' से 'तुदत्' 'नुदत्' में दकारोत्तर अकार उदात्त है, तुदत्, नुदत् शब्द से स्त्रीत्व की विवक्षा में 'उगितश्च' सूत्र द्वारा ङीप प्रत्यय होने पर अन्त्योदात्त नुम रहित शतृप्रत्ययान्त से परे नदी तथा अजादि शसादिविभक्ति को उदात्त होता है, एतदर्थक 'शतुरनुमो नद्यजादी' सूत्र से ङीप् प्रत्यय को उदात्तत्व विधान होता है। यदि यहां एकादेश स्वर असिद्ध हो जाता है तो अन्तोदात्त शतृप्रत्ययान्त के अभाव में 'शतुरनुमोनद्यजादी' सूत्र विहित स्वर की प्राप्ति नहीं होगी। अतः शतृ प्रयुक्त स्वर कर्तव्य में एकादेश स्वर का सिद्धत्व विधान आवश्यक है। इस प्रयोजन को अन्यथासिद्ध करने के लिए प्रकृत ज्ञापन का उपन्यास किया गया है— **नैतदस्ति प्रयोजनम्। आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति सिद्ध एकादेशस्वरः शतृस्वरे इति। यदयमनुम इति प्रतिषेधं शास्ति।** इसका भाव यह है कि 'तुदन्ती', नुदन्ती' प्रयोग में 'आच्छीनद्योर्नुम्' सूत्र से विकल्प से नुम् होने पर अन्तोदात्तत्व की व्यावृत्ति के लिए अनुम् द्वारा निषेध विधान किया गया है। यदि एकादेश स्वर असिद्ध होता तो 'तुदन्ती' इत्यादि प्रयोगों में अन्तोदात्तत्वाभावादेव' अन्तोदात्त शतृ प्रत्ययान्तत्व प्रयुक्त नद्युदात्तत्व प्राप्त नहीं होता 'अनुमा' विशेषण द्वारा यहाँ प्रतिषेध विधान व्यर्थ ही है। यही 'अनुमः' द्वारा निषेध विधान ज्ञापित कर रहा है कि शतृ प्रयुक्त स्वर कर्तव्य में एकादेशोदात्तस्वर सिद्ध ही रहता है। यान्ती' 'वान्ती' इत्यादि प्रयोगों में भी या, वा धातु से शतृ प्रत्यय में प्रत्ययस्वरेण उदात्त होकर शेषनिघात स्वर से धातु के अनुदात्त हो जाने से एकादेशोत्तर ही सनम्क शत्रन्त अन्तोदात्त हुआ है। इस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लिए अनुम प्रतिषेध की ज्ञापकता सर्वथा निरवद्य ही है। इस तरह इस ज्ञापन से ही शतृस्वर का प्रयोजन अन्यथासिद्ध किया गया है।

उपसंहार

इस तरह महाभाष्य में उपन्यस्त ज्ञापकों का संकलन किया गया है। इस संकलन में महाभाष्य में उपन्यस्त समस्त ज्ञापकों के विवेचन का प्रयास किया गया है। जो ज्ञापन अत्यन्त महत्त्वहीन या अनावश्यक होंगे वही इस संकलन में नहीं लिखे गए हैं। इस संकलन में ज्ञापकों का विवेचन महाभाष्य के अनुसार किया गया है। महाभाष्य के अभिप्राय का कैयट तथा नागेश के अनुसार ही निर्णय किया गया है। नागेश कैयट से अतिरिक्त भट्टोजिदीक्षित, काशिकाकार, आदि आचार्यों के विचारों का भी अनुसरण किया है। इस विवेचन में ज्ञापकों का पूर्णविश्लेषण करते हुए उससे संबद्ध महाभाष्य की पंक्तियों की भी व्याख्या स्पष्ट की गई है। मैं समझता हूँ कि इन ज्ञापकों के विवेचन से व्याकरणशास्त्र की प्रक्रिया को सूक्ष्मता जानने वाले जिज्ञासुओं को अवश्य लाभ होगा। व्याकरण शास्त्र में ज्ञापकों का बहुत बड़ा महत्त्व है सूत्रकार का हृदय ज्ञापकों द्वारा ही स्पष्ट किया जा सकता है। **'अर्धमात्रा लाघवेन वैयाकरणाः पुत्रोत्सवं मन्यन्ते'** यह परिभाषित सूक्ति को ये ज्ञापक ही प्रमाणित करते हैं। इन ज्ञापक रूपी रत्नों को इस सूत्रार्णव से निकालने का श्रेय महर्षि 'पतंजलि महाभाष्यकार को ही है। अब तक महाभाष्योक्त समस्त ज्ञापक एकत्र संकलित नहीं थे। इसलिए इसके संकलन तथा विवेचन का प्रयास किया है। इसके विवेचन द्वारा व्याकरण की प्रक्रिया की गहराई का आभास स्वयं पाठक को होगा। आशा है यह ज्ञापक संकलन व्याकरण के विद्यार्थियों के लिए नितान्त उपयोगी सिद्ध होगा।

स्व. डा. निगम शर्मा स्मृति संग्रह
पूर्व अध्यक्ष संस्कृत विभाग
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ग्रन्थ-सूची

ग्रन्थ नाम	रचयिता	प्रकाशन स्थान
१—शब्द कौस्तुभ	भट्टोजिदीक्षित	बनारस चौखम्बा, बनारस
२—व्याकरण चन्द्रिका मन्दामन्जरिकार	विश्वेश्वर पाण्डेय	पर्वतीय ग्रन्थमाला, बनारस
३—शाकटायनकृत व्याकरण	शाकटायन	पूना ओरियन्टल पब्लिकेशन, पूना
४—परिभाषेन्दुशेखर	नागेश	चौखम्बा, बनारस
५—शब्देन्दुशेखर	नागेश	चौखम्बा, बनारस
६—कुचमर्दनी	जगन्नाथ	,, ,,
७—मनोरमा		,, ,,
८—लघु मन्जूषा	भट्टोजिदीक्षित	,, ,,
९—पाणिनिकालीन भारतवर्ष का इतिहास	वासुदेवशरण अग्रवाल	,, ,,
१०—गणरत्न महोदधि	महादेवगणि	वर्धमान प्रेस भागलपुर
११—काशिका टीकान्यास	आचार्य जिनेन्द्र	वारा.सं.वि.वि.अनुसंधानविभाग वाराणसी
१२ वेदांग प्रकाश	दयानन्द	प्राच्य विद्याप्रतिष्ठान अजमेर
१३—काशिकाटीका–पदमंजरी	हरदत्त मिश्र	वार. सं. वि. वि. अनुसंधान विभाग
१४—मुनित्रय चरितामृत	शिवनारायरग	वेंकटेश्वर, बम्बई।
१५—तत्वबोधिनि	ज्ञानेन्द्र सरस्वती	,, ,,
१६—वाक्यपदीयम्-रघुनाथटीका	भर्तृ हरि	निर्णयसागर बम्बई
१७—महाभाष्यप्रदीप और उद्योत	टीका नागेश कैयट ले० पतंजलि	,, ,,
१८—माधवीयाधातृवृत्ति	सायण	बनारस चौखम्बा
१९—व्याकरणशास्त्र का इतिहाहस तीनों भाग	युधिष्ठिर मीमांसक	मोतीलाल बनारस
२०—संस्कृत व्याकरणशास्त्र की दार्शनिक भूमिका	सत्यकाम वर्मा	दिल्ली
२१—संस्कृत व्याकरण का उद्भव और विकास	डॉ० सत्यकाम वर्मा	दिल्ली
२२—अमरकोप	ले० अमर सिह भानुजिदीक्षित टीका	चौखम्बा बनारस
२३—चारूदेवकृत पदमंजरी टीका	चारुदेव शास्त्री	लाहौर मोतीलाल बनारसीदास

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ग्रन्थ नाम	रचयिता	प्रकाशन स्थान
२४—वर्णोच्चारण शिक्षा	दयानन्द	पा० सं० महा० वि० सोनीपत
२५—अष्टाध्यायी ब्रह्मदत्त जिज्ञासु द्वारा संशोधित	पाणिनि	मोतीलाल बनारसीदास
२६—भाषावृत्ति	पुरुषोत्तमदेव	तारा पब्लिकेशन, वाराणसी
२७—प्राचीन भारतीय वैयाकरणों के ध्वन्यात्मक विचारों का विवेचनात्मक अध्ययन।	चारुदेव	मोतीलाल बनारसीदास सुन्दर बमलो रोड दिल्ली—७
२८—रूपावतारे धातुप्रत्यय प्रपंचिका		डायरेक्टर रिसर्च इन्स्ट्मेन्ट पूना
२९—लघुकाशिका	प्रणेता सुदर्शनाचार्य त्रिपाठी	वा०स०त्रि०वा०२प्रेस
३०—व्याकरण महाभाष्य	संशोधित कोल्हान्नाम्नी टीका, वासुदेव शास्त्री	ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टूमेन्ट, पूना—५
३१—पाणिनीयव्याकरणे प्रमाणसमीक्षा	रामप्रसाद त्रिपाठी	वारा० सं० वि० वि० प्रेस—२ वाराणसी—२
३२—परिभाषेन्दुशेखर हेमवती व्याख्या	नागेशकृत योगेश्वर शास्त्री	,, ,,
३३—परिभाषेन्दुशेखर	दुर्गाख्यव्याख्या हर्षनाथमिश्र	अमर प्रिंटिंग प्रेस ८/२५ विजय नगर, दिल्ली ?
३४—पाणिनीयव्याकरणशास्त्रे वैशेषिकतत्वमीमांसा	रामशरण शास्त्री	५३७, लाजपतराय मार्कट दिल्ली—५
३५—बृहच्छब्देन्दुशेखर	नागेशकृत सं० सीताराम शास्त्री	ज्योतिषप्रकाश प्रेस, वारा०
३६—प्रौढ मनोरमा	बृहच्छब्दरत्न लघुशब्दरत्न सं० सीताराम शास्त्री	बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी वाराणसी—५
३७—वाक्यपदीय तृतीय का०	हेलराज विरचित प्रकाशाख्य व्याख्या रघुनाथ शर्मा अम्बाकर्त्री व्याख्या	अनुसंधान संस्थान सम्पा० संस्कृत वि०वि०वाराणसी—२
३८—पाणिनीय प्रबोध:	गोपाल शास्त्री दर्शनकेसरी	,, ,, ,,
३९—संक्षिप्त धातुपाठ	,, ,,	,, ,, ,,
४०—प्राकृत प्राकश:	वररुचि एस०एन०	,, ,, ,,
४१—ज्ञापक संग्रह	नागेशकृत रामानुजाचार्य कृतविवृति समेत:	भारतीय विजयर्म प्रेस मद्रास—५
४२—वैयाकरणसिद्धान्त मंजूषा	नागेश भट्ट सम्पा० कालिका प्रसाद शुक्ल	तारा प्रिंटिंग बनारस
४३—वैयाकरण भूषण सारकी	कारिका टीका	हरिराम
४४—व्याकरण भूषण सारकी	कारिका टीका	कृष्णमिश्र हस्तलेख

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ग्रन्थ नाम	रचयिता	प्रकाशन स्थान
४५—मीमांसाश्लोक वार्तिक	कुमारिल भट्ट	
४६—तत्वबिन्दु	वाचस्पति मिश्र	
४७—स्फोट सिद्धि	मण्डन मिश्र	
४८—न्यायमंजरी	जयन्त भट्ट	
४९—शक्तशक्ति प्रकाशिका	जगदीश भट्टाचार्य	
५०—पदार्थतत्वनिरूपण	रघुनाथ शिरोमणि	
५१—स्फोटसिद्धि टीका	रामचन्द्रन्	
५२—ध्वन्यलोक लोचन	अभिनव गुप्त	

५३—भर्तृहरि ए क्रिटिकल स्टडी आल इण्डिया आरियन्टल कानफ्रेन्स १९३० चारुदेवशास्त्री

५४—द डेट आफ भर्तृहरि एण्ड कुमारिल भट्ट जनरल आफ बंगाल रायल एसियाटिक सोसायटी १८९३ के० बी० पाठक

५५—द ज्वाइन्ट आफ व्यू आफ वैयाकरणाज् जनरल आफ ओरियन्टल रिसर्च मद्रास वाल्यूम १८ पार्ट–२, १९५१ के० ए० सुब्रह्मण्यम् अय्यर

५६—फिलासफी आफ संस्कृत ग्रामर— प्रभातचन्द्र चक्रवर्ती

५७—द स्टडी इन द डाइलेक्टिक्स आफ स्फोट, जनरल आफ द डिपार्टमेन्ट आफ लेटर्स. १९३७—गौरीनाथ भट्टाचार्य

५८—वाचस्पतिज् क्रिटिसिज्म आफ स्फोटवाद जनरल आफ ओरियन्टल रिसर्च, मद्रास, वाल्यूम–६, १९३२

ग्रन्थ नाम	रचयिता	प्रकाशन स्थान
५९—एस० सूर्यनारायणशास्त्री इन्डिया एज नोन द पाणिनि		वासुदेवशरण अग्रवाल
६०—कश्मीर शैवागत में वाक् सनातन धर्मकालिज पत्रिका १९५५		डॉ० रामनरेश त्रिपाठी
६१—वाक्यपदीय विशेषत: आख्यातार्थ का अध्ययन		रामनरेश त्रिपाठी
६२—वाक्यपदीय पद्धति		वृषभदेव
६३—भावप्रदीप वाक्यपदीय ब्रह्मकाण्ड की टीका		सूर्यनारायण शुक्ल
६४—निरुक्त भाष्य		स्कन्द स्वामी
६५—यास्क निरुक्त		स्वामी ब्रह्म मुनि हरिद्वार।
६६—वैयाकरण भूषणसार	कोण्डभट्ट विरचित शंकरी व्याख्यायुक्त	आनन्दाश्रम मुद्रणालय
६७—वाक्यपदीय सम्बन्ध	वीरेन्द्र	विश्वेश्वरानन्द विश्वबन्धु
६८—समुद्देश्य हेलराजीय व्याख्या के प्रकाश में एक विवेचनात्मक अध्ययन।		संस्कृत भारती पंजाब विश्वविद्यालय शोध संस्थान साधु आश्रम होशियारपुर
७९—महाभाष्य भाग–५	गुरुप्रसाद शास्त्री सम्पादक	बनारस
७०—शिक्षासूत्र [पा.शि.सू.]	युधि०मीमाँसक सम्पा०	अजमेर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ग्रन्थ नाम	रचयिता	प्रकाशन स्थान
७१—पाणिनिय अष्टाध्यायी	पाणिनी	निर्णयसागर बम्बई
७२—महाभाष्य दीपिका	भर्तृहरि काल के वी० अभयंकर तथा आचार्य वी.पी.लिमये	पूना
७३ - वाक्यपदीयम् ब्रह्मस्वोपज्ञ वृति तथा वृषभदेवकी पद्धति टीका सहित	प्रो.के.एस. अय्यर	पूना
७४—वैयाकरण सिद्धान्त मंजूषा की कुंजिका टीका	दुर्बलाचार्य	चोखम्बा, बनारस
७५—अर्थ विज्ञान और व्याकरण दर्शन	कपिलदेव द्विवेदी	हिन्दुस्तान एकेडमी इलाहाबाद
७६—भाषातत्व और वाक्यपदीय	सत्यकामवर्मा	नई दिल्ली
७७—महाभाष्य दीपिका	त्रिपाठी	भर्तृहरि हस्तलेख
७८—महाभाष्य प्रदीपोद्योत भाग-२	अन्नभट्ट	
७९—सूक्ति रत्नाकर महाभाष्य की टीका	शेषनारायण	हस्तलेख
८०—कारकचक्र	पुरुषोत्तम देव	
८१—स्फोटवद	नागेश भट्ट	

—*—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar